आगम संस्थान ग्रंथमाला-: 34



समियाए धम्मे आरिएहिं पव्वइये

ज्ञाताधर्मकथांग का सांस्कृतिक अध्ययन

डॉ. शशिकला छाजेड़
(वर्तमान में साध्वी श्री प्रणतप्रज्ञाश्रीजी म.सा.)

सव्वत्थेसु समं चरे
सव्वं जगं तु समयाणुपेही
पियमप्पियं कस्स वि नो करेज्जा
सम्मत्तदंसी न करेइ पावं
सम्मत्त दिट्ठि सया अमूढे
समियाए मुनि होइ

आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

आगम संस्थान ग्रंथमाला : 34

ज्ञाताधर्मकथांग का सांस्कृतिक अध्ययन

डॉ. शशिकला छाजेड़

(वर्तमान में **साध्वी श्री प्रणतप्रज्ञाश्रीजी म.सा.**)

आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

पुस्तक :
ज्ञाताधर्मकथांग का सांस्कृतिक अध्ययन

लेखक :
डॉ. शशिकला छाजेड़
(वर्तमान में **साध्वी श्री प्रणतप्रज्ञाश्रीजी म.सा.**)

संस्करण : प्रथम 2014

मूल्य : 100/-

प्रकाशक :
आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर
राणाप्रतापनगर रोड, सुन्दरवास, उदयपुर (राज.)
फोन : 0294-2490717

मुद्रक :
न्यू युनाइटेड प्रिन्टर्स, उदयपुर
मो. : 98280 75628, 98294 33936

प्रकाशकीय

अर्धमागधी जैन आगम साहित्य भारतीय संस्कृति और साहित्य की अमूल्य निधि है। श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध द्वादशांगी में **ज्ञाताधर्मकथांग** का छठा स्थान है। ज्ञाताधर्मकथांग में विभिन्न कथाओं के माध्यम से जैन दर्शन, संस्कृति एवं समाज का व्यापक विवेचन उपलब्ध होता है।

डॉ. शशिकला छाजेड़ सम्प्रति **साध्वी श्री प्रणतप्रज्ञाश्रीजी म.सा.** ने अपने मुमुक्षु काल में जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं से '**ज्ञाताधर्मकथांग का सांस्कृतिक अध्ययन**' विषय पर शोध प्रबन्ध लिखा, जिस पर उन्हें वर्ष 2004 में पीएच.डी. की उपाधि से सम्मानित किया गया। अध्ययन के साथ ही आप वैराग्य अवस्था में थी, अध्ययन पूर्ण कर आपने रत्नत्रय के महान् आराधक परमागम रहस्यज्ञाता महावीर परम्परा के 82वें पाट पर विराजित **आचार्य श्री रामलाल जी म.सा.** से 28 जनवरी, 2007 को खिरकिया (म.प्र.) में **जैन भागवती दीक्षा** अंगीकार की। आपके साथ ही आपकी मातुश्री श्रीमती धन्नीदेवी छाजेड़ ने भी जैन भागवती दीक्षा अंगीकार की। सम्प्रति आप धनश्रीजी म.सा. नाम से जिनशासन की प्रभावना कर रही है।

आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर ने डॉ. शशिकला छाजेड़ के इस शोध प्रबन्ध को जनसाधारण के लिए उपयोगी मानते हुए प्रकाशित करने का निर्णय लिया। संस्थान द्वारा इस ग्रंथ के प्रकाशन का उद्देश्य जैन आगमों में सन्निहित विपुल ज्ञान-संपदा से श्रावक-श्राविकाओं, जैन धर्म एवं दर्शन पर शोध करने वाले शोधार्थियों एवं युवा विद्वानों को अवगत कराना है। संस्थान द्वारा अब तक जैन धर्म एवं दर्शन की विविध विधाओं से संदर्भित 33 पुस्तकों का प्रकाशन किया जा चुका है।

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशन के लिए हमें उदारमना **श्रीमती मघीदेवी धर्मपत्नी स्व. श्री मोहनलाल जी दुगड़, निवासी- जोरावरपुरा, नोखा** से सहयोग प्राप्त हुआ है, संस्थान आपके सहयोग हेतु सदैव आभारी रहेगा। ग्रंथ प्रकाशन में सहयोगी रहे सभी महानुभावों के प्रति आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान आभारी है।

निवेदक

आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

प्रकाशन सहयोगी परिचय

श्रीमती मघीदेवी धर्मपत्नी स्व. श्री मोहनलालजी दुगड़

जोरावरपुरा, नोखा

उदारता, धर्म व संस्कार मनुष्य जीवन की आदर्श त्रिवेणी है। जिन व्यक्तियों में यह समन्वय पाया जाता है उनका जीवन निश्चित रूप से धन्य है। अनंत पुण्यवाणी से मनुष्य जीवन प्राप्त होता है लेकिन उन्हीं मनुष्यों का जीवन धन्य है जो अपने जीवन के साथ–साथ अपने परिवार, समाज में लोककल्याण के कार्यों से सुवास उत्पन्न करते हैं। मारवाड़ की धरा सदैव ही ऐसे वीर–वीरांगनाओं की ऋणी रही है व उनको नमन करती है जो अपने क्रियाकलापों से दूसरों का जीवन धन्य करते हैं। ऐसे संस्कारों की धनी **श्रीमती मघीदेवी** का जन्म माता श्रीमती तक्कुदेवी की रत्नकुक्षी से पिता श्री भूरालालजी बुच्चा, छीला निवासी हाल नोखा के घर–आंगन में हुआ। माता–पिता से प्रदत्त संस्कारों की धरोहर को आगे लेकर बढ़ते हुए मघीदेवी का शुभविवाह श्री जुगराजजी दुगड़–श्रीमती गंगादेवी के सुपुत्र **श्री मोहनलालजी दुगड़** के साथ सम्पन्न हुआ। श्री मोहनलालजी दुगड़ अत्यंत ही धैर्यवान, सौम्य एवं हंसमुख प्रवृत्ति के धनी थे। आपने धर्मपत्नी पद को सार्थकता देते हुए अपने पति के प्रत्येक कार्य में कंधे से कंधा मिलाकर सच्ची सहधर्मिणी के दायित्व का निर्वहन किया।

श्रीमती मघीदेवी ने अपने जीवन में अनेक तप–त्याग एवं तपस्याएँ सम्पन्न किये। आपने अब तक के जीवनकाल में दो बार अठाई, नौ तेला, बेला, आयम्बिल, एकासन आदि अनेक तपस्याएँ की तथा 2 बार वर्षीतप की तपस्या सम्पन्न की। आपने 50 वर्ष की अवस्था में ही शीलव्रत के प्रत्याख्यान ले लिये। आपने आजीवन रात्रि भोजन व 5 तिथि पर हरी त्याग के प्रत्याख्यान ग्रहण किये हुए हैं। आप सदैव चारित्रात्माओं के दर्शन, सेवा लाभ हेतु तत्पर रहती हैं। आपकी सदैव यह भावना रहती है कि चारित्रात्माओं के प्रवचनों का जितना श्रवण किया जा सके या उनका जितना सानिध्य प्राप्त हो वही महालाभ है। आपके परिवार से 4 मुमुक्षुओं ने दीक्षा ग्रहण की हुई है। आपका सम्पूर्ण

परिवार पूर्ण संघनिष्ठ व शासननिष्ठ है। आपका परिवार श्री साधुमार्गी जैन संघ, नोखा के गौरवशाली परिवारों में गिना जाता है। आप नोखा संघ के प्रत्येक कार्य में बढ़–चढ़कर हिस्सा लेते हुए तन–मन–धन से सहयोग प्रदान करते हैं। आपका परिवार सदाचार व भाईचारे की एकता की मिशाल है।

धार्मिक सुसंस्कारों के साथ–साथ आपका सामाजिक जीवन भी बहुत ही अनुकरणीय एवं प्रेरणास्पद है। आप संयुक्त परिवार की धनी महिलारत्न है। आपने अपने कुशल व्यवहार से सम्पूर्ण परिवार को एकसूत्र में बांधे रखा हुआ है। आपके चार पुत्र व दो पुत्री सहित भरा–पूरा परिवार है। आपके प्रथम पुत्र–पुत्रवधु श्री भंवरलाल–सरोजदेवी अहमदाबाद में निवासरत हैं। जहाँ पर आपके फाईनेंस व नमकीन, पापड़, रसगुल्लों का व्यापार है। द्वितीय पुत्र–पुत्रवधु श्री महावीर प्रसादजी–राजूदेवी गुवाहाटी में निवासरत हैं। आपके खिलौने व ड्रेस मैटिरियल का व्यापार है। आपके तृतीय पुत्र–पुत्रवधु श्री राजेन्द्रकुमारजी–सरोजदेवी भी गुवाहाटी में ही निवासरत हैं। आपके ऑटो पार्ट्स का व्यापार है। चतुर्थ पुत्र श्री विनोदकुमारजी–समतादेवी गुवाहाटी में निवासरत हैं एवं आपका भी ऑटो पार्ट्स का व्यापार है।

आपके चारों पुत्र–पुत्रवधुएँ धर्म के प्रति अगाढ़ आस्था रखने वाले व हुक्मसंघ के प्रति सर्वतोभावेन श्रद्धानिष्ठ एवं समर्पित हैं। माता–पिता से प्रदत्त संस्कारों की पूँजी को लेकर आप अपने जीवन में निरन्तर आगे बढ रहे हैं। आप अपने माता–पिता की भावना को ध्यान में रखते हुए निरन्तर सामाजिक कार्यों, अनेक प्रवृत्तियों से संघ व समाज को लाभान्वित करते रहते हैं। आपने मातृ–पितृ की सेवा के संकल्प को अपने जीवन में धारण करते हुए मूलमंत्र बनाया हुआ है। आपने इसी भावना से ओत–प्रोत होकर प्रस्तुत कृति **"ज्ञाताधर्मकथांग का सांस्कृतिक अध्ययन"** के प्रकाशन हेतु अपनी स्वीकृति प्रदान की है।

आपके द्वारा प्रदत्त सुसंस्कारों की धरोहर को लेकर आगे बढ़ते हुए आपकी दोनों पुत्रियाँ–दामाद उच्छबदेवी–सुशीलकुमारजी सेठिया झझू निवासी हाल नोखा एवं स्नेहलता–प्रकाशचंदजी बैद–नोखा/गुवाहाटी भी अपने परिवार के संस्कारों की धरोहर को लेकर आगे बढ़ रही हैं।

आप द्वारा प्रदत्त सुसंस्कारों की छांव आपके पौत्र–पौत्रियों में भी समाहित है। आपके पौत्र–पौत्रवधु पंकज–समता, मनोज–चंचल, पवन, प्रवीण, अंजन, राहुल परिवार के आदर्शों को लेकर आगे बढ़ रहे हैं तथा संघ के प्रत्येक कार्य में बढ़–चढ़कर हिस्सा लेते है। पौत्रियां श्रीमती उर्मिला–राजेशजी बेताला, श्रीमती प्रमिला–मनीषजी दुधेड़िया, कोमल, रोशनी, श्वेता, सबीना, वर्षा, दौहित्र सुरेन्द्र, रिषभ, अभिषेक, हर्ष एवं प्रपौत्र हेमन्त, मौलिक आदि सभी परिवार की यश एवं कीर्ति को आगे बढ़ा रहे हैं।

वटवृक्ष की भाँति फैला हुआ यह सम्पूर्ण परिवार श्रमण भगवान महावीर के शासन के प्रति पूर्ण समर्पित रहते हुए समाज एवं संघ की इसी प्रकार सेवा करता रहे इन्हीं शुभ भावनाओं के साथ.....।

स्वकीयम्

आप्त पुरुषों की अमरवाणी की अनाविल एवं अवितथ अभिव्यक्ति का नाम है- आगम, जिसमें परम सत्य यानी चरम लक्ष्य (मोक्ष) की प्राप्ति का अवसर प्राणिमात्र को प्रदान किया गया है। तीर्थंकर द्वारा अर्थ रूप में भाषित एवं गणधरों द्वारा ग्रंथ रूप में ग्रंथित एवं आगमकारों द्वारा सम्पादित, संशोधित, विज्ञापित एवं प्रचारित साहित्य आगम है, जिसमें दो परम्पराएँ हैं- श्वेताम्बर और दिगम्बर। श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध द्वादशांगी में ज्ञाताधर्मकथांग का छठा स्थान है।

साहित्य की सर्वप्रिय विधा का नाम है- कहानी। मेरी भी बचपन से ही कथाओं में रूचि रही है। ज्ञाताधर्मकथांग इसी कारण मेरे अध्ययन का विषय बना।

ज्ञाताधर्मकथांग अर्धमागधी, प्राकृत की मिश्र गद्य शैली में विरचित है। विभिन्न कथाओं के माध्यम से जैन दर्शन, संस्कृति, समाज, राजनीति आदि का सुस्पष्ट विवेचन जैसा ज्ञाताधर्मकथांग में उपलब्ध होता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

मुझे इसके पठन (शोध नहीं) के पश्चात् लगा कि इसमें वर्णित विभिन्न सांस्कृतिक आयामों को जनसामान्य के समक्ष प्रस्तुत किया जाना काम्य और वांक्ष्य है। '**ज्ञाताधर्मकथांग का सांस्कृतिक अध्ययन**' इसी दिशा में उठा एक कदम मात्र है।

प्रबन्ध के उपशीर्षकों को सुस्पष्ट करने एवं पारम्परिक स्वरूप को अनावृत करने के लिए अन्य आगमों एवं आगेतर साहित्य का भी अध्ययन किया गया है। प्रस्तुत कृति को नौ परिवर्तों में विभक्त किया गया है।

प्रथम परिवर्त 'जैनागम एवं ज्ञाताधर्मकथांग' का उद्देश्य जैनागम परम्परा एवं उसमें ज्ञाताधर्मकथांग का स्थान स्पष्ट करना है। इसमें आगम शब्द के अर्थ, व्युत्पति, परिभाषाएँ, आगम वाचनाएँ, आगमों का वर्गीकरण व ज्ञाताधर्मकथांग का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय परिवर्त 'संस्कृति के तत्त्व एवं ज्ञाताधर्मकथांग' में तत्कालीन संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए संस्कृति शब्द का अर्थ, व्युत्पति, परिभाषा व तत्त्वों का सहारा लिया गया है।

तृतीय परिवर्त 'ज्ञाताधर्मकथांग का भौगोलिक विश्लेषण' का है। इसमें देश, नगर, पर्वत, नदी, उद्यान व वृक्षादि वनस्पति का चित्रण किया गया है।

चतुर्थ परिवर्त 'ज्ञाताधर्मकथांग में सामाजिक जीवन' में तत्कालीन सामाजिक स्थिति का वर्णन, परिवार, आचार-व्यहार, वेशभूषा, उत्सव-महोत्सव, लोकविश्वास, कुरीतियाँ व बुराइयाँ, वर्ण व्यवस्था तथा आश्रम व्यवस्था के संदर्भ में विवेचन किया गया है।

पंचम परिवर्त 'ज्ञाताधर्मकथांग में आर्थिक जीवन' में कृषि, उद्योग, परिवहन, व्यापार, मुद्रा व माप-तौल आदि उपशीर्षकों के माध्यम से तत्कालीन आर्थिक स्थिति का वर्णन किया गया है।

षष्ठम परिवर्त 'ज्ञाताधर्मकथांग में राजनैतिक स्थिति' से संबंधित है। इसमें राजा, राजा का स्वरूप, गुण, अधिकार, कर्त्तव्य, राज्य का स्वरूप, राज व्यवस्था, राज्य के अधिकारी, आय-व्यय के स्रोत, सैन्य संगठन व युद्धकला तथा शस्त्रास्त्रों का वर्णन किया गया है।

सप्तम परिवर्त 'ज्ञाताधर्मकथांग में शिक्षा' में शिक्षा का अर्थ, परिभाषा, स्वरूप, लक्ष्य, अध्ययन-अध्यापन, विषय, गुरु, शिष्ट, गुरु-शिष्य सम्बन्ध, अनुशासन व्यवस्था व शिक्षालयों आदि के संदर्भ में तत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था का विश्लेषण किया गया है।

अष्टम परिवर्त 'ज्ञाताधर्मकथांग में कला' में तत्कालीन कलाओं की झांकी प्रस्तुत करने के लिए कला शब्द की व्युत्पति, अर्थ, परिभाषाएँ, तत्त्व व प्रकारों को बतलाते हुए तत्कालीन जीवन पर कला के प्रभाव का विश्लेषण किया गया है।

नवम परिवर्त 'ज्ञाताधर्मकथांग में प्रतिपादित धर्म-दर्शन' में तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, आचारमीमांसा व कर्ममीमांसा के आलोक में ज्ञाताधर्मकथांग में प्रतिपादित धर्म-दर्शन का सांगोपांग विश्लेषण करते हुए तत्कालीन समय में प्रचलित जैनेतर धर्मदर्शन का भी परिचय प्रस्तुत किया गया है।

'उपसंहार' में ग्रंथ की महत्ता व उपयोगिता को उजागर करने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत कृति के लेखन में प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से सहयोगी रहे सभी महानुभावों के प्रति आभार ज्ञापित करने हेतु मेरे पास उतने शब्द नहीं है, फिर

भी मैं सर्वप्रथम सत्यदृष्टा **श्रमण भगवान महावीर** के चरणों में श्रद्धाप्रणत हूँ जिन्होंने प्राणीमात्र को मुक्ति का पथ दिखलाया।

समता विभूति **आचार्य श्री नानेश** एवं बहुश्रुत **आचार्य श्री रामेश** के चरणों में श्रद्धायुक्त नमन करती हूँ, जिन्होंने अध्यात्म का सम्यक् संबोध देकर मुझे सद्मार्ग पर आगे बढ़ने का संबल दिया। इसी शासन परम्परा के आशु कवि रत्न श्री गौतम मुनि जी को मेरा नमन, जिन्होंने अध्ययन के प्रति सदैव जागरूक रहने एवं प्रगति पथ पर आगे बढ़ने का प्रेरणा पाथेय प्रदान किया।

जैन विश्व भारती संस्थान के प्रथम अनुशास्ता गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी, आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी, साध्वी प्रमुखा महाश्रमणी जी एवं समस्त साधु-साध्वियों एवं समणियों को वंदन, जिनका स्नेहिल आशीर्वाद एवं मार्गदर्शन मेरे कार्य की गति-प्रगति में सहायक बना।

जैन विश्व भारती संस्थान की कुलपति श्रीमती सुधामही रघुनाथन व कुलसचिव डॉ. जगतराम भट्टाचार्या के प्रति कृतज्ञ हूँ जिनके आशीर्वाद से यह कार्य पूर्ण हुआ।

मैंने अपना शोध प्रबन्ध जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म दर्शन विभाग, जैन विश्व भारती संस्थान के सहायक आचार्य डॉ. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी के निर्देशन में प्रस्तुत किया। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं है या यूँ कहूं कि **'गिरा अनयन नयन बिनूं बानी'** तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी, गुरु रूप में उन्होंने जो स्नेहाशीर्वाद व प्रेरणा दी, वह चिरस्मरणीय है। मेरी कामना है कि उनका स्नेह-आशीर्वाद मुझे अनवरत मिलता रहे। प्रस्तुत कृति के लेखन में विशेष सहयोगी रहे प्रो. दयानन्द भार्गव, डॉ. अशोक कुमार जैन, डॉ. हरिशंकर पाण्डेय, डॉ. जिनेन्द्र कुमार जैन, डॉ. बच्छराज दुगड़, डॉ. सुरेश सिसोदिया, श्री अशोक जी चोरड़िया एवं डॉ. निर्मला जी चोरड़िया को विशेष रूप से स्मरण करते हुए उनके प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रणयन में माता-पिता की वात्सल्यमयी स्वर्णिम महत्वाकांक्षाएँ अनिर्वचनीय हैं, जिन्होंने मेरे कोमल हृदय में अनवरत अध्ययन की प्रवृत्ति का बीजारोपण किया। मैं अपने पूज्य पिताजी व माताजी को श्रद्धानत होकर प्रणाम करती हूँ, जिनका आशीर्वाद इस कार्य की पूर्णता में सहायक रहा। आज **डॉ. वीणा दीदी** हमारे बीच नहीं रही लेकिन उनसे जुड़े घटनाक्रम मेरे मानस पटल

पर आज भी अंकित हैं। उन्होंने कैसे मुझे मम्मी-पापा से जैन विश्व भारती संस्थान में अध्ययन के लिए जाने की अनुमति दिलवायी, कैसे उन्होंने मेरा मार्गदर्शन व उत्साहवर्द्धन किया। प्रस्तुत कृति मैं उन्हीं को समर्पित करती हूँ। अपने बहन-बहनोई [श्रीमती राजू-श्री कमल बैद तथा श्रीमती चन्द्रकला-डॉ. प्रदीप कटारिया] एवं अन्य परिजनों को भी कैसे विस्मृत कर सकती हूँ, जिनके सहयोग एवं स्नेहासिक्त वचनों के बिना यह लेखन कार्य पूरा करना संभव नहीं था, उन सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

प्रस्तुत कृति की पूर्णता में किसी न किसी रूप में सहयोगी बने मेरे सहपाठियों व सभी ज्ञात-अज्ञात सहयोगियों के प्रति हार्दिक आभार ज्ञापित करती हूँ।

-शशिकला छाजेड़

लाडनूं, वर्ष 2004

विषयानुक्रमणिका

प्रथम परिवर्त	**जैनागम एवं ज्ञाताधर्मकथांग**	14
	■ आगम का अर्थ, पर्यायवाची, व्युत्पत्ति, परिभाषा	14
	■ रचनाकार, वाचनाएँ, भाषा, विषय-सामग्री	16
	■ दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्परा, वर्गीकरण, संख्या	20
	■ ज्ञाताधर्मकथांग का द्वादशांगी में स्थान, संक्षिप्त परिचय	24
द्वितीय परिवर्त	**संस्कृति के तत्त्व एवं ज्ञाताधर्मकथांग**	38
	■ संस्कृति- व्युत्पत्ति, अर्थ, परिभाषा	40
	■ संस्कृति की विशेषताएँ	47
	■ ज्ञाताधर्मकथांग में संस्कृति	60
तृतीय परिवर्त	**ज्ञाताधर्मकथांग का भौगोलिक विश्लेषण**	69
	■ संसार, नरक, अधोलोक व देवलोक	69
	■ द्वीप, महाविदेह व पूर्व विदेह, मुख्य नगर	70
	■ जन सन्निवेश- ग्राम व नगर	86
	■ विभिन्न प्रकार के नगर व नगर विन्यास	87
	■ राजभवन-निर्माण, भवन के विभिन्न अंग, समवसरण व प्याऊ	90
	■ पर्वत, नदियाँ, समुद्र, उद्यान-वन व चैत्य	96
	■ वृक्षादि वनस्पति, लताएँ व पुष्प	102
चतुर्थ परिवर्त	**ज्ञाताधर्मकथांग में सामाजिक जीवन**	109
	■ परिवार की विशेषताएँ	110
	■ संयुक्त परिवार व परिवार के विभिन्न सदस्य	112
	■ आचार-व्यवहार व संस्कार	122
	■ नारी की स्थिति	131
	■ खानपान, वेशभूषा-वस्त्राभूषण व प्रसाधन	134

■ मनोरंजन के साधन, उत्सव-महोत्सव- धार्मिक व सामाजिक 142
■ लोक-विश्वास 148
■ कुरीतियाँ व बुराइयाँ 151
■ वर्णव्यवस्था व आश्रम-व्यवस्था 154

पंचम परिवर्त **ज्ञाताधर्मकथांग में आर्थिक जीवन** 166
■ कृषि-सिंचाई, उपकरण, सुरक्षा 166
■ उपज, उपज की कटाई व भण्डारण 167
■ उपवन, उद्यान-वाटिका 168
■ पशु-पालन 169
■ पूंजी का लेनदेन, शिल्प-कर्म 170
■ उद्योगशालाएँ- वस्त्र, धातु, बर्तन, काष्ठ, चित्र, चर्म, मद्य, वास्तु, प्रसाधन, खांड, तेल, कुटीर उद्योग 173
■ व्यापार-विनिमय, परिवहन 177
■ आजीविका के साधन- असि, मसि, कृषि 181
■ माप-तौल व मूल्य, मुद्रा-सिक्का 182

षष्ठम परिवर्त **ज्ञाताधर्मकथांग में राजनैतिक स्थिति** 188
■ राजा एवं राज्य 188
■ राजा का स्वरूप, गुण, अधिकार व कर्त्तव्य 189
■ राज्य का स्वरूप 192
■ राज्य व्यवस्था 193
■ राज्य के अधिकारी (प्रमुख कर्मचारी) 194
■ आय-व्यय के स्रोत (राजकीय कोष) 198
■ सैन्य संगठन, युद्ध के नियम, शस्त्रास्त्र व अन्य सैन्य सामग्री 199

सप्तम परिवर्त	**ज्ञाताधर्मकथांग में शिक्षा**	206
	■ शिक्षा का अर्थ व परिभाषा	206
	■ शिक्षा का स्वरूप	213
	■ शिक्षा का लक्ष्य	215
	■ अध्ययन-अध्यापन, शिक्षा के विषय	215
	■ गुरु के गुण, गुरु के प्रकार, गुरु का महत्व	223
	■ शिष्य की अर्हताएँ, शिष्य की अयोग्यताएँ	226
	■ गुरु-शिष्य सम्बन्ध	228
	■ अनुशासन-व्यवस्था व शिक्षालय	229
अष्टम परिवर्त	**ज्ञाताधर्मकथांग में कला**	237
	■ कला शब्द की व्युत्पत्ति अर्थ व परिभाषाएँ	237
	■ कला के तत्त्व	241
	■ कला के प्रकार व भेद	242
	■ ज्ञाताधर्मकथांग में कला	243
	■ कलाओं का जीवन पर प्रभाव	256
नवम परिवर्त	**ज्ञाताधर्मकथांग में प्रतिपादित धर्म-दर्शन**	259
	■ ज्ञाताधर्मकथांग में तत्त्व-मीमांसा	259
	■ ज्ञाताधर्मकथांग में ज्ञान-मीमांसा	274
	■ ज्ञाताधर्मकथांग में आचार-मीमांसा	280
	■ ज्ञाताधर्मकथांग में कर्म-मीमांसा	318
	■ ज्ञाताधर्मकथांग में जैनेत्तर धर्मदर्शन	319
उपसंहार		326
संदर्भ ग्रंथ सूची		336

प्रथम परिवर्त

जैनागम एवं ज्ञाताधर्मकथांग

विश्व की प्राचीन संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति का अग्रणी स्थान रहा है। वैदिक, जैन व बौद्ध आदि विभिन्न परम्पराएँ इसी संस्कृति में पल्लवित-पुष्पित हुई।

विश्व के प्रत्येक धर्म और परम्परा के सिद्धान्तों और आदर्शों को पृथक्-पृथक् ग्रंथों में प्रतिपादित किया गया है। वैदिक परम्परा में 'वेद', बौद्धों में 'त्रिपिटक', ईसाइयों में 'बाइबिल', पारसियों में 'अवेस्ता' और मुस्लिमों में 'कुरान' ऐसे ही पवित्र 'धर्म-ग्रंथ हैं। इसी क्रम में जैन धर्मग्रंथों को 'आगम' कहा जाता है।

ज्ञान-विज्ञान के अक्षय भण्डार जैनागम साहित्य भारतीय साहित्य की अनमोल उपलब्धि, अनुपम निधि और अकूत खजाना है। अक्षर परिणाम से वह जितना विशाल है, उससे भी कहीं अधिक उसके चिंतन की गहराई है।

आगम का अर्थ

आगम शब्द 'आ' उपसर्ग एवं 'गम्' धातु से निर्मित हुआ है। 'आगम्यन्ते-परिच्छिद्यन्ते अर्था अनेनेत्यागमः' जिसके द्वारा पदार्थों को जाना जाता है, उसे आगम कहते हैं। आचारांग में 'आगम' शब्द 'जानने' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[1] भगवतीसूत्र[2] व स्थानांगसूत्र[3] में 'आगम' शब्द शास्त्र के अर्थ में व्यवहृत हुआ है।

पाइअ-सद्द-महण्णओ में आगम का अर्थ शास्त्र या सिद्धान्त के रूप में किया गया है।[4]

आप्त पुरुषों द्वारा कथित
गणधरों द्वारा ग्रंथित
मनीषियों द्वारा आचरित आगम है

आगम के पर्यायवाची

जैन परम्परा में प्राचीनतम ग्रंथों को सामान्यतया आगम कहा जाता है, परन्तु अतीत में ये ग्रंथ 'श्रुत' के नाम से भी प्रसिद्ध रहे हैं। स्थानांग सूत्र में आगमज्ञाताओं को 'श्रुतकेवली' व 'श्रुतस्थविर' कहा गया है।[5] नन्दीसूत्र में

आगमों के लिए स्पष्टत: 'श्रुत' शब्द का उल्लेख हुआ है।[6] अनुयोगद्वार सूत्र और विशेषावश्यकभाष्य में आगम को सूत्र, ग्रंथ, सिद्धान्त, प्रवचन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापना आदि शब्दों से सूचित किया गया है।

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ में श्रुत, आप्तवचन, आगम उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन एवं जिनवचन आदि को आगम कहा है।[9] इस प्रकार 'आगम' शब्द के विभिन्न पर्यायवाची शब्द प्रचलित रहे हैं।

आगम व्युत्पत्ति

आङ् उपसर्ग पूर्वक भ्वादिगणीय गम्लृगतौ धातु से अच् प्रत्यय करने पर आगम शब्द बनता है[10] तथा आङ् उपसर्ग पूर्वक गम् धातु से करण अर्थ में घञ् प्रत्यय करने पर भी आगम शब्द बनता है- 'आगम्यते प्राप्यतेऽनेन' अर्थात् जिसके द्वारा प्राप्त किया जाए, वह आगम है।[11] आवश्यकचूर्णि के अनुसार- 'आगमोणाम अत्तवयणं।'[12] नंदी मलयगिरि वृत्ति के अनुसार आ- अभिविधिना सकलश्रुत विषय व्याप्तिरूपेण मर्यादया वा यथावस्थित प्ररूपणायागम्यन्ते परिच्छिद्यन्तेऽर्था येन स आगम: ।[13] अर्थात् आप्तवचन आगम कहलाता है। समस्त श्रुतगत विषयों से जो व्याप्त है, मर्यादित है, यथार्थ प्ररूपणा के कारण जिससे अर्थ जाने जाते हैं, वह आगम है।

आगम की परिभाषाएँ

जैन परम्परा के श्वेताम्बर और दिगम्बर साहित्य में आगम को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया गया है। सभी ग्रंथकारों, विद्वानों व आचार्यों की परिभाषाओं को व्यक्त करना यहाँ शक्य नहीं है फिर भी आगम की निम्नलिखित परिभाषाएँ द्रष्टव्य हैं-

- 'आप्त का कथन आगम है।'[14] यह परिभाषा अनेक ग्रंथों में प्राप्त होती है।
- आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में कहा है तप, नियम, ज्ञानरूप- वृक्ष के ऊपर आरूढ़ होकर अनन्तज्ञानी, केवली भगवान भव्य आत्माओं के प्रतिबोध के लिए ज्ञानकुसुमों की वृष्टि करते हैं, गणधर अपने बुद्धिपट पर सकल कुसुमों को झेलकर प्रवचन माला गूंथते हैं[15], वही आगम है।
- आवश्यकनिर्युक्ति व धवला टीका में कहा गया है कि तीर्थंकर केवल अर्थरूप का उपदेश देते हैं और गणधर उसे ग्रंथबद्ध या सूत्रबद्ध करते हैं।[16]

- गणधर के समान ही अन्य प्रत्येक-बुद्धों द्वारा निरूपित आगम भी प्रमाण रूप होते हैं।[17]
- आप्तवचन आगम माना जाता है, उपचार से आप्तवचन से उत्पन्न अर्थ-ज्ञान को भी आगम कहा गया है।[18]
- पूर्वापर विरूद्धादि दोषों के समूह से रहित और सम्पूर्ण पदार्थों के द्योतक आप्त वचन को आगम कहते हैं।[19]
- आप्त के वाक्य के अनुरूप आगम के ज्ञान को आगम कहते हैं।[20]
- जो तत्त्व आचार परम्परा से वासित होकर आता है, वह आगम कहा जाता है।[21]
- जिससे सही शिक्षा प्राप्त होती है, विशेषज्ञान प्राप्त होता है, वह शास्त्र आगम या श्रुतज्ञान कहलाता है।[22]
- कर्मों के क्षय हो जाने से जिनका ज्ञान सर्वथा निर्मल एवं शुद्ध हो गया हो, ऐसे आप्त पुरुषों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का संकलन आगम है।[23]
- जो तीर्थ की स्थापना करते हैं, वे तीर्थंकर हैं और तीर्थंकरों की वाणी अर्थात् उनके मुख से उद्भाषित वाणी आगम है।[24]
- जिससे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो, वह आगम है।[25]
- पंचास्तिकाय तात्पर्य वृत्ति में आगम को परिभाषित करते हुए लिखा है कि वीतराग सर्वज्ञदेव के द्वारा कथित षडद्रव्य एवं सप्ततत्त्वादि का सम्यक् श्रद्धान एवं ज्ञान तथा व्रतादि के अनुष्ठान रूप चारित्र, इस प्रकार जिसमें भेदरत्नत्रय का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, वह आगम शास्त्र है।[26]

आगम के रचनाकार

आगमों की रचना किसने की? इस विषय पर सभी आचार्यों में मतैक्य नहीं है। आगम एवं उनके व्याख्या साहित्य का अध्ययन करने पर इस संबंध में हमें दो विचारधाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं-

(1) प्राचीन अवधारणा- द्वादशांगी के कर्त्ता गणधर हैं और उपांग आदि के कर्त्ता स्थविर हैं।

(2) अर्वाचीन अवधारणा- अंग और अंगबाह्य समस्त आगमों के निर्माता गणधर हैं।

उपर्युक्त दोनों विचाराधाराओं में से प्रथम विचाराधारा को ही सम्यक् माना

जाता है। आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में लिखा है- तप, नियम, ज्ञानरूप, वृक्ष पर आरूढ़ होकर अनन्तज्ञानी केवली भगवान भव्य-आत्माओं के बोध के लिए ज्ञान-कुसुमों की वृष्टि करते हैं। गणधर व स्थविर अपने बुद्धिपट के उन कुसुमों का अवतरण कर प्रवचन माला में गूंथते हैं-

''तवनियमनाणरूक्खं आरूढो केवली अभियनाणी।
तो मुयइ नाणवुट्ठिं भवियजण विवोहणट्ठाए।।
तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिणिउं निरवसेसं।
तित्थयरभासियाइं गंथंति तओ पवयणट्ठा।।''

तीर्थंकर केवल अर्थरूप में उपदेश देते हैं और गणधर उसे ग्रंथबद्ध या सूत्रबद्ध करते हैं-

अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गन्थन्ति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइ।।[28]

अर्थात्मक ग्रंथ के प्रणेता तीर्थंकर होते हैं, अत: जैनागम तीर्थंकर प्रणीत कहे जाते हैं।[29] गणधर उन अर्थात्मक ग्रंथों से सूत्रात्मक रूप में द्वादशांगी की रचना करते हैं और स्थविर अंगबाह्य आगमों की रचना करते हैं।[30] इस बात को और अधिक पुष्ट करते हुए जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य की रचना के संबंध में लिखा है कि प्रविष्ट श्रुत वह है जो गणधरों द्वारा सूत्र रूप में ग्रंथित हो और अंगबाह्य श्रुत वह है जो स्थविर कृत हो।[31]

आगम वाचनाएँ

भगवान महावीर के निर्वाण के बाद उनके उपदेश श्रुत परम्परा से सुरक्षित रहे किन्तु कालान्तर में श्रुत परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखना असंदिग्ध नहीं रहा, अत: गणधरों ने उनके उपदेश-वचनों को आगम ग्रंथों के रूप में प्रस्तुत किया। वर्तमान में जो आगम उपलब्ध हैं, उन्हें इस स्वरूप को प्राप्त करने में लम्बा समय लगा, इसके लिए जैनाचार्यों ने कई आगम-वाचनाएँ की, जिनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

पाटलिपुत्र वाचना

श्वेताम्बर आम्नाय की मान्यता है कि आचारांग आदि बारह अंगों को सुरक्षित रखने के लिए जैन मुनियों ने समय-समय पर वाचनाएँ की। भगवान महावीर के निर्वाण से करीब 160 वर्ष बाद आचार्य स्थूलिभद्र ने अकालग्रस्त

पाटलिपुत्र में जैन श्रमणों का सम्मेलन बुलाया।[32] एकत्र हुए श्रमणों ने ग्यारह अंगों को व्यवस्थित किया किन्तु उनमें से किसी को भी दृष्टिवाद याद नहीं था।

माथुरी वाचना

द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण प्रज्ञा एवं धारणा शक्ति के अभाव में सूत्र नष्ट हो गया। बारह वर्ष के दुष्काल के बाद आर्यस्कंदिल की अध्यक्षता में स्थविर मधुमित्राचार्य और आर्य गन्धहस्ती प्रमुख 125 निर्ग्रन्थों की उपस्थिति में साधुसंघ मथुरा में एकत्र हुआ[33] और जिसको जो याद था, उसके आधार पर कालिक श्रुत को व्यवस्थित कर लिया गया। मथुरा निवासी ओसवंशीय श्रावक पोलाक ने गन्धहस्ती के विवरण सहित उन ग्रंथों (प्रवचन) को ताड़पत्र पर लिखवाकर मुनियों के स्वाध्याय के लिए समर्पित किया। यह वाचना मथुरा में होने के कारण माथुरी वाचना कहलाई।

वल्लभी वाचना

मथुरा सम्मेलन के समय अर्थात् वीर निर्वाण 827-840 के आसपास वल्लभी में नागार्जुन की अध्यक्षता में भी एक आगम संकलन का प्रयास हुआ[34], जो 'नागार्जुनीय वाचना' के नाम से विख्यात है। इसका उल्लेख भद्रेश्वर रचित कहावली ग्रंथ में मिलता है।[35] चूर्णियों में भी नागार्जुन नाम से पाठान्तर मिलते हैं। पण्णवणा जैसे अंगबाह्य सूत्रों में भी इस प्रकार के पाठान्तरों का निर्देश है।[36] आचार्य देववाचक ने भी भावपूर्ण शब्दों में नागार्जुन की स्तुति की है।[37] वाचक नागार्जुन और एकत्र जैन मुनियों को जो-जो आगम और उनके अनुयोगों के उपरान्त प्रकरण ग्रंथ याद थे, वे लिख लिए गए और विस्मृत स्थलों को पूर्वापर संबंध के अनुसार ठीक करके वाचना दी गई।

देवर्धिगणि वाचना

वीर निर्वाण के 980 वर्षों के बाद लोगों की स्मृति पहले से दुर्बल हो गई, अत: उस विशाल ज्ञान भण्डार को स्मृति में रखना कठिन हो गया। अत: वीर निर्वाण 980 या 993 (सन् 454 या 466) में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में श्रमण संघ एकत्र हुआ और स्मृति में रहे शेष सभी आगमों को संकलित किया और साथ ही पुस्तकारूढ़ भी कर दिया गया।[38] यह पुस्तकरूप में लिखने का पहला प्रयास था। योगशास्त्र में उल्लेख मिलता है कि आचार्य स्कन्दिल और नागार्जुन के समय ही आगम पुस्तकारूढ़ कर दिए गए थे।[39]

वर्तमान में जो आगम उपलब्ध हैं, वे देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की वाचना के हैं और उसके बाद उनमें परिवर्तन व परिवर्द्धन नहीं हुआ, ऐसा माना जाता है।[40]

आगम की भाषा

आगम की मूल भाषा अर्द्धमागधी है।[41] जिसे सामान्यत: प्राकृत भी कहा जाता है। समवायांग के अनुसार सभी तीर्थंकर अर्द्धमागधी भाषा में उपदेश देते हैं। यह देववाणी है। देव इसी भाषा में बोलते हैं।[42] इस भाषा में बोलने वाले को भाषार्य भी कहा गया है।[43] जिनदासगणि अर्द्धमागधी का अर्थ दो प्रकार से करते हैं- प्रथम यह भाषा मगध के एक भाग में बोली जाने के कारण अर्द्धमागधी कही जाती है, दूसरे में यह भाषा अठारह देशी भाषाओं का सम्मिश्रण है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो मागधी और देशज शब्दों का इस भाषा में मिश्रण होने से यह अर्द्धमागधी कहलाती है।[44]

आगम की विषयसामग्री

जैनागमों में कुछ तो ऐसे हैं, जो जैन आचार से सम्बन्ध रखते हैं, जैसे- आचारांग, दशवैकालिक आदि, कुछ उपदेशात्मक, जैसे- उत्तराध्ययन, प्रकीर्णक आदि, कुछ तत्कालीन भूगोल और खगोल आदि मान्यताओं का वर्णन करते हैं, जैसे-जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि। छेद सूत्रों का प्रधान विषय जैन साधुओं के आचार सम्बन्धी औत्सर्गिक और आपवादिक नियमों का वर्णन तथा प्रायश्चितों का विधान है। कुछ ग्रंथ ऐसे हैं जिनमें जिनमार्ग के अनुयायियों का जीवन दिया गया है, जैसे-उपासकदशांग, अनुत्तरोपपातिक आदि। भगवतीसूत्र में भगवान महावीर के साथ हुए संवादों का संग्रह है। कल्पसूत्र में महावीर का विस्तृत जीवन, ज्ञाताधर्मकथांग में निर्ग्रन्थ प्रवचन की भावपूर्ण कथाओं, उपमाओं और दृष्टान्तों का संग्रह है। जैन आगम साहित्य में दार्शनिक, साहित्यिक, सामाजिक व सांस्कृतिक सभी तथ्य मौजूद हैं। आगम साहित्य का सर्वाधिक महत्व इसलिए है कि वह ज्ञान-विज्ञान, न्याय-नीति, आचार-विचार, धर्मदर्शन और अध्यात्म अनुभव का अक्षय कोष है। यह महावीर-वाणी की अनमोल धरोहर व निधि है।

समग्र रूप से आगम-साहित्य में जैन श्रमणों के आचार-विचार, व्रत-संयम, तप-त्याग, गमनागमन, रोग-चिकित्सा, विद्या मंत्र, उपसर्ग-दुर्भिक्ष तथा उपवास-प्रायश्चित आदि का वर्णन करने वाली अनेक परम्पराओं, जनश्रुतियों, लोककथाओं और धर्मोपदेश की पद्धतियों का वर्णन है। भगवान महावीर का

जन्म, उनकी कठोर साधना, साधु-जीवन, उनके मूल उपदेश, उनकी विहारचर्या, शिष्य परम्परा, आर्यक्षेत्रों की सीमा, तत्कालीन राजा-महाराजा, अन्य तैर्थिक तथा मतमतान्तर और उनकी विवेचना सम्बन्धी जानकारी हमें यहाँ मिलती है। वास्तुशास्त्र, वैदिक शास्त्र, ज्योतिष, भूगोल-खगोल, संगीत, नाट्य, विविध कलाएँ, प्राणीविज्ञान, वनस्पति विज्ञान आदि अनेकानेक विषयों का यहाँ विवेचन किया गया है। इन सब विषयों के अध्ययन से तत्कालीन सांस्कृतिक इतिहास की अनेक त्रुटित शृंखलाएँ जोड़ी जा सकती हैं।

दिगम्बर परम्परा और जैनागम

दिगम्बर मतानुसार वीर-निर्वाण के बाद श्रुत का क्रमशः ह्रास होते-होते 683 वर्ष के बाद कोई अंगधर या पूर्वधर आचार्य नहीं रहा। अंग और पूर्व के अंशमात्र के ज्ञाता आचार्य हुए। इन्हीं आचार्यों की परम्परा के दो आचार्यों- पुष्पदंत और भूतबलि ने षट्खण्डागम की रचना दूसरे अग्रायणीय पूर्व के अंश के आधार से की और आचार्य गुणधर ने पाँचवें पूर्व-ज्ञान-प्रवाद के अंश के आधार से कषायपाहुड़ की रचना की।[45] इन दोनों ग्रंथों को दिगम्बर आम्नाय में आगम का स्थान प्राप्त है। उसी प्रकार भूतबलि ने आचार्य महाबन्ध की रचना की। बाद में इन ग्रंथों पर आचार्य वीरसेन ने 'धवला' और 'जयधवला' टीका रची। ये टीकाएँ भी दिगम्बर परम्परा का मान्य है। दिगम्बर परम्परा का सम्पूर्ण *साहित्य आचार्यों द्वारा रचित है। आचार्य कुन्द प्रणीत ग्रंथ- समयसार,* प्रवचनसार, पंचास्तिकायसार, नियमसार एवं अष्टपाहुड दिग. परम्परा में आगमवत मान्य है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चतुवर्ती के ग्रंथ-गोम्मटसार, लब्धिसार और द्रव्यसंग्रह आदि भी उतने ही प्रमाणभूत एवं मान्य हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों पर अमृतचन्द्राचार्य ने अत्यन्त प्रौढ़ एवं गंभीर टीकाएँ लिखी हैं। ऐसे ही मूलाराधना, भगवती आराधना एवं रत्नकरण्ड श्रावकाकार, तिलोयपण्णत्ति पद्मपुराण, हरिवंश पुराण आदि ग्रंथ भी इस परम्परा में आगमतुल्य स्तुत्य ग्रंथ हैं। दिगम्बर मतानुसार अंग और अंगबाह्य आगम लुप्त हो चुके हैं। ऐसा भी परम्परा में प्रचलित है कि अंगों का ज्ञान लुप्त हो गया है और पूर्वों का अंश विद्यमान है।

श्वेताम्बर परम्परा और जैनागम

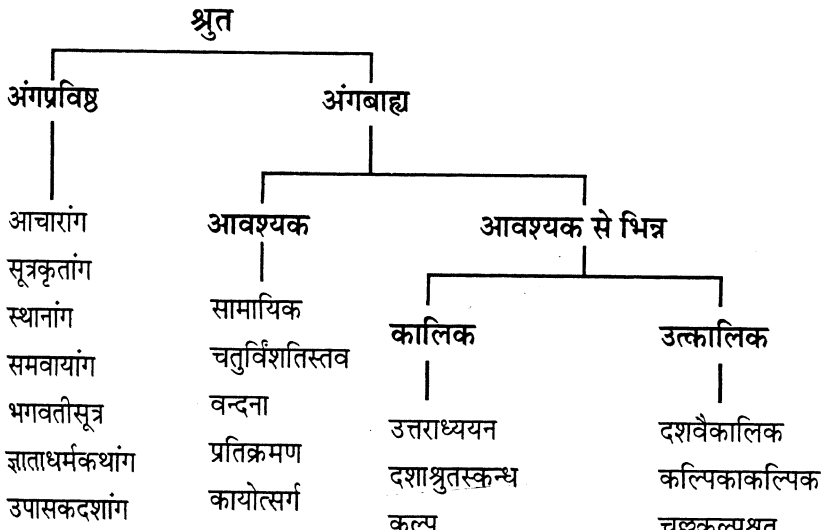
श्वेताम्बर परम्परानुसार महावीर निर्वाण सं. 160 वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र तथा 840 वर्ष बाद मथुरा में और इसी समय के आसपास वल्लभी में हुए संघ

सम्मेलनों में जिन ग्यारह अंगों का संकलन हुआ था, उनके छिन्न-भिन्न हो जाने से महावीर निर्वाण के लगभग 980 वर्ष बाद वल्लभी में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में पुनः जो संघ सम्मेलन हुआ उसमें 45-46 ग्रंथों का संकलन किया गया, जिसके अंतर्गत ग्यारह अंग, बारह उपांग, छः छेद सूत्र, चार मूल सूत्र, दस प्रकीर्णक और चूलिका सूत्र आते हैं। इन आगम ग्रंथों से संबद्ध अनेक परवर्ती रचनाएँ भी हैं, जिनका लक्ष्य आगमों की विषयवस्तु को संक्षेप या विस्तार से समझाना है, ये रचनाएँ निम्नोक्त चार प्रकार की हैं- (i) निर्युक्ति, (ii) भाष्य, (iiii) चूर्णि और (iv) टीका। कालान्तर में इनके आधार पर अन्य विविध साहित्य की भी रचना हुई।[46]

आगमों का वर्गीकरण

अनुयोगद्वार में आगम के दो वर्गीकरण उपलब्ध होते हैं- प्रथम वर्गीकरण में आगम तीन प्रकार के माने गए हैं- (i) सूत्रागम, (ii) अर्थागम और (iii) तदुभयागम[47]। श्वेताम्बर व दिगम्बर परम्परा में आगमों का वर्गीकरण अलग-अलग प्रकार से किया गया है, जिसे हम तालिका रूप में व्यक्त कर सकते हैं।

(क) **श्वेताम्बर परम्परा-** नन्दीसूत्र में आगमों का वर्गीकरण अग्रांकित तालिका द्वारा स्पष्ट किया गया है[48]-



अन्तकृतदशांग
अनुत्तरोपपातिकदशांग
प्रश्नव्याकरण
विपाकसूत्र
दृष्टिवाद

प्रत्याख्यान
व्यवहार
निशीथ
महानिशीथ
ऋषिभाषित
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
चन्द्रप्रज्ञप्ति
क्षुल्लिकाविमानप्रविभक्ति
महाल्लिकाविमानप्रविभक्ति
अंगचूलिका
वर्गचूलिका
अरूणोपपात
वरूणोपपात
गरूडोपपात
धरणोपात
वेश्रवणोपपात
वेलन्धरोपपात
देवेन्द्रोपपात
उत्थानश्रुत
समुत्थानश्रुत
नागपरितापनिका*
निरियावलिका
कल्पिका
कल्पावतंसिका
पुष्पिका
पुष्प चूलिका
वृष्णिदशा

महाकल्पश्रुत
औपपातिक
राजप्रश्नीय
जीवाभिगम
प्रज्ञापना
महाप्रज्ञापना
प्रमादाप्रसाद
नन्दी
अनुयोगद्वार
देवेन्द्रस्तव
तंदुलवैचारिक
चन्द्रकवेध्यक
सूर्यप्रज्ञप्ति
पौरूषीमंडल
मण्डल प्रवेश
विद्याचरण विनिश्चय
गणिविद्या
ध्यानविभक्ति
मरणविभक्ति
आत्मविशोधि
वीतरागश्रुत
संलेखनाश्रुत
विहारकल्प
चरणविधि
आतुरप्रत्याख्यान

---

* पाठान्तर- नागपरिज्ञापणिका, नागपर्यावलिका।

नोट : इस प्रकार श्रीमद् नन्दीसूत्रानुसार 12, 6 आवश्यक, 31 कालिक व 29 उत्कालिक सहित कुल 78 आगमों का उल्लेख मिलता है किन्तु इनमें से आज अनेक ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं।

(ख) **दिगम्बर परम्परा-** तत्त्वार्थसूत्र वृत्ति में दिगम्बर मतानुसार आगमों का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है[49]-

आगम

अंगप्रविष्ठ	**अंगबाह्य**
आचारांग	सामायिक
सूत्रकृतांग	चतुर्विंशतिस्तव
स्थानांग	वन्दना
समवायांग	प्रतिक्रमण
व्याख्याप्रज्ञप्ति	वैनयिक कृतिकर्म
ज्ञाताधर्मकथांग	दशवैकालिक
उपासकदशांग	उत्तराध्ययन
अन्तकृतदशांग	कल्पव्यवहार
अनुत्तरोपपातिकदशांग	कल्पाकल्प
प्रश्नव्याकरण	महाकल्प
विपाकसूत्र	पुंडरीक
	महापुंडरीक
	अशीतिका✚

✚ निशीथइति पाठान्तर

नोट : तत्त्वार्थ सूत्र के टीकाकार पूज्यपाद अकलंक विद्यानन्दी आदि आचार्यों ने अंगबाह्य में न केवल उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि ग्रंथों का उल्लेख किया है बल्कि कालिक व उत्कालिक रूप से वर्गीकरण का निर्देश भी तत्त्वार्थ 1/20 में किया है। हरिवंश पुराण व धवला टीका में आगमों का जो वर्गीकरण मिलता है। उसमें 12 अंगों एवं 14 अंगबाह्य ग्रंथों का नामोल्लेख किया है। अंगबाह्य में सर्वप्रथम 6 आवश्यकों का उल्लेख है उसके बाद दशवैकालिक उत्तराध्ययन, कल्प, व्यवहार, कप्पकप्पीय, महाकप्पीय, पुण्डरीक, महापुण्डरीक एवं निशीथ का उल्लेख है। धवला में जहाँ 12 अंग व 14 अंगबाह्य की गणना की है। वहाँ कल्प एवं व्यवहार का एक ही ग्रंथ माना है। दिगम्बर परम्परा में नन्दीसूत्र मान्य आगमों में मात्र पुण्डरिक और महापुण्डरिक दो नाम भिन्न है। यों श्रीमद् सूत्रकृतांगसूत्र में पुण्डरिक नामक अध्ययन का उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा में भी मिलता है।

ज्ञाताधर्मकथांग की भाषा- अन्य अंग साहित्य की अपेक्षा श्रीमद् ज्ञाताधर्मकथांग की भाषा अधिक प्रौढ़, साहित्यिक एवं जटिल है। इसमें अनेक स्थल ऐसे भी हैं जहाँ आलंकारिक भाषा का हृदयस्पर्शी ढंग से प्रयोग किया गया है। जिसे पढ़ते हुए कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है मानों कमनीय काव्य का हम रसास्वादन कर रहे हैं। यथा-अष्टम अध्ययन में अर्हन्नक श्रावक की समुद्री यात्रा के प्रसंग में ताल-पिशाच के उपसर्ग और नौका के डूबने-उतरने का जो वर्णन किया गया है वह रोचक है। स्थान-स्थान पर मनोहारी ऊपमा-अलंकार का प्रयोग भी मिलता है।

दृष्टिवाद

परिकर्म	सूत्र	अनुयोग	पूर्वगत	चूलिका
		मूलप्रथमानुयोग	उत्पाद	जलगता
		गंडिकानुयोग	अग्रायणीय	स्थलगता
			वीर्यानुप्रवाद	मायागता
			अस्तिनास्तिप्रवाद	आकाशगता
			ज्ञान-प्रवाद	रूपगत
			सत्यप्रवाद	
			आत्मप्रवाद	
			कर्मप्रवाद	
			प्रत्याख्यानप्रवाद	
			विद्यानुप्रवाद	
			कल्याण	
			प्राणवाय	
			क्रियाविशाल	
			लोकबिन्दुसार	

आगमों की संख्या

जैन आगम साहित्य की संख्या के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। श्वेताम्बर स्थानकवासी व तेरापंथ सम्प्रदाय बत्तीस आगम मानता है, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय पैंतालीस आगम मानते हैं, इनमें ही कुछ गच्छ चौरासी आगम भी मानते हैं। दिगम्बर परम्परा आगम के अस्तित्व को स्वीकार तो करती है, परन्तु उनकी मान्यतानुसार सभी आगम विच्छिन्न हो गए हैं।

ज्ञाताधर्मकथांग : द्वादशांगी में स्थान

अंग साहित्य में ज्ञाताधर्मकथांग का छठा स्थान है। इसके दो श्रुतस्कंध हैं। प्रथम श्रुतस्कंध में ज्ञात यानी उदाहरण और द्वितीय श्रुतस्कंध में धर्मकथाएँ हैं इसलिए इस आगम को 'णायाधम्मकहाओ' कहा जाता है। आचार्य अभयदेव ने अपनी टीका में इसी अर्थ को स्पष्ट किया है। तत्त्वार्थभाष्य में 'ज्ञाताधर्मकथा'

नाम आया है। भाष्यकार ने लिखा है- उदाहरणों के द्वारा जिसमें धर्म का कथन किया है।[50] संस्कृत साहित्य में प्रस्तुत आगम का नाम 'ज्ञातृधर्मकथा' मिलता है।[51] आचार्य मलयगिरि[52] व आचार्य अभयदेव[53] ने उदाहरण प्रधान धर्मकथा को ज्ञाताधर्मकथा कहा है। उनकी दृष्टि से प्रथम अध्ययन में ज्ञात है और दूसरे अध्ययन में धर्मकथा है।

पं. बेचरदस दोशी[54], डॉ. जगदीशचन्द्र जैन[55], डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री[56] का अभिमत है कि ज्ञातपुत्र महावीर की धर्मकथा का प्ररूपण होने से प्रस्तुत अंग को उक्त नाम से अभिहित किया गया है।

श्वेताम्बर आगम साहित्य के अनुसार भगवान महावीर के वंश का नाम 'ज्ञात' था। कल्पसूत्र[57], आचारांग[58], सूत्रकृतांग[59], भगवती[60], उत्तराध्ययन[61] और दशवैकालिक[62] में उनके नाम के रूप में 'ज्ञात' शब्द का प्रयोग हुआ है। विभिन्न बौद्धपिटकों में भी भगवान महावीर का उल्लेख ''निगंठनातपुत्र'' के रूप में किया गया है।[63]

णाह धम्मकहा का अर्थ नाथ धर्मकथा किया जाता है।[64] जिसका तात्पर्य है- नाथ- तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित धर्मकथा।

समवायांग[65] और नंदीसूत्र[66] में आगमों का जो परिचय दिया गया है उसके आधार से 'ज्ञातृवंशी महावीर की धर्मकथा' यह अर्थ संगत नहीं लगता। वहाँ पर यह स्पष्ट किया गया है कि ज्ञाताधर्मकथा में ज्ञातों (उदाहरणभूत व्यक्तियों) के नगर, उद्यान आदि का निरूपण किया गया है। आलोच्य आगम के प्रथम अध्ययन का नाम 'उक्खित्तणाए' (उत्क्षिप्तज्ञात) है। यहाँ पर ज्ञात का अर्थ उदाहरण ही सही प्रतीत होता है।

इसमें उदाहरण प्रधान धर्मकथाएँ हैं। इन कथाओं में उन धीरोदात्त साधकों का वर्णन है जो भयंकर परीषह उपस्थित होने पर भी सुमेरु की तरह अकंप रहे। इसमें परिमित वाचनाएँ, वेढ, छन्द, श्लोक, निर्युक्तियाँ, संग्रहणियाँ व प्रतिपत्तियाँ संख्यात-संख्यात हैं। इसके दो श्रुतस्कंध हैं। प्रथम श्रुतस्कंध में उन्नीस अध्ययन हैं और द्वितीय श्रुतस्कंध में दस वर्ग हैं। दोनों श्रुतस्कंधों के 29 उद्देशन काल हैं, 29 समुद्देशन काल हैं, 573000 पद हैं, संख्यात अक्षर हैं, अनंतगम, अनंत पर्याय, परिमित त्रस, अनन्त स्थावर आदि का वर्णन है। इसका वर्तमान में पद परिमाण 5500 श्लोक प्रमाण है।

प्रथम श्रुतस्कंध में कितनी ही कलाएँ-ऐतिहासिक व्यक्तियों से संबंधित

हैं और कितनी ही कथाएँ कल्पित हैं। प्रथम अध्ययन का मुखपात्र मेघकुमार ऐतिहासिक व्यक्ति है। तुंबे आदि की कुछ कथाएँ रूपक के रूप में हैं। इन रूपक-कथाओं का उद्देश्य भी प्रतिबोध प्रदान करना है।

द्वितीय श्रुतस्कंध में दस वर्ग हैं। उनमें से प्रत्येक धर्मकथा में 500-500 आख्यायिकाएँ और एक-एक आख्यायिका में 500-500 उप-आख्यायिकाएँ हैं और एक-एक उप-आख्यायिका में 500-500 आख्यायिकोपाख्यायिकाएँ हैं[67] पर वे सारी कथाएँ आज उपलब्ध नहीं हैं। वर्तमान में प्रथम श्रुत स्कंध में 19 कथाएँ और द्वितीय श्रुतस्कंध में 206 कथाएँ हैं।

भगवान महावीर ने भी कथाओं के माध्यम से प्रतिबोध प्रदान किया। आलोच्य आगम में आत्म उन्नति का मार्ग, इस मार्ग के अवरोध और इन अवरोधों को दूर करने के उपायों की सांगोपांग चर्चा की गई है। महिला वर्ग द्वारा उत्कृष्ट आध्यात्मिक उत्कर्ष, आहार का उद्देश्य, संयमी जीवन, शुभ परिणाम, अनासक्ति व श्रद्धा का महत्व आदि विषयों पर कथाओं के माध्यम से प्रकाश डाला गया है। ये कथाएँ वाद-विवाद के लिए नहीं, जीवन के उत्थान के लिए हैं। इनमें अनुभव का अमृत है। यह अमृतपान इस कथासागर में गोते लगाकर ही किया जा सकता है-

प्रथम अध्ययन : उत्क्षिप्तज्ञात

इस अध्ययन में श्रेणिक पुत्र मेघकुमार का वर्णन है। वह भगवान महावीर की ओजस्वी वाणी को श्रवण कर संयम मार्ग पर अग्रसर होता है लेकिन संयम जीवन की प्रथम रात्रि को ही अरति परिषह से खिन्न होकर संयम से विचलित होने लगता है। भगवान महावीर द्वारा उसे पूर्व भव सुनाकर संयम में पुनः स्थित करने का विवेचन इस अध्याय में किया गया है। महावीर की प्रेरणास्पद वाणी उसका हृदय बदल देती है और वह अपना सम्पूर्ण जीवन श्रमणों की सेवा के लिए समर्पित कर देता है।

मेघकुमार के समान ही नवदीक्षित नन्द का वर्णन बौद्ध साहित्य सुत्तनिपात[68], धम्मपद[69], अट्ठकथा, जातककथा[70] एवं थेरगाथा[71] में प्राप्त होता है। नवविवाहिता पत्नी का परित्याग कर दीक्षा ग्रहण करने वाला नन्द अपनी पत्नी के रूप-सौंदर्य के स्मरण में खोया रहता है।

जिस प्रकार भगवान महावीर मेघकुमार को पूर्वभव की दारूण वेदना

और मानव जीवन का महत्व बताकर संयम साधना में स्थिर करते हैं, उसी प्रकार तथागत बुद्ध नन्द को एक कुब्ज बंदरी एवं आगामी भव के रंगीन सुख बताकर स्थिर करते हैं। जातक साहित्य से यह भी परिज्ञात होता है कि नंद अपने प्राप्त भवों में हाथी था।[72] तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर मेघ का जीवनवृत्त अधिक प्रभावक है। क्योंकि उसमें पूर्वभव में भी अधिक सहनशीलता व असीम करूणा थी तथा मुनि जीवन में भी वह प्रतिष्ठा एवं घमण्ड से ऊपर उठ चुका था। कितना समर्पण कर दिया अपने आपको मुनि संघ के प्रति। दोनों के पूर्वभव में हाथी की घटना भी बहुत कुछ साम्यता लिए हुए है।

प्रथम अध्ययन में आए हुए अनेक व्यक्ति ऐतिहासिक हैं। सम्राट श्रेणिक की जीवनगाथाएँ जैन साहित्य में ही नहीं, बौद्ध साहित्य में भी विस्तार से आई हैं।[73] अभयकुमार को जैन और बौद्ध परम्पराएँ अपना अनुयायी मानती हैं।[74]

द्वितीय अध्ययन : संघाट

इस अध्ययन में विजयचोर और धन्नासार्थवाह के उदाहरण के माध्यम से यह प्रतिपादन किया है कि सेठ को विवशता से पुत्रहन्ता को भोजन देना पड़ता था। वैसे ही साधक को भी संयम निर्वाह हेतु शरीर को आहार देना पड़ता है, किन्तु उसमें शरीर के प्रति किंचित भी आसक्ति नहीं होती। श्रमण की आहार के प्रति किस तरह से अनासक्ति होनी चाहिए, कथा के माध्यम से यह सजीव हो उठता है-

''अवि अप्पणो वि देहम्मि, नायरंति ममाइयं''

मुनिजन अपने शरीर पर भी ममता नहीं रखते। मात्र शरीर की सहायता से सम्यक-ज्ञान-दर्शन और चारित्र की रक्षा एवं वृद्धि के उद्देश्य से ही उसका पालन-पोषण करते हैं।

तृतीय अध्ययन : अंडक

इस अध्ययन में उदाहरण के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है- 'तमेव सच्चं णीसंक जं जिणेहिं पवेइयं' अर्थात् वीतराग और सर्वज्ञ ने जो तत्त्व ज्ञान प्रतिपादित किया है, वही सत्य है, उसमें शंका-संशय नहीं करना चाहिये।

इसमें रूपक के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है- 'संशयात्मा विनश्यति' और 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' इस कथा के माध्यम से यह भी पता चलता है कि

उस युग में पशु-पक्षियों को भी प्रशिक्षण दिया जाता था। प्रशिक्षित पशु-पक्षी अपनी कला के प्रदर्शन से दर्शकों का मन मोह लेते थे।

चतुर्थ अध्ययन : कूर्म

इस अध्ययन में दो कछुओं के उदाहरण ये यह बोध दिया गया है कि जो साधक अपनी इन्द्रियों को पूर्ण रूप से वश में रखता है उसको किंचित भी क्षति नहीं होती और जो साधक अपने मन और इन्द्रियों को वश में नहीं रखता उसका पतन अवश्यंभावी है।

सूत्रकृतांग[75] में भी संक्षेप में कूर्म के रूपक को साधक के जीवन से जोड़ा गया है। श्रीमद् भगवद्गीता[76] में भी 'स्थितप्रज्ञ' के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए कछुए का दृष्टांत दिया गया है।

पञ्चम अध्ययन : शैलक

इस अध्ययन में वर्णित थावच्चा नामक सेठानी महान प्रतिभा सम्पन्न नारी थी जो पूर्ण स्वतंत्र, निर्भीक, साहसी एवं पुत्र वत्सला थी। उसके इकलौते पुत्र थावच्चापुत्र को अरिष्टनेमि का प्रवचन सुनकर वैराग्य उत्पन्न हो गया। वासुदेव कृष्ण ने उनकी दीक्षा का समुचित प्रबन्ध किया।

अर्द्धभरतक्षेत्र के अधिपति होते हुए भी कृष्ण वासुदेव में अहंकार नहीं था, वे प्रजावत्सल एवं प्रजा का पूर्ण ध्यान रखने वाले अध्यात्मप्रेमी राजा थे।

इस अध्ययन में अनेक दार्शनिक गुत्थियों को भी सुलझाया गया है। शौचधर्म की अवधारणा को रेखांकित करते हुए जैनधर्म सम्मत शौचधर्म की सरल दार्शनिक प्रस्तुति की गई है।

शैलक राजर्षि का रोग परीषह के कारण उपचार प्रक्रिया के दौरान शिथिलाचारी होने और शिष्य पंथक द्वारा उनके प्रमाद का परिहार करके उन्हें पुनः संयम के प्रति जागृत करने का मार्मिक विवेचन शिष्य के कर्त्तव्यों का आदर्श स्वरूप प्रस्तुत करता है।

षष्ठम अध्ययन : तुम्बक

इस अध्ययन में दर्शन जगत् के गंभीर और सर्वाधिक चर्चित विषय कर्मवाद का रूपक के माध्यम से वर्णन किया गया है। तूंबे के रूपक द्वारा जीव

का हल्के और भारी होने का स्वरूप समझाया गया है। जिस प्रकार मिट्टी के लेप से भारी बना हुआ तूंबा जल में डूब जाता है और मिट्टी का लेप हट जाने पर ऊपर तैरने लगता है, उसी प्रकार कर्म बंधन से बंधी हुई आत्मा संसार समुद्र में डूबती है और बंधन कट जाने पर हल्की होकर भवसागर को पार कर लेती है।

सप्तम अध्ययन : रोहिणी ज्ञात

इस अध्ययन में धन्ना सार्थवाह अपनी चार पुत्रवधुओं की परीक्षा के लिए उन्हें पाँच-पाँच शालि (चावल) के दाने देता है। उन दानों को प्रथम पुत्रवधू फेंक देती है, दूसरी प्रसाद समझकर खा लेती है, तीसरी संभालकर रखती है और चौथी खेती करवाकर उन्हें हजारों गुने कर देती है। वैसे ही गुरु पाँच महाव्रतरूपी शालि के दानें शिष्यों को प्रदान करता है। एक उसे भंग कर देता है। दूसरा उसे खानपान और विलास में गंवा देता है। तीसरा उसे सुरक्षित रखता है और चौथा उसे साधना के द्वारा विकसित करता है।

इस कहानी में नारी योग्यता का आंकलन संयुक्त परिवार का महत्व, मुखिया द्वारा गृह-व्यवस्था आदि अनेक बातों का बोध मिलता है।

प्रो. टाइमन ने अपनी जर्मन पुस्तक- 'बुद्ध और महावीर' में बाइबिल की मैथ्यू और लूक की कथा के साथ प्रस्तुत कथा की तुलना की है। वहाँ शालिकणों के स्थान पर टेलेण्ट शब्द आया है। टेलेण्ट उस युग में प्रचलित एक सिक्का था। एक व्यक्ति विदेश जाते समय अपने दो पुत्रों को दस-दस टेलेण्ट दे गया था। एक ने व्यापार द्वारा उनकी अभिवृद्धि की, जबकि दूसरे ने उन्हें जमीन में गाड़ दिया। लौटने पर पिता प्रथम पुत्र के कृत्य पर प्रसन्न हुआ।

अष्टम अध्ययन : मल्ली

इस अध्ययन में तीर्थंकर मल्लीभगवती का वर्णन है, जिन्होंने पूर्वभव में माया, छल-कपट का सेवन करके अपने आध्यात्मिक उत्कर्ष में बाधा उपस्थित की, परिणामस्वरूप उनके स्त्री नामकर्म का बंध हुआ। तीर्थंकर सभी पुरुषजाति के होते हैं लेकिन 19वें तीर्थंकर मल्ली भगवती स्त्री पर्याय थे।

अर्हन्नक श्रावक की सुदृढ़ धर्मनिष्ठा का उल्लेख भी इस अध्ययन में देखने को मिलता है। इन दोनों के माध्यम से यह प्रतिबोध मिलता है कि अपने जीवन को सार्थक दिशा प्रदान करने के लिए मनुष्य को कभी भी छल-कपट-माया का सेवन नहीं करना चाहिए एवं अपने धर्म के प्रति पूर्ण श्रद्धावान रहते हुए किसी

भी परिस्थिति में उससे च्युत नहीं होना चाहिए।

नवम अध्ययन : माकन्दी

इस अध्ययन में बताया गया है कि वासना से चंचल चित्त होने वाला साधक जिनरक्षित के समान अपने प्राण गंवाता है और स्थिरचित्त रहने वाला साधक जिनपालित की तरह सदा सुरक्षित रहकर अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होता है।

यह कथा माता-पिता की आज्ञा का पालन करने की भी प्रेरणा देती है। इस अध्ययन में आज्ञा की अवहेलना करने के परिणाम का भयावह चित्रण किया गया है।

इस कथा में शकून-अपशकून की बात आई है। 12वीं बार समुद्रयात्रा को अपशकून माना है, किसी एक ही कार्य को 12 बार करना भी अनुचित माना गया है।

दशम अध्ययन : चन्द्र

इसमें चन्द्र के उदाहरण से यह प्रतिपादित किया है कि जैसे कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष का चन्द्र क्रमशः हानि-वृद्धि को प्राप्त होता है, वैसे ही चन्द्र के सदृश कर्मों की अधिकता से आत्मा की ज्योति मंद होती है और कर्मों की न्यूनता से ज्योति जगमगाने लगती है।

एकादश अध्ययन : दावद्रव

इस अध्ययन में सहिष्णुता के महत्व को प्रकट किया गया है। व्यक्ति को सफलता प्राप्त करने के लिए सहनशील होना चाहिए। जो परिस्थितियों को सहन कर लेता है वह सफल हो जाता है अर्थात् भव को पार कर लेता है।

इस पाठ में आराधक-विराधक की चर्चा की गई है।

द्वादश अध्ययन : उदक ज्ञात

इस अध्ययन में जल-शुद्धि की विधि के माध्यम से पुद्गलों के निरन्तर परिणमन की बात को स्पष्ट किया गया है। मंत्री और राजा के वार्तालाप के माध्यम से बतलाया गया है कि संसार का कोई भी पदार्थ एकान्तरूप से शुभ या अशुभ नहीं है। संसार का प्रत्येक पदार्थ शुभ से अशुभ में और अशुभ से शुभ में परिवर्तित होता है। अतः एक पर राग और दूसरे पर द्वेष नहीं करना चाहिए।

त्रयोदश अध्ययन : दर्दुर ज्ञात

इस अध्ययन में मुख्य रूप से दो बातें स्पष्ट होती हैं-

(i) सद्गुरु के समागम से आत्मिक गुणों का विकास होता है।

(ii) इसके अभाव में और मिथ्यात्व का प्रकटीकरण हो जाने पर जीवन का अध:पतन होता है।

नन्दमणिकार की पूर्वापर अवस्थाएँ इसका प्रमाण है।

इस अध्ययन में समाज सेवा, रोगों का निदान व उपचार, आयुर्वेद और देवों की ऋद्धि का भी सविस्तार वर्णन हुआ है।

चतुर्दश अध्ययन : तेतलिपुत्र

इस अध्ययन में भी सद्गुरु के समागम का महत्व प्रतिपादित करते हुए कहा है कि सद्गुरु के अभाव में विद्यमान सद्गुणों का भी ह्रास होता जाता है। इसलिए जीवन निर्माण में उचित मार्गदर्शन मिल जाने पर विकास का पथ सरल बन जाता है- जैसा कि इस अध्ययन में वर्णित है कि तेतलिपुत्र के द्वारा राजा कनकरथ के पुत्र की रक्षा की गई एवं पोट्टिला के द्वारा तेतलिपुत्र को उचित मार्गदर्शन मिला। तात्कालिक राजा कनकरथ द्वारा अत्यन्त राज्य-लिप्सा वश निष्ठुरतापूर्वक पुत्रों को विकलांग करने जैसे अमानवीय कृत्य कर इतिहास के पृष्ठों को कलंकित करना है। लोभ के भूत जिसके सिर पर सवार होता है उसकी विवेक विकलता कैसी होती है इसका यथार्थ एवं मार्मिक चित्रण इस अध्ययन में किया गया है।

कनकध्वज राजा द्वारा अपमानित तेतलिपुत्र ने आत्महत्या के विविध प्रयास किए, जो वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते रहते हैं।

पंचदश अध्ययन

इस अध्ययन में व्यापारार्थ समुद्रयात्रा के दौरान पारस्परिक सहयोग की भावना का उदात्तीकरण दर्शाया गया है। 'नंदीफल' के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि जिस कार्य को करने के लिए इंकार किया जाता है उस कार्य की ओर लोगों का आकर्षण अधिक होता है, जिसका परिणाम बहुत बुरा होता है। साधना पथ पर चलने वाले साधक का मन मोहन और रमणीय इन्द्रिय विषयों से सावधान रहने का संकेत किया है। निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति का यह मूल स्वर इस

आगम में शुरू से अंत तक अनुगुंजित हो रहा है। किन्तु उसे हृदयंगम करने हेतु सरलतम उदाहरणों द्वारा समझाया गया है।

षोडश अध्ययन : द्रौपदी

इस अध्ययन में भवपरंपरा का मार्मिक चित्रण करते हुए बताया है कि दुर्भावना के साथ जहर (तुंबा) का दान देने से नागश्री की भव परम्परा बहुत बढ़ जाती है। द्रौपदी के पूर्वभव, कुत्सित कार्यों से (नागश्री, सुकुमालिका), क्रूर कर्मों का बंध, स्थिति व उनके दारूण परिणाम के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इस अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि तत्कालीन ब्राह्मण समाज में श्रमणों के प्रति विरोध की जड़ें कितनी गहरी थी।

इसमें शतपाक, सहस्रपाक, जड़ीबूटियों से निर्मित तेल और औषधियों का उल्लेख हुआ है। गंगा की विशालता एवं नवीन नगर-निर्माण जैसी कला का वर्णन भी आया है। इसमें कच्छुल नारद की करतूत, प्राक्राम्यनि (गगन गामिनी) विद्या द्वारा विश्वभ्रमण, शीलधर्म की रक्षा के लिये पतिव्रता सती द्रौपदी की सूझबूझ, संकट के समय परिजनों का सहयोग, अपना कर्तव्य समझकर करना। बड़ों से शरारती मजाक स्वयं के लिये कितनी हानिकारक होती है।

सप्तदश अध्ययन : आकीर्ण

आकीर्ण से तात्पर्य है- उत्तम जाति का अश्व। अश्वों के दृष्टांत के माध्यम से राग व आसक्ति को बंधन का हेतु बतलाया गया है। साथ ही यह भी बताया है विषयात्मक साधना भी किस प्रकार पथभ्रष्ट हो जाती है और दीर्घकाल तक भवभ्रमण बढ़ा लेते है। अनासक्त साधक ही स्वाभाविक असीम आनन्द (मोक्ष) को प्राप्त कर सकता है। प्रकरण को स्पष्ट करने के लिए अश्वों का एवं इन्द्रियों के विविध विषयों का इसमें विस्तृत निदर्शन किया गया है।

अष्टादश अध्ययन : सुंसुमा

इस अध्ययन की मुख्य पात्र सुंसुमा धन्ना सार्थवाह की पुत्री थी। प्रतिशोध की आग को अपने भीतर दबाएँ चिलात ने एक दिन सुंसुमा का अपहरण कर लिया तब धन्य श्रेणि नगर-रक्षकों व अपने पाँचों पुत्रों को साथ लेकर चिलात आदि 500 चोरों का पीछा करता है। 500 चोर भयभीत हो इधर-उधर भाग जाते हैं। चिलात भी घबराहट में चोर पल्ली का रास्ता भूलकर अन्यत्र रास्ते पर बढ़ता है। *अंत में चिलात अपने बचाव के लिये सुंसुमा का सिर काटकर साथ में ले*

जाता है। सुंसुमा के धड़ को देखते ही 5 पुत्रों सहित धन्य चिलात का पीछा छोड़ करूण रुदन करता है, निरन्तर भागमभाग से धन्य भूख-प्यास से व्याकुल पुनः राजगृह आना कठिन लगता है तब उन्होंने सुंसमा की मृतदेह का भक्षण कर अपनी प्राणरक्षा की। सुंसुमा के शरीर का भक्षण करते समय केवल प्राणरक्षा ही उनका ध्येय था।

इसी प्रकार साधक को भी राग रहित होकर आहार करना चाहिए। आहार द्वारा शरीर रक्षा का लक्ष्य 'आत्मसाधना' ही है।

मृतकन्या का मांस भक्षणकर जीवित रहने का उल्लेख बौद्धग्रंथों[77] में भी मिलता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र[78] व बोधायनधर्मसूत्र[79] में संन्यासियों के आहार संबंधी चर्चा इसी प्रकार मिलती है।

नवदश अध्ययन : पुण्डरीक

प्रस्तुत अध्ययन का कथानक मानव जीवन में होने वाले उत्थान और पतन का तथा पतन और उत्थान का सजीव चित्रण उपस्थित करता है।[80] महाविदेह क्षेत्र स्थित पुण्डरीकगिरि नगरी के तो राजपुरुष/राजा, जिसमें कण्डरीक का संयम त्याग, अपश्य आचरण, आर्त्तध्यान व असाध्यरोग के साथ सप्तम नरक पृथ्वी में गमन यानि उत्थान से पतन की कहानी है तो पुण्डरीक अचानक कण्डरीक को राज्य देकर संयम ग्रहण व उग्र साधना एवं प्रशस्त विचार, अनुत्तर सुखों की प्राप्ति पतन से उत्थान की कहानी, मानव को सत्यं शिवं सुन्दरं अथवा श्रेष्ठ आचार के श्रेष्ठ विचारों की ओर प्रेरित करने वाली है। सुख शांति मय जीवन का राज इसमें निहित है।

इस कथा के माध्यम से स्पष्ट किया गया है कि जो श्रमण चिरकाल पर्यन्त संयम पालन कर पथभ्रष्ट हो जाता है वह कण्डरीक की तरह सांसारिक दुःखों में भटकता रहता है और जो अंतिम क्षणों तक उच्च वैराग्य भावों से संयम का पालन करता है वह पुण्डरीक की भांति स्वल्पकाल में ही सिद्धि प्राप्त करता है।

भाई-भाई का अटूट प्रेम और भाई के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने जैसी उदात्त भावनाओं का निरूपण इस अध्ययन में किया गया है।

द्वितीय श्रुतस्कंध

इस श्रुतस्कंध के 10 वर्ग और 206 अध्ययन हैं, जिनमें मानव, देव और व्यंतर आदि की सामान्य घटनाएँ निरूपित हैं।

इसमें पुण्यशाली नारियों की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए बताया है कि पुण्य के प्रभाव से व्यंतर, ज्योतिष एवं कल्पवासी देवों की अग्रमहिषियों के रूप में जन्म लेती हैं। इसमें वर्णित अधिकतर कुमारियाँ भगवान पार्श्वनाथ के शासन में दीक्षित होकर उत्तरगुणों की विराधना करने के कारण देवियों के रूप में उत्पन्न हुईं। उन साधिकाओं के देवियों के रूप में उत्पन्न होने पर भी जो नाम उनके मानवभव में थे, उन्हीं नामों से उनका परिचय दिया गया है।

ज्ञाताधर्मकथांग का सम्पूर्ण आगम साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान है। तत्कालीन संस्कृति का विशद् विवेचन इस ग्रंथ की विशिष्ट विशेषता है। समाज-उत्सव, शिक्षा, रीतिरिवाज, मनोरंजन, धार्मिक विश्वास-मंगलकर्म, शकुन-अपशकुन, पूजा पद्धति और दर्शन, राजनीति, अर्थ, भूगोल और संस्कृति से जुड़े सभी पहलुओं का सिंहावलोकन इस ग्रंथ के माध्यम से किया जा सकता है।

द्रव्य-मीमांसा, तत्त्व-मीमांसा व आचार-मीमांसा जैसे गंभीर विषयों को कथाओं के माध्यम से जनभोग्य बनाया गया है। आत्मा-शरीर का भेदविज्ञान, इन्द्रिय-संयम, पुनर्जन्म, तप, आश्रव, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि विविध विषयों का स्पष्ट विवेचन इस ग्रंथ में निबद्ध है। इस प्रकार इस ग्रंथ में जैनदर्शन जैसे गंभीर विषय को भी जनसामान्य की मानसिक योग्यता के करीब लाकर बिठा दिया गया है।

संदर्भ-

1. क. ''आगमेत्ता आणवेज्जा'' - आचारांगसूत्र, 1/5/4
   ख. ''लाघवं आगममाणे'' - आचारांगसूत्र, 1/6/3
2. भगवतीसूत्र 5/3/192
3. स्थानांगसूत्र 338
4. पाइअ-सद्द-महण्णवो, पृ. 11
5. स्थानांगसूत्र, सूत्र-150
6. नन्दीसूत्र- सूत्र-150
7. ''सुयसुत्त ग्रंथ सिद्धंतपवयणे आणवयण उवएसे पण्णवण आगमे या एगट्ठा पज्जवासुत्ते'' - अनुयोगद्वारसूत्र - 4
8. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा-8/97
9. ''श्रुतंमतिपूर्वद्वयनेक द्वादशभेदम्'' -तत्त्वार्थसूत्र 1/20
10. संस्कृत धातु कोश, पृ. 34
11. वाचस्पत्यम् खण्ड प्रथम, पृ. 614
12. आवश्यक चूर्णि 1, पृ. 28
13. नंदी, मयलगिरीया वृत्ति पत्र 249
14. (i) आचारांगसूत्र 1/6/4 (ii) उत्तराध्ययनसूत्र-193
    (iii) नियमसार-8 (iv) नन्दीसूत्र- 40-41
    (v) प्रमाणनयतत्त्वालोक 4/1
    (vi) न्यायसूत्र 1/1/7
    (vii) आवश्यक (वृत्ति) मलयगिरि, पत्र-48
15. 'तव नियम नाण रूक्खं- तओ पवयणट्ठा' - आवश्यक वृत्ति, गाथा- 89-90
16. (i) 'अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गन्थन्ति गणहरा णिउणं। सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइ।।'- आवश्यक निर्युक्ति गाथा- 192
    (ii) धवला टीका, भाग-1, पृ. 64 व 72
17. 'सुत्तं गणहरकथिदं तहेव पत्तेयबुद्धकथिदं च।'
    सुदकेवलिणा कथिदं अभिण्णं दसपुव्वकथिदं च।।' - मूलाचार 5/80
18. ''आप्तवचनादाविर्भूतमर्थ संवेदनमागमः। उपचारादाप्तवचनं च।''
    - स्याद्वादमंजरी टीका, श्लोक-38
19. पूर्वापरविरूद्धादेर्व्यपेतो दोषसंहते। द्योतकः सर्वभावनामाप्तव्यावतिरागमः।।
    -धवला 3/1, 2, 2/9, 11/12
20. आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः। - न्याय दीपिका 3/73/112
21. ''आगच्छत्याचार्यपरम्परया वासनाद्वारेणेत्यागमः''
    -सिद्धसेनगणि कृत भाष्यानुसारिणी टीका, पृ. 87
22. सासिज्जइ जेण तयं सत्थं तं वा विसेसियं नाणं।
    आगम एव य सत्थं आगम सत्थं तु सुयनाणं।।
    - विशेषावश्यकभाष्य, गाथा-559
23. ''आप्तवचनादाविर्भूतमर्थ संवेदनमागमः'' - प्रमाणनयतत्त्वालोक 4/12

24. ''तस्स मुहग्गदवयणं पुव्वापरदोस विरहियं सुद्धं।
आगमिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवं तच्चत्था।।'' -नियमसार मूलगाथा-8, पृ. 19
25. आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुद्धयनतेऽर्था: अनेनेत्यागम:। - रत्नाकरावतारिका 4/1, पृ. 81
26. पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति गा. 173, पृ. 255 (कुन्ददुन्दाचार्य)
27. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा- 89-90
28. वही, गाथा- 192
29. नन्दीसूत्र, सूत्र-40, पृ. 153
30. (i) विशेषावश्यक भाष्य, पृ. 149
(ii) सर्वार्थसिद्धि, 1-20, पृ. 85 (आ. पूज्यपाद)
31. गणहर थेरकयं वा आएसा मुक्क-वागरणाओ वा।
ध्रुव-चल विसेसओ वा अंगाणंगेसु नाणत्तं।। -विशेषावश्यक भाष्य, गाथा- 550 पृ. 149
32. A. (i) तिथोगाली, गाथा- 714
(ii) आवश्यक चूर्णि भाग-2, पृ. 187
B. जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग 2, पृ. 651
33. A. (i) नन्दी चूर्णि (जिनदासमहत्तर कृत), पृ. 8
(ii) 'इत्थ दूसहदुब्भिक्खे दुवालसवारिसिए नियत्ते सयलसंघं मेलिआ आगमाणओगी पवित्तिओ खंदिलायरियेण' - विविध तीर्थकल्प, पृ. 19
B. हिमवन्त स्थविरावली
34. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ. 55
35. जैनदर्शन का आदिकाल, पृ. 7
36. वही, पृ. 7
37. (i) नन्दीसूत्र, गाथा 35
(ii) योगशास्त्र, प्रकाश-3, पृ. 207
38. स्थानांगसूत्र (प्रस्तावना), पृ. 27
39. ''जिनवचनं च दुष्षमाकालवशादुच्छिन्न-प्रायमितिमत्वा भगवद्भिर्नागार्जुनस्कन्दिलाचार्य्य प्रभृतिभि: सपुस्तकेष न्यस्तम्।'' -योगशास्त्र, प्रकाश-3, पृ. 207
40. दशवैकालिक भूमिका- आचार्य तुलसी, पृ. 27
41. नन्दीमलयगिरिवृत्ति, पत्र-83
42. (i) 'भगवंचणं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ'- समवायांग 34/22
(ii) ''गोयमा! देवाणं अद्धमागहीए भासाए भासंति, सावियणं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी विसिस्सइ'' - भगवतीसूत्र - 5/4/20, पृ. 56
43. ''भासारिया जेणं अद्धमागहीए भासाए भासेंति'' -प्रज्ञापनासूत्र- 1/62, पृ. 56
44. ''मगद्धविसय भाषाणिबद्धं अद्धमागहं, अट्ठारस देसी भासाणिमयं वा अद्धमागहं'' -निशीथचूर्णि, जिनदासगणि
45. (i) जय धवला- पृ. 87
(ii) धवला पु. 1, प्रस्तावना, पृ. 71
46. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ. 72-73
47. अनुयोगद्वार, सूत्र-550

48. नन्दीसूत्र (सं) मुनि मधुकर, सूत्र 82, पृ. 165
49. तत्त्वार्थसूत्र-श्रुतसागरीवृत्ति, 1/20
50. 'ज्ञाता दृष्टान्ता: तानुपादाय धर्मो यत्र कथ्यते ज्ञातधर्मकथा: ।' -तत्त्वार्थभाष्य
51. तत्त्वार्थवार्तिक पृ. 1/20, पृ. 72
52. ज्ञातानि उदाहरणानि तत्प्रधाना धर्मकथा ज्ञाताधर्मकथा: अथवा ज्ञातानिज्ञाताध्ययनानि प्रथमश्रुतस्कंधे धर्मकथा द्वितीयश्रुतस्कन्धे यासु ग्रंथपद्धतिषु (ता:) ज्ञाताधर्मकथा: । - नंदीवृत्ति, पत्र- 230-231
53. समवायांग, पत्र-108
54. भगवान महावीर नी धर्मकथाओं, टिप्पण- पृ. 180
55. प्राकृत साहित्य का इतिहास- पृ. 80
56. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास- पृ. 172
57. कल्पसूत्र-110
58. (i) आचारांग- श्रु.2, अ.15, सू. 1003 (ii) आचारांग- श्रु.1, अ.8, उ.8, सू. 1003
59. (i) सूत्रकृतांग- उ. 1, गा. 22 (ii) सूत्रकृतांग- 1/6/24, 2/6/19
60. भगवती 15/79
61. उत्तराध्ययन 6/17
62. दशवैकालिक अ. 5, उ. 2, गा. 49
63. (i) विनयपिटक महावग्ग पृ. 242
    (ii) सूत्तनिपात-सुभियसुत्त पृ. 108
    (iii) मज्झिमनिकाय हिन्दी उपाति-सुत्तन्त पृ. 222
64. कषायपाहुड़, पृ. 125
65. समवायांग प्रकीर्णक, समवाय सूत्र, 94
66. नंदीसूत्र-85
67. नंदीसूत्र (मुम्बई), सूत्र 95, पृ. 37
68. सुत्तनिपात- अट्ठकथा, खण्ड-1 पृ. 59-105
70. जातक सं.-182
71. थेरगाथा-157
72. संगमावतार जातक, सं. 182 (हिन्दी अनु. खं. 2 पृ. 248-254)
74. (i) भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति, आवश्यक चूर्णि, धर्मरत्न प्रकरण आदि।
    (ii) थेरीगाथा अट्ठकथा 31-32, मज्झिमनिकाय-अभयराजकुमार सुत्त-धम्मपद अट्ठकथा
75. जहा कुम्मेसअंगाई, सए देहे समाहरे।
    एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे।। -सूत्रकृतांग
76. यदा संहरते चायं कूर्मोगानीव सर्वश:।
    इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। - श्रीमद् भगवद्गीता 2-58
77. संयुक्त निकाय- 2, पृ. 97
78. आपस्तम्बधर्मसूत्र 2/4/9/13
79. बोधायनधर्मसूत्र 2/7/31/32
80. श्री ज्ञाताधर्मकथांग योग (युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी म.सा. पृ. 510)

द्वितीय परिवर्त

संस्कृति के तत्त्व एवं ज्ञाताधर्मकथांग

भारतीय संस्कृति अनादि-अनन्त रही है। इसके इतिहास के ओर-छोर को पकड़ना और उसे शब्द-चित्र का रूप देना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। मानव और संस्कृति का सम्बन्ध चोली-दामन स्वरूप है। इनको एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है।

अपनी शैशवावस्था में कंद-मूल-फल खाने वाला मानव शनैः शनैः भोजन पकाकर खाने लगा और फिर आज वह युग भी आ गया है कि मानव अंतरिक्ष पर बसने की तैयारी करने लगा है। प्रारम्भ में मानव अपने जीविकोपार्जन के लिए शिकार पर निर्भर था, फिर उसने पशुपालन और कृषि कार्य प्रारम्भ किया और आज वह व्यवसाय में भी रत है। मानव के विकास की कहानी का प्रवाह क्रमशः शारीरिक, भावनात्मक और मानसिक स्तरों की ओर अग्रसर रहा है।[1]

मानव ने भौतिक उन्नति के साथ-साथ अपने धर्म तथा दर्शन को भी समुन्नत करने का प्रयास किया है। उसकी जिज्ञासा ने उसके विकास-मार्ग को प्रशस्त किया। सौन्दर्य की खोज में उसने संगीत, साहित्य और कला के विकास पर भी ध्यान दिया। जीवन को सुख-सुविधापूर्वक चलाने के लिए उसने अनेकानेक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संगठन बनाए। इस तरह मानसिक क्षेत्र में उन्नति की सूचक प्रत्येक सम्यक् कृति संस्कृति का अंग बनती चली गई। इसमें मुख्य रूप से धर्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, कला, सामाजिक तथा राजनीतिक परिवेश, अर्थव्यवस्था और शिक्षा आदि को समाविष्ट किया जा सकता है। इस तरह मानव संस्कृति का स्वरूप अनवरत निखरता और परिष्कृत होता जा रहा है।[2]

जैन धर्म ने मानव संस्कृति को नवीन रूप ही नहीं दिया वरन् उसके अमूर्त भाव तत्त्व को प्रकट करने के लिए सभ्यता का विस्तार भी किया। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव इस मानव संस्कृति के सूत्रधार बने। उनसे पूर्व युगलियों का जीवन कल्पवृक्षों के आधार पर चलता था।[3]

प्रकृति से सरल और भद्र होने के कारण मानव की कर्म और कर्त्तव्य की भावना सुषुप्त थी। उस समय के लोग कृषि और व्यवसाय से अपरिचित थे। उनमें सामाजिक चेतना और लोक-व्यवहार के अंकुर नहीं फूटे थे। नाभिनन्दन

ऋषभ ने भोगमूलक संस्कृति के स्थान पर कर्ममूलक संस्कृति की प्राण प्रतिष्ठा की। पेड़-पौधों पर अवलम्बित रहने वाले लोगों को खेती करना सिखाया। आत्मशक्ति से अनभिज्ञ लोगों को अक्षर और लिपि का ज्ञान देकर उनमें पुरुषार्थ और पराक्रम का नूतन संचार किया। जिससे दैववाद के स्थान पर पुरुषार्थवाद की मान्यता संपुष्ट होने लगी। उन्होंने अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लड़ने के लिए लोगों में भुजबल की प्रतिष्ठापना की। जड़ संस्कृति को कर्म की गति से अनुप्राणित किया। चेतनाशून्य जीवन की सामाजिकता का बोध और सामूहिकता का शंखनाद किया। कला-कौशल और उद्योग-धन्धों की व्यवस्था कर निष्क्रिय जीवनयापन की प्रणाली को सक्रिय, सक्षम और सुदृढ़ बनाया।[4]

तीर्थंकर परम्परा के अंतिम तीर्थंकर महावीर तक आते-आते इस संस्कृति में कई परिवर्तन आए। संस्कृति के विशाल महासागर में विभिन्न मतावलम्बियों की विचारधारा रूपी नदियों का सम्मिश्रण हुआ।[5] लेकिन चरम तीर्थंकर महावीर के समय इस सांस्कृतिक समागम का कुत्सित और वीभत्स रूप सामने आया। संस्कृति का जो पावन-निर्मल, मधुर और लोककल्याणकारी रूप था वह अब धूमिल-विकारग्रस्त होकर चन्द व्यक्तियों के हाथों की डुगडुगी बन गया। धर्म के नाम पर क्रियाकाण्ड का प्रचार बढ़ा। यज्ञ के नाम पर मूक और निरपराध पशुओं की बलि दी जाने लगी। समाज में क्रूरता इस कदर बढ़ गई कि अश्वमेध ही नहीं नरमेध भी होने लगे। सामाजिक जीवन में अनेकानेक विकृतियाँ पाँव पसारने लगी। स्त्रियों की दशा दयनीय-शोचनीय बन गई। शूद्र तथा नारी को निम्नतम और अधम समझा जाने लगा। इनको आत्म-चिन्तन और सामाजिक प्रतिष्ठा का कोई अधिकार नहीं रहा। संयम का गला घोंटकर भोग और ऐश्वर्य का नशा किलकारियाँ मारने लगा। सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन लड़खड़ाने लगा, इससे मानवता को उबारना आवश्यक था।

ज्ञातपुत्र महावीर ने कर्त्तव्य और दायित्व के प्रति संवेदनशील व्यक्ति की भांति इस गंभीर स्थिति का अनुशीलन और परीक्षण किया। साढ़े बारह वर्षों की घोर एवं कठिन तप-साधना के बाद, मानवता को इस संकट से उबारने के लिए, उन्हें पीयूष घट हाथ लगा। उन्होंने आह्वान किया- सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। यज्ञ के नाम पर की गई हिंसा अधर्म है, पाप है। सच्चा और वास्तविक यज्ञ आत्मा को पवित्र बनाता है, इसकी पूर्णाहुति के लिए क्रोध, मान, माया, लोभ, मत्सर आदि की बलि देनी होगी।

महावीर ने प्राणिमात्र की रक्षा करने का उद्‌बोधन दिया। धर्म के इस अहिंसामय रूप ने संस्कृति को अत्यन्त सूक्ष्म और विस्तृत बना दिया।[6]

प्राचीन भारतीय संस्कृति या आर्य संस्कृति सचमुच इतनी विशाल और उदार है कि उसमें विश्व संस्कृति के सभी महत्वपूर्ण अंश समाहित हैं। भारतीय का आदर्श वाक्य 'वसुधैव कुटुम्बकम्'।[7]

इस प्रकार स्पष्ट है कि हमारे पूर्वजों ने अपनी संस्कृति को भौगोलिक सीमाओं में बाँधने का प्रयास नहीं किया, अपितु भारतेतर में भी इसका प्रचार-प्रसार किया। भारत के वैदेशिक व्यापार तथा प्राचीन भारतीयों की धर्म-प्रचार वृत्ति के कारण इस संस्कृति का विश्वव्यापी प्रभाव-प्रसार संभव हुआ।

राष्ट्र की उत्कृष्टतम थाती संस्कृति ही होती है। संस्कृति ही राष्ट्र का प्राण होती है। राष्ट्र का आद्योपान्त जीवन अर्थात् उसका जीवन-मरण, सुख-दुःख, प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा, उन्नति-अवनति आदि सब कुछ उसकी संस्कृति पर ही आधारित रहता है। श्रेष्ठ और उदात्त संस्कृति आने वाले युग की संस्कृति और समाज की न्यूनाधिक मात्रा में किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभावित करती है।

राष्ट्र के प्राण उस समय की साहित्यिक कृतियों में स्वाभाविक रूप से समाहित रहते हैं। साहित्य से संस्कृति को अलग नहीं किया जा सकता, संस्कृति फूल और सुगन्ध के समान एकमेक है। वास्तव में साहित्य किसी देश की वह सम्पत्ति है जिसमें उस देश की गौरवगाथा और पूर्ववर्ती जनजीवन के विविध सांस्कृतिक आयाम निहित होते हैं। वह अपने युग की परम्पराओं, आदर्शों, मूल्यों व गतिविधियों की पथ-द्रष्टा है।

वस्तुतः संस्कृति उस सुरभि के समान है जो समीर के साथ मंद गति से चहुँ ओर फैलती रहती है, उसे बाधित करना या रोकना अत्यन्त कठिन कार्य है, ठीक इसी प्रकार संस्कृति को शब्दों की कारा में कैद करने से उसकी प्रवाहशीलता में ठहराव आ जाएगा, जो किसी दृष्टि से श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता। आत्मत्त्व की भांति संस्कृति का स्वरूप भी शब्दों में व्यक्त करना दुष्कर है।

'संस्कृति' की व्युत्पत्ति

'संस्कृति' एक व्यापक शब्द है जिसकी धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, आर्थिक एवं साहित्यिक आदि विभिन्न संदर्भों में व्याख्या की गई है। संस्कृत के विद्वानों के अनुसार 'संस्कृति' शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से 'सुट्' का

आगम करके 'क्ति' प्रत्यय लगाकर बना है।[8]

अर्थ

संस्कृति का अर्थ उत्तम बनाना, संशोधन करना, परिष्कार करना[9], परिमार्जित करना है। संस्कृति शब्द में शिष्टता एवं सौजन्य आदि अर्थों का भी अन्तर्भाव हो जाता है। 'संस्कृति' शब्द मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों, नैसर्गिक शक्तियों तथा उनके परिष्कार का द्योतक है।[10] अंग्रेजी में 'संस्कृति' का पर्यायवाची 'कल्चर' (Culture) शब्द है, जो लेटिन भाषा के 'कलतुरा' (Cultura) शब्द से नि:सृत है और 'कल्चर' में भी वही धातु है जो Agriculture में है। अत: कल्चर का अर्थ भी पैदा करना-सुधारना है।[11] सिंचन आदि कृषि सम्बन्धी समस्त आवश्यक संस्कारों का संस्पर्श पाकर जैसे धरती शस्यश्यामला बनती है, ठीक वैसे ही मानव की मानस भूमि में फलित सद्संस्कार उसे महामानव की संज्ञा से विभूषित कर देते हैं।

संस्कृति : धर्माचार्यों एवं विद्वानों की दृष्टि में (परिभाषाएँ)

अनेक विद्वानों ने संस्कृति की विविध परिभाषाएँ दी हैं, जो उसके स्वरूप को अभिव्यक्त करती है-

पं. जवाहरलाल नेहरू-

''सम्पूर्ण संसार में जो भी सर्वोत्तम मानी या कही है उनसे अपने आपको परिचित करना संस्कृति है।''[12]

प्रस्तुत परिभाषा संस्कृति को आदर्श रूप में व्यक्त करती है। यह परिभाषा संस्कृति के स्वरूप को विश्लेषित करने वाली नहीं होने के कारण इसे संक्षिप्त परिभाषा कहा जा सकता है, लेकिन सारगर्भित परिभाषा नहीं।

आचार्य चतुरसेन के अनुसार-

''आध्यात्मिक और आधिभौतिक शक्तियों को सामाजिक जीवन के लिए उपयोगी तथा अनुकूल बनाने की कला को संस्कृति कहते हैं।''[13]

संस्कृति को सिर्फ साधन माना गया है जबकि संस्कृति तो साधन और साध्य दोनों है। आध्यात्मिक और आधिभौतिक शक्तियों का योग भी संस्कृति का ही स्वरूप है।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार-

''व्यक्ति के अन्तर का विकास संस्कृति है।''

केवल व्यक्ति के आन्तरिक विकास को ही संस्कृति मान लेने से संस्कृति का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित हो जाएगा, क्योंकि संस्कृति में तो व्यक्ति के बाह्य विकास को भी शामिल किया जाना चाहिए।

मैलिनोवस्की के अनुसार-

''संस्कृति में पैतृक निपुणताएं, श्रेष्ठताएं, कलागत प्रियता, विचार, आदतें और विशेषताएँ सम्मिलित रहती हैं, अतः संस्कृति का सम्बन्ध दर्शन और धर्म से लेकर सामाजिक संस्थाओं तथा रीति-रिवाजों तक मानव जीवन की समस्त महत्वपूर्ण विचार प्रणालियों से है।''[15]

संस्कृति सिर्फ पैतृक निपुणता या विशेषताओं का नाम नहीं है, क्योंकि संस्कृति समय, स्थान एवं परिस्थितियों के अनुरूप बदलती रहती है।

डॉ. रामजी उपाध्याय के अनुसार-

''संस्कृति वह प्रक्रिया है जिससे किसी देश के सर्वसाधारण का व्यक्तित्व निष्पन्न होता है।''[16]

संस्कृति एक व्यापक अवधारणा है इसे किसी देश विशेष से नहीं जोड़ा जा सकता है।

कन्हैयालाल मुंशी के अनुसार-

''संस्कृति जीवन के उन सम तोलों का नाम है जो मनुष्य के अन्दर व्यवहार, ज्ञान और विवेक पैदा करते हैं।''[17]

यह परिभाषा एकपक्षीय है क्योंकि व्यक्ति के केवल आन्तरिक गुणों को ही नहीं अपितु उसके रहन-सहन, खान-पान तथा चाल-चलन आदि बाह्य तत्त्वों को भी संस्कृति का अविभाज्य अंग माना जाता है।

अलबर्ट आइन्सटाइन के अनुसार-

''संस्कृति वह है जो व्यक्ति की आत्मा को मांझकर दूसरों के उपकार के बदले (एवज) में उसे नम्र और विनीत बनाती है अर्थात् व्यक्ति का सांस्कृतिक महत्व इस बात पर निर्भर करता है कि उसने अपने अहम् से अपने को कितना बन्धन मुक्त कर लिया है।''[18]

आइन्सटाइन ने संस्कृति को मात्र आध्यात्मिकता के आइने में देखा है, उन्होंने संस्कृति में से भौतिकता को पूर्णतः दरकिनार कर दिया है, जो उपयुक्त

नहीं कहा जा सकता।

स्वामी सत्यदेव के अनुसार-

''संस्कृति मानव को अन्तर्मुखी करके उसके सात्त्विक गुणों को प्रकट करती है।''[19]

स्वामी सत्यदेव ने संस्कृति के आध्यात्मिक पक्ष को ही उभारने की कोशिश की है जबकि संस्कृति व्यक्ति को अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी बनाने के साथ-साथ उसके सात्त्विक और अन्यान्य गुणों को भी अभिव्यक्त करती है।

निकोलाई रोरिक के अनुसार-

''संस्कृति प्रकाश की आराधना है, मानव का प्रेम है, वह सुगंध है, जीवन और सौन्दर्य की एकता है। वह ऊँचा उठाने वाली भावनात्मक योग्यताओं का समन्वय है। वह मुक्ति है, प्रेरक शक्ति है, वह हृदय है। संस्कृति क्रियात्मक शिव, ज्ञान की वेदी और रचनात्मक सौन्दर्य है।''[20]

निकोलोई ने भी संस्कृति को सिर्फ हृदय से जोड़ने की कोशिश की है जबकि संस्कृति हृदय और मस्तिष्क का संगम है। यह सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् का समन्वित रूप है।

डॉ. राममूर्ति चौधरी के अनुसार-

''मानव समाज के विविध क्रियाकलापों तथा उनके प्रेरक मूल्यों एवं मान्यताओं की संज्ञा को संस्कृति कहते है।''[21]

डॉ. राममूर्ति की प्रस्तुत परिभाषा में संस्कृति के तीन महत्वपूर्ण तत्त्वों मानव के सामाजिक क्रियाकलापों, मूल्यों और मान्यताओं को ही संस्कृति कहा गया है, इस कारण प्रस्तुत परिभाषा संक्षिप्त लेकिन सारगर्भित कही जा सकती है।

E.B. Tylor-

"Culture is that complex whole which includes knowledge, belief, art, morals, law, custom and any other capabilities and habits acquired by man as a member of society."[22]

टायलर ने संस्कृति को विस्तार से परिभाषित किया है उन्होंने संस्कृति को जन्मजात न मानकर अर्जित माना है और इसकी हस्तान्तरणीयता को भी स्वीकार किया है।

डॉ. व्हाइटहेड के अनुसार-

''मानसिक प्रयास, सौन्दर्य और मानवता की अनुभूति का नाम संस्कृति

है।''[23]

प्रस्तुत परिभाषा के अनुसार संस्कृति का स्वरूप पूर्णत: अध्यात्म पर ही आधारित होता है, अत: यह परिभाषा एकांगी है।

पिडिंगटन के अनुसार-

''संस्कृति उन भौतिक तथा बौद्धिक साधनों या उपकरणों का सम्पूर्ण योग है जिनके द्वारा मानव अपनी प्राणिशास्त्रीय एवं समाजिक आवश्यकताओं की संतुष्टि करता है तथा अपने आपको अपने पर्यावरण के अनुकूल बनाता है।''[24]

आध्यात्मिक आवश्यकताओं की संतुष्टि की बात न कहने के कारण इस परिभाषा को भी पूर्ण नहीं माना जा सकता।

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार-

''संस्कृति विवेक बुद्धि का जीवन भली प्रकार मान लेने का नाम है।''[25]

डॉ. राधाकृष्णन ने संस्कृति को अत्यन्त संकुचित अर्थ में परिभाषित किया है। संस्कृति को सामाजिक परिवेश में नहीं देखा गया है जबकि संस्कृति और समाज का चोली-दामन का सम्बन्ध जगजाहिर है।

डॉ. रामधारीसिंह दिनकर के अनुसार-

''संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं।''[26]

उपर्युक्त परिभाषा में संस्कृति में नवाचार को स्वीकार नहीं किया गया है, जो उचित नही लगता। ऐसा करने से संस्कृति एक तालाब के समान हो जाएगी, जबकि संस्कृति तो एक बहती हुई नदी के पानी के समान है, जो नवाचार को सहर्ष स्वीकार करती है।

डॉ. सत्यकेतु के अनुसार-

''मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र में जो सृजन करता है या चिन्तन द्वारा अपने जीवन को सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् बनाने के लिए जो प्रयत्न करता है, उसका परिणाम संस्कृति के रूप में होता है या उसी को संस्कृति कहते है।''[27]

सत्यकेतु ने संस्कृति को व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण से देखा है जो उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि संस्कृति के अस्तित्व की कल्पना सामाजिक पृष्ठभूमि

के बिना करना दिवास्वप्न के समान है।

वाचस्पति गैरोला के अनुसार-

''समस्त मानव समाज के विकास की व्यष्टिमय और समष्टिमय उपलब्धियाँ ही संस्कृति है।''[28]

केवल उपलब्धियाँ ही संस्कृति नहीं है, कमियाँ या बुराइयाँ भी संस्कृति है, भले ही हम उन्हें अपसंस्कृति का नाम क्यों न दे दें, लेकिन हमें उन्हें संस्कृति के एक अंग के रूप में स्वीकार करना ही होगा।

E.A. Hocbel-

"Culture is the sum total of integrated behavior patterns which are characteristics of the member of a society and which are therefore, not the result of biological inheritance."[29]

उपर्युक्त परिभाषा संक्षिप्त और सारगर्भित परिभाषा कही जा सकती है लेकिन इस परिभाषा में संस्कृति को अर्जित ही माना गया है जबकि संस्कृति जन्मजात विकसित भी हो सकती है।

श्यामाचरण दुबे के अनुसार-

''संस्कृति के माध्यम से व्यक्ति अपने जीवन की पूर्ण पृष्ठभूमि में अपना स्थान पाता है और संस्कृति के द्वारा उसे जीवन में रचनात्मक संतोष के साधन उपलब्ध होते हैं।''[30]

प्रस्तुत परिभाषा में संस्कृति को सिर्फ व्यक्ति के दृष्टिकोण से देखा है, सामाजिक दृष्टिकोण से नहीं। संस्कृति सिर्फ संतोष का ही नहीं बल्कि कई बार असंतोष का भी कारण बनती है।

आचार्य देवेन्द्र मुनि शास्त्री के अनुसार-

''संस्कृति वह है जिसमें नानाविध धर्म-साधना, कलात्मक प्रयत्न, योगमूलक अनुभूति और तर्कमूलक कल्पना शक्ति है, जिससे मानव विराट सत्य को प्राप्त करता है। संस्कृति एक प्रकार से विजय यात्रा है, असत् से सत् की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर, मृत्य से अमृत की ओर बढ़ने का प्रयास है।''[31]

प्रस्तुत परिभाषा अध्यात्म केन्द्रित होने के कारण एकांगी कही जा सकती है। संस्कृति में भौतिक पक्ष का अध्ययन भी शामिल है।

लॉवेल के अनुसार-

''संस्कृति उन वस्तुओं के आनन्द से सम्बन्धित है, जिनको संसार सुन्दर

मानता है, यह उस ज्ञान की रूचि से संबंधित है, जिसको मानव मूल्यवान समझता है। संस्कृति उन सिद्धान्तों का निरूपण करती है, जिनको समूह ने सत्य मान लिया है।''[32]

संस्कृति सिर्फ सकारात्मक भावों का ही नाम नहीं है बल्कि यह सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार के भावों का योग है।

डॉ. मंगलदेव शास्त्री के अनुसार-

''किसी देश या समाज के लिए विभिन्न जीवन-व्यापारों अथवा सामाजिक संबंधों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले उन आदर्शों की समष्टि ही संस्कृति है।''[33]

डॉ. शास्त्री ने संस्कृति को आदर्श के पर्याय के रूप में प्रस्तुत किया है, जो सही नहीं है, क्योंकि व्यवहार के धरातल पर उतरे बिना 'आदर्श' संस्कृति नहीं कहे जा सकते हैं।

प्रो. ए.के. चक्रवर्ती के अनुसार-

"Culture of a people means the way of life of that people."[34]

यह परिभाषा अत्यन्त संकुचित परिभाषा है। इस परिभाषा में समाज को संस्कृति से पूरी तरह अलग रखा है।

आचार्य विद्यानन्दजी के अनुसार-

''संस्कृति आत्मिक सौन्दर्य की जननी है। इसी के अनुशासन में सुसंस्कार सम्पन्न मानव जाति का निर्माण होता है। सम्पन्नता और संस्कृति में बहिरंग और अंतरंग का अंतर है। निष्कर्ष यह है कि लोक मांगलिक भावना की छाया में जो विचार और आचार निष्पन्न होते हैं, संस्कृति उन्हीं की समष्टि है।''[35]

आचार्य विद्यानन्दजी की यह परिभाषा संस्कृति को अध्यात्म अनुप्राणित सिद्ध करती है। परिभाषा सटीक और सुन्दर होते हुए भी संपूर्ण नहीं कही जा सकती, क्योंकि भौतिकता के दामन को छोड़ा नहीं जा सकता है।

आचार्य तुलसी के अनुसार-

''आचार और विचार की रेखाएँ बनती हैं और मिटती हैं। जो बनता है, वह निश्चित मिटता है परन्तु मिटकर भी जो अमिट रहता है, अपना संस्थान छोड़ जाता है- वह है संस्कृति।''[36]

आचार्य तुलसी ने संस्कृति के सैद्धान्तिक पक्ष के साथ-साथ व्यावहारिक

पक्ष को भी समान महत्व देते हुए आचार और विचार के समन्वय-समानता को संस्कृति माना है। आचार्य तुलसी संस्कृति को शाश्वत मानते हैं। उन्होंने संस्कृति को कोरी आध्यात्मिकता या कोरी भौतिकता के सांचे में ढालने का प्रयास नहीं किया है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि संस्कृति अनवरत प्रवाहमान रहने वाली सरिता के समान गतिमान रहती है। ज्ञान और कर्म दोनों के प्रकाशपुंज का नाम संस्कृति है। जीवन रूपी विटप के पुष्प के रूप में संस्कृति का परिचय दिया जा सकता है। संस्कृति जीवन विकास की युक्ति का प्रकट रूप है। संस्कृति के सौरभ एवं सौन्दर्य में ही सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन का यश और सौन्दर्य निहित है। संस्कृति जीवन का पर्याय ही नहीं अपितु वह तो जीवन की कुंजी है। वास्तव में संस्कृति किसी व्यक्ति विशेष से संबंधित न होकर सारे समुदाय, समाज और राष्ट्र से सम्बन्धित होती है।

संस्कृति समाज के प्रत्येक पहलू में व्याप्त रहती है। प्रत्येक समाज को कुछ न कुछ आनुवांशिक रूप में जो भी अपने पूर्ववर्ती लोगों से अर्जित होता ही है। संस्कृति मानवीय व्यक्तित्व की वह विशेषता है जो उस व्यक्तित्व को एक विशिष्ट अर्थ में महत्वपूर्ण बनाती है।

संस्कृति की विचारधारा को और अधिक स्पष्ट एवं ग्राह्य बनाने के लिए इसके अर्थ और स्वरूप की जानकारी के साथ इसकी विशेषताओं का निरूपण अपरिहार्य हो जाता है। उपर्युक्त विवेचन के परिणामस्वरूप संस्कृति की प्रमुख विशेषताएँ जो हमारे समझ में आती हैं, उनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

संस्कृति की विशेषताएँ

संस्कृति की विशेषताओं को दो भागों में बाँटना स्पष्टता की दृष्टि से श्रेयस्कर रहेगा-

(अ) सामान्य विशेषताएँ

(ब) विशिष्ट विशेषताएँ (भारतीय संस्कृति के संदर्भ में)

सामान्य विशेषताएँ[37]

ऐसी विशेषताएँ जो सभी संस्कृतियों में विद्यमान रहती हैं, उन्हें हम सामान्य विशेषताओं की श्रेणी में शामिल कर सकते हैं। संस्कृति की कतिपय

सामान्य विशेषताएँ अग्रांकित हो सकती हैं-

1. मानव निर्मित

सम्पूर्ण सृष्टि में मानव ही एक ऐसा प्राणी है जो अपने आप संस्कृति से जुड़ा रहा है और निरन्तर संस्कृति के निर्माण-परिष्कार में संलग्न रहा है। मानव अपनी शारीरिक संरचना, बौद्धिक क्षमता तथा वाक्शक्ति के कारण ही संस्कृति का निर्माण कर सकता है।

इसी शारीरिक संगठन, बौद्धिक चेतना के कारण उसने नए-नए आविष्कार किए हैं तथा उन आविष्कारों का निरंतर परिवर्तन एवं परिवर्द्धन भी करता रहता है। संस्कृति ही एक ऐसा तत्त्व है जिसके कारण मनुष्य इस प्राणिजगत में अपने आपको श्रेष्ठ प्राणी कहलाने की क्षमता रखता है।

2. सीखने की प्रक्रिया का परिणाम है संस्कृति

मनुष्य पैदा होते समय संस्कृति को साथ लेकर पैदा नहीं होता अपितु धीरे-धीरे वह सामाजिक परिवेश के अनुरूप संस्कृति को सीखता है, सामाजिक विशिष्टताओं को ग्रहण करता है। इन्हीं गुणों के विकसित होने पर ही वह संस्कृति को सम्पूर्ण रूप से सीखने में समर्थ हो सकता है।

यद्यपि आचार-व्यवहार को सीखने की क्षमता पशु में भी होती है, लेकिन वह पशु अपने उस संस्कृतिनिष्ठ व्यवहार को लेकर पशुजगत में नहीं जा सकता, वह अपने आप तक ही सीमित रहता है। पशु द्वारा सीखा गया व्यवहार मानव की तरह सामूहिक व्यवहार का अंश नहीं हैं अपितु केवल पशु तक ही सीमित है, जबकि मानव द्वारा सीखा गया व्यवहार उसके अकेले का नहीं अपितु समूह का होता है। उसी व्यवहार से प्रथाएँ, रीति-रिवाज, परम्पराएँ और रूढ़ियाँ जन्म लेती हैं, जिनका परिष्कृत स्वरूप संस्कृति है। इस प्रकार संस्कृति के विषय में यह कहा जा सकता है कि इसका प्रवाह आनुवांशिक नहीं होता अपितु इसे तो सीखना होता है।

3. संस्कृति हस्तांतरणीय है

वैसे तो सामान्य सिद्धान्त के रूप में यह कहा जा सकता है कि संस्कृति को मानव को सीखना पड़ता है, लेकिन कुछ सांस्कृतिक विशेषताएँ ऐसी होती हैं जो मनुष्य की एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी और एक समाज से दूसरे समाज को हस्तांतरित की जाती है।

संस्कृति की इस हस्तांतरणीयता में भाषा महत्वपूर्ण माध्यम है, क्योंकि भाषा के माध्यम से ही मनुष्य अपने विचारों को दूसरों तक पहुँचाने का कार्य करता है। नई पीढ़ी अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी के ज्ञान का लाभ लेती है, इसी हस्तांतरण के कारण ही संस्कृति का कोष निरन्तर बढ़ता जा रहा है।

4. संस्कृति की विशिष्टता

प्रत्येक समाज का अपना अलग इतिहास, अपनी विशिष्ट परम्पराएँ एवं सामाजिक परिस्थितियाँ होती हैं और ये परम्पराएँ और परिस्थितियाँ ही उन समाजों को एक-दूसरे से पृथक करती हैं। इसी कारण यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक समाज की आवश्यकताएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। इन भिन्नताओं के कारण ही सांस्कृतिक भिन्नता हमें दृष्टिगोचर होती है, लेकिन मुरडॉक, बील्स और हाइजर आदि समाजशास्त्रियों का मानना है कि हमें संस्कृतियों में जो भिन्नता दिखाई देती है, वह भिन्नता केवल बाहरी ही है। मूल रूप में ऐसे तत्त्व बहुत कम होते हैं, जो सभी समाजों एवं व्यक्तियों में समान रूप से दिखाई देते हैं। व्यापक रूप में जो विशिष्टताएँ *दिखाई देती हैं, एक-दूसरे से भिन्न होती हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक* व्यक्ति एवं समाज की अपनी विशिष्ट संस्कृति होती है।

5. सामाजिकता से अवगुंथित

संस्कृति कभी भी व्यक्ति विशेष की देन नहीं होती अपितु वह तो समाज की देन होती है। समाज के कारण ही संस्कृति में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। समाज के अभाव में संस्कृति की कल्पना नहीं की जा सकती है। संस्कृति के अभाव में समाज अंधा होता है और समाज के अभाव में संस्कृति अपंग होती है।

रीति-रिवाज, परम्पराएँ, आचार-व्यवहार, धर्म, कला आदि ऐसे तत्त्व हैं जो किसी व्यक्ति का नहीं बल्कि समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं, अतः कहा जा सकता है कि समाज और संस्कृति का आपस में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

6. संस्कृति-आवश्यकताओं की सम्पूरक

संस्कृति मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक है। मनुष्य की कई आवश्यकताएँ होती हैं, जिनमें सामाजिक, शारीरिक एवं मानसिक प्रमुख हैं। इनकी पूर्ति के लिए ही संस्कृति का निर्माण किया जाता है।

संस्कृति का एक भी तत्त्व ऐसा नहीं होता है कि जिससे आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती है। कोई भी सांस्कृतिक तत्त्व तभी तक अस्तित्व में रह पाता है

जब तक वह मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति करता हो, जब वह इस प्रकार का कार्य नहीं करता तो मनुष्य उसे त्याग देता है और वह तत्त्व समाप्त हो जाता है।

7. अनुकूलन की क्षमता

जिस प्रकार नदी बहते समय अपने अनुकूल मार्ग का निर्माण कर लेती है और मार्ग के अनुरूप अपना आकार भी निर्धारित कर लेती है, ठीक उसी प्रकार संस्कृति भी समय, स्थान एवं परिस्थितियों के अनुरूप ढल जाती है, अत: यह कहा जा सकता है कि संस्कृति में अनुकूलन की क्षमता होती है।

8. संतुलन एवं संगठन

संस्कृति अपने आप में कोई एक पूर्ण तत्त्व नहीं है अपितु कई इकाईयों से मिलकर संस्कृति का निर्माण होता है। विद्वानों का मानना है कि 'संस्कृति-तत्त्व' और 'संस्कृति-संकुल' मिलकर ही संस्कृति का निर्माण करते हैं। विभिन्न इकाईयों में एकता की जो प्रवृत्ति होती है, उस एकरूपता की ओर खिंचाव ही संस्कृति को समग्रता प्रदान करता है।

इन विशेषताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि संस्कृति मानव जाति की सर्वोच्च उपलब्धि है। वाचस्पति गैरोला ने अपनी कृति 'भारतीय संस्कृति और कला' में लिखा है-

'जिस प्रकार हरी मिट्टी को संस्कृत करने से भास्वत् ताम्र मिल सकता है, वैसे ही मनुष्य जाति रूपी स्थूल धातु को संस्कृति द्वारा भावित करने से उत्तम मानसिक एवं सामाजिक गुण प्रादुर्भूत होते हैं। मानवता को संस्कार सम्पन्न बनाने वाली शिक्षा-दीक्षा, रहन-सहन और परम्पराएँ ही संस्कृति के उद्भावन हैं। संस्कृति एक सामाजिक विरासत है।'[38]

विशिष्ट विशेषताएँ (भारतीय संस्कृति के संदर्भ में)

मानव को सुसंस्कृत करना न तो एकाएक संभव है और न ही इतना सरल ही। इसमें किसी एक व्यक्ति, धर्म, संस्कार, समय अथवा परिस्थिति का योगदान अथवा प्रभाव ही नहीं होता अपितु सतत प्रवाहित होने वाली परम्परा का योगदान होता है, जिसके ये सभी अंग हैं। भारतीय संस्कृति भी इसका अपवाद नहीं है। यह कितने ही धरातलों और स्थलों को पार करके भी अपने मूल रूप से जुड़ी रही और निरन्तर प्रवाहित भी होती रही। यही कारण है कि इसे सनातन संस्कृति का नाम दिया गया और भारत का धर्म-सनातन धर्म है।

'भारतीय समाज एवं संस्कृति' में लिखा है- ''अपने सुदीर्घ इतिहास में भारत के निवासियों ने एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था एवं संस्कृति का विकास किया, जो अपने आप में मौलिक, अनूठी और विश्व की अन्य संस्कृतियों एवं सामाजिक व्यवस्थाओं से भिन्न है। इस देश के महापुरुष, तीर्थस्थान, प्राचीन कलाकृतियाँ, धर्म, दर्शन और सामाजिक संस्थाएँ, भारतीय समाज एवं संस्कृति के सजग प्रहरी रहे हैं। उन्होंने इस देश की संस्कृति को अजर-अमर एवं जीवन्त बनाए रखने में योग दिया है।''[39]

भारत की भौगोलिक सीमाएँ विशाल एवं समृद्ध हैं। यही कारण है कि इसकी संस्कृति भी इतनी विशाल, विविधता से परिपूर्ण, व्यापक एवं समृद्धशाली है।* भारत की भौगोलिक सीमाओं का परिचय विष्णु पुराण में मिलता है-

''उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेस्चैव दक्षिणम्।
वर्ष तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्तति।।''[40]

भारतीय संस्कृति अपनी विविधताओं के कारण कभी भी छिन्न-विछिन्न नहीं हुई अपितु इन विविधताओं को अपने में समाहित कर और अधिक समृद्धशाली हुई है। भारतीय संस्कृति के निर्माण में भौगोलिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक एकता ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भारतीय संस्कृति के धार्मिक ग्रंथों यथा जैनागमों, वेदों, पुराणों, रामायण, महाभारत आदि में इस महान् भारतीय संस्कृति का चित्रण हुआ है, जिसका प्रत्येक भारतीय के जीवन पर गहरा प्रभाव है। हमारे ऋषि-मुनियों व आचार्यों ने इस संस्कृति का व्यावहारिक रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत किया, जो विभिन्न जातियों तथा सम्प्रदायों के आचार-विचारों, विश्वासों और आध्यात्मिक समन्वय से बनी है। इसी भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं का निरूपण इस प्रकार है-

1. प्राचीनतम संस्कृति[41]

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक मानी जाती है। वैसे चीन व मिस्र की सभ्यताएँ भी प्राचीन रही हैं, लेकिन सिंधु घाटी की सभ्यता सर्वाधिक प्राचीन संस्कृति मानी जाती है। जैन संस्कृति अनादि-अनन्त है। अन्य देशों की संस्कृतियाँ अवशेष रूप में देखने को मिलती है। बाहरी संस्कृतियों के आक्रमणों के बावजूद हमारी संसकृति अक्षुण्ण बनी हुई है,

* भरतक्षेत्र की विस्तृत जानकारी के लिए देखें 'जम्बूद्वीप'- प्रकाशक- श्री अ.भा.सा. जैन संघ

हालांकि अन्यान्य संस्कृतियों के प्रभाव से हमारी संस्कृति में परिवर्तन अवश्य हुए हैं, लेकिन हमारी संस्कृति के मूलाधार ज्यों के त्यों विद्यमान है। आज भी हमारा जीवन प्राचीन संस्कृति के अनुसार ही संचालित हो रहा है।

2. आत्मवत् सर्वभूतेषु[42]

भारतीय संस्कृति विश्वकल्याण की भावना से ओतप्रोत रही है। जैन संस्कृति में तो केवल मानव कल्याण ही नहीं अपितु जीवमात्र के कल्याण की बात कही गई है। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है- **''परस्परोपग्रहोजीवानाम्।''**[43]

सर्वकल्याण की भावना को व्यक्त करते हुए कहा गया है-

''सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत।।''[44]

इस सार्वजनीन कल्याण भावना का मूल आधार यह है कि समस्त जीवों में हमारी तरह ही चैतन्य तत्त्व की सत्ता विद्यमान है जो समस्त चराचर जगत को क्रियाशील बनाए हुए है। हमारी तरह सभी में सुख-दुःख से वेदन होता है किन्तु सभी को सुख प्रिय, दुःख अप्रिय है।

विश्वकल्याण की यही भावना सम्पूर्ण विश्व को परिवार का रूप देती है। तभी तो यहाँ की संस्कृति में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना फलवती हो रही है।

3. सहिष्णुता

भारत में अनेकानेक जातियों, धर्मों और संस्कृतियों का आगमन हुआ, भारतीय संस्कृति ने इन सभी को आत्मसात् कर लिया। हमने उन बाह्य संस्कृतियों को न केवल स्वीकार किया बल्कि उन्हें फूलने-फलने का अवसर भी दिया। यहाँ किसी भी संस्कृति का दमन नहीं किया गया और न ही किसी समूह पर हमने अपनी संस्कृति थोपने का प्रयास ही किया। इस सदंर्भ में शुक परिव्राजक एवं थावच्चापुत्र की चर्चा मननीय है।[45] जैनागम में कहा गया है कि-''समण वह है जो पुरस्कार के पुष्पों को पाकर प्रसन्न नहीं होता और अपमान के हलाहल को देखकर खिन्न नहीं होता, अपितु सदा सम रहता है।''[46]

4. समन्वय की संवाहक[47]

भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है- समन्वय। विरोधी तत्त्वों, विचारों, सम्प्रदायों, घटकों तथा व्यक्तियों के बीच समन्वय की भावना रखकर

भारतीय संस्कृति ने राष्ट्र और समाज को खण्ड-खण्ड होने से बचा लिया। यह भारतीय संस्कृति की उदारता रही कि उसने विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच सद्भाव रखते हुए विभिन्न संस्कृतियों को अपने में समन्वित कर लिया। भारतीय समाज एवं संस्कृति में समन्वय की महान शक्ति है और उसी शक्ति के बल पर अद्यतन भारतीय संस्कृति विद्यमान है।

समन्वय की इसी भावना पर अपनी सहमति प्रकट करते हुए डॉ. रामधारीसिंह दिनकर ने लिखा है-

''समन्वय का उदाहरण चीटियाँ भी उपस्थित करती हैं, परन्तु भारत में समन्वय की प्रक्रिया चींटियों की नहीं, मधुमक्खियों की प्रक्रिया रही है। भारतीय संस्कृति अनेक संस्कृतियों से बना हुआ मधु है और उसके ऊपर यद्यपि आर्यों का लेबल बहुत स्पष्ट है, किन्तु आर्यों का महत्व उतना ही है जितना मधु-निर्माण में मधुमक्खियों का होता है।''[48]

समन्वय की इसी विशेषता का परिचय देते हुए पं. जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है-

''ईरानी और यूनानी लोग, पार्थियन और वैक्ट्रिन लोग, सीथियन और हूण लोग, मुसलमानों से पहले आने वाले तुर्क और ईसा की प्रारंभिक सदियों में आने वाले ईसाई, यहूदी और पारसी, ये सब के सब, एक के बाद एक भारत में आए और उनके आने से समाज ने एक कम्पन्न का भी अनुभव किया, मगर अन्त में वे सब भारतीय संस्कृति के महासमुद्र में विलीन हो गए, उनका कोई अलग अस्तित्व नहीं बचा।''[49] आज भी भारतीय संस्कृति विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, जातियों व वर्णों को समन्वित किए हुए है।

5. धर्मोन्मुख संस्कृति[50]

भारतीय दर्शन में कभी भी हिन्दू, मुसलमान, जैन या बौद्ध के रूप में धर्म का प्रयोग नहीं हुआ। धर्म का वास्तविक स्वरूप वही है जिसे मनुष्य अपनाता है अथवा धारण करता है- 'धारयति इति धर्मः' अर्थात् जो धारण करने योग्य है अथवा जिसे धारण कर हम अपने जीवन को अनुशासित रूप में आगे बढ़ा सकें, उसे ही धर्म स्वीकार किया गया है। धर्म के चार द्वार हैं- क्षमा, संतोष, सरलता और नम्रता।[51] इन सभी गुणों को धर्मोन्मुख भारतीय संस्कृति में देखा जा सकता है। गीता में श्रीकृष्ण मानव के कर्त्तव्य को ही धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं।

वे अर्जुन को कहते हैं कि मनुष्य का जो कर्त्तव्य है, वही उसका सबसे बड़ा धर्म है, वही उसकी सच्ची उपासना है। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करते हुए ईश्वर को प्राप्त कर सकता है- ''स्वकर्मणा तमर्भ्यच: सिद्धि विन्दति मानवा: ।''[52]

अब प्रत्येक कर्म को ही धर्म का स्वरूप दे दिया गया है तब यह बात एकदम निश्चित है कि भारतीय संस्कृति पूर्णरूपेण धर्मपरायण-धर्मोन्मुखी संस्कृति है।

6. कर्म की प्रधानता

भारतीय संस्कृति में कथनी और करनी की समानता पर बल दिया गया है। केवल भावनाओं या आदर्शों से विकास के शिखर पर आरोहण नहीं किया जा सकता है। वही मानव श्रेष्ठ मानव स्वीकार किया गया है जिसके हाथ में कर्मठता की कुल्हाड़ी हो। असत्य कहना या कहकर न करना भी मानव की दुर्बलता मानी गई है। सत्कर्म पर विशेष बल दिया गया है। संस्कृति सम्मत आचरण को ही उपयुक्त माना गया है तथा यह निर्देश भी दिया गया है कि जहाँ संशय है वहाँ उसी मार्ग का अनुसरण करना चाहिए जिसका अनुकरण पूर्वकाल में किया गया है। कर्मफल को वर्णित करते हुए कहा गया है- ''अच्छे कर्म का फल अच्छा होता है। बुरे कर्म का फल बुरा होता है।''[53] जो व्यक्ति अपने नियत कर्म के अनुसार आगे बढ़ता है, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसे दक्षता, पूर्णता एवं सफलता प्राप्त होती है। जिसका उल्लेख भगवान श्रीकृष्ण गीता में करते हैं-

''स्वेस्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धि लभते नर:।
स्वकर्म निरत: सिद्ध यथा विन्दति तच्छृणु।।''[54]

निष्काम कर्मयोग को भी बहुत उच्चता प्रदान की गई है। कर्म में रत रहने वाले व्यक्ति को ही कर्मयोगी कहा गया है। इसी के साथ-साथ भारतीय दर्शन में चार पुरुषार्थ स्वीकार किए गए हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मनुष्य का प्रत्येक कर्म इन चार पुरुषार्थों पर आधारित होता है।

7. अहिंसा परमोधर्म:[55]

भारतीय संस्कृति में अहिंसा को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। हिंसा को हर दृष्टि में त्याज्य माना गया है। हिंसा चाहे सूक्ष्म रूप में हो या व्यापक रूप में उसे किसी भी स्तर पर स्वीकार नहीं किया गया है। सभी धर्मों में अहिंसामय जीवन को सर्वोच्च मान्यता दी गई है। जैनागम में अहिंसा के आधार को स्पष्ट

करते हुए कहा गया है- ''सभी जीवों को अपना आयुष्य प्रिय है, सुख अनुकूल है और दुःख प्रतिकूल है। वध सभी को अप्रिय लगता है और जीना सबको प्रिय लगता है।''[56] भगवान महावीर ने अठारह धर्मस्थानों (1. प्राणातिपात विरमण, 2. मृषावाद विरमण, 3. अदत्तादान विरमण, 4. मैथुन विरमण, 5. परिग्रह विरमण 6. रात्रि भोजन त्याग, 7. पृथ्वीकाय रक्षण, 8. अप्काय रक्षण, 9. अग्निकाय रक्षण, 10. वायुकाय रक्षण, 11. वनस्पतिकाय रक्षण, 12. त्रसकाय रक्षण, 13. अकल्पनीय वस्तु ग्रहण न करना, 14. गृहस्थ के बर्तन में नहीं खाना, 15. पलंग काम में न लेना, 16. गृहस्थ के घर नहीं बैठना, 17. स्नान का त्याग, 18. शोभा (शृंगार वर्जन) में प्रथम स्थान अहिंसा का कहा है। इसे उन्होंने सूक्ष्मता से देखा है। सब जीवों के प्रति संयम रखना अहिंसा है।[57] भारत-पाकिस्तान के बीच अत्यन्त तनावपूर्ण स्थिति होने के बावजूद युद्ध न होने का कारण भारतीय संस्कृति का अहिंसा प्रधान या अहिंसा-आधारित होना है।

8. संस्कार सम्पन्न संस्कृति[58]

भारतीय समाज एवं संस्कृति की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता इसकी संस्कार सम्पन्नता है। यहाँ यह स्वीकार किया गया है कि मनुष्य का जीवन संस्कारों का पुञ्ज है और उसका सम्पूर्ण जीवन आश्रमों की भांति ही इन संस्कारों में विभक्त किया गया है। इन संस्कारों की संख्या 16 स्वीकार की गई है[59] तथा मानव जीवन षोड्ष संस्कारयुक्त माना गया है। ये सम्पूर्ण संस्कार मनुष्य के जन्म के पूर्व से लेकर मृत्यु पर्यन्त चलते रहते हैं। इन संस्कारों को सम्पन्न किए बिना जीवन को पूर्णता नहीं मिलती है। अशुभ शक्तियों के प्रभाव से व्यक्ति को पूर्णता नहीं मिलती है। अशुभ शक्तियों के प्रभाव से व्यक्ति को बचाना, संस्कार्य व्यक्ति के हित के लिए अभीष्ट प्रभावों को आमंत्रित एवं आकर्षित करना, सांसारिक समृद्धि प्राप्त करना, व्यक्ति को आत्माभिव्यक्ति के अवसर प्रदान करना तथा इसके अतिरिक्त स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति, नैतिक गुणों का विकास, व्यक्तित्व का निर्माण और विकास अथवा सामाजिकीकरण तथा भारतीय जीवन में आध्यात्मिकता के महत्व को प्रकट करना भी संस्कारों का उद्देश्य कहा जा सकता है। सोलह संस्कारों में आज सिर्फ जन्म, विवाह और अंत्येष्टि सम्बन्धी संस्कार ही विशेष रूप से प्रचलन में हैं, अन्य संस्कार पाश्चात्य संस्कृति के बढ़ते प्रभाव और वैज्ञानिक युग की चकाचौंध में गुम होते जा रहे हैं। संस्कृति के

निखार व रक्षण के लिए संस्कारों का संरक्षण अनिवार्य है।

9. अतिथि देवोभवः[60]

माता-पिता और गुरु के पश्चात् जिसे देवस्वरूप में ग्रहण किया गया है, वह अतिथि ही है अर्थात् घर पर जो मेहमान आता है, उसका सम्मान भी माता-पिता व गुरु के समान ही किया जाना चाहिए। एक लोक कहावत में आगन्तुक को सहोदर के रूप में स्वीकार करते हुए कहा गया है- ''घर आयो मां जायौ बराबर हुवै।'' जैन संस्कृति में 'अतिथि' शब्द को परिभाषित करते हुए कहा गया है- अतिथि यानी जिसके आने की तिथि तय न हो या जो बिना पूर्व सूचना के आता है। जैन संस्कृति में श्रमण को भी अतिथि कहा गया है। आवश्यकसूत्र में अतिथि संविभाग का भी उल्लेख मिलता है।[61]

10. शरणागत वत्सलता

शरणागत की रक्षा करना मानव मात्र का परम कर्त्तव्य है, यह भारतीय संस्कृति का संदेश है। भारतीय संस्कृति में शरणागत-वत्सलता की पराकाष्ठा को छूते हुए कहा है कि यदि शत्रु भी शरण में आ जाता है तो उसके प्राणों की रक्षा करना मानव का दायित्व है। शरणागत वत्सलता उदारता व क्षमा पर आधारित अवधारणा है।

जैन कथाओं[62] में राजा मेघरथ को इस गुण की दृष्टि से आदर्श रूप में प्रस्तुत किया गया है। राजा मेघरथ ने शरण में आए कबूतर की रक्षा के लिए अपना मांस काटकर बाज को दे दिया पर उस कबूतर को गिद्ध को नहीं दिया और उसे बचा लिया। शरणागत वत्सलता से अभिप्राय केवल आश्रय देना ही नहीं है, बल्कि अपने जीवन को बलिदान करके भी शरणागत की रक्षा करना, उस पर वार नहीं करना यानी येन-केन-प्रकारेण उसकी रक्षा करना ही शरणागत वत्सलता माना गया है।

11. ऋण का भाव

जैनागमों में तीन प्रकार के ऋण से उऋण होना कठिन माना है[63] यथा- 1. माता-पिता का, 2. स्वामी का, 3. धर्माचार्य का। भारतीय संस्कृति में पाँच प्रकार के ऋणों का नामोल्लेख मिलता है।[64] इनसे उऋण हुए बिना मुक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती है। ये ऋण हैं-1. देव ऋण, 2. ऋषि ऋण, 3. पितृ ऋण, 4. अतिथि ऋण, 5. भूत ऋण।

ऋण की इस अवधारणा की पृष्ठभूमि यह रही है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सामाजिक नैतिक दायित्वों का निर्वाह करने में सदैव सजग रहे। इस सम्बन्ध में 'भारतीय समाज एवं सामाजिक संस्थाएँ' नामक पुस्तक में कहा गया है कि- ''व्यक्ति दूसरों का इस दृष्टि से ऋणी है कि उन्होंने उसके विकास में अनेक रूपों में योग दिया है। उन सबके प्रति कर्त्तव्यों का पालन करके ही विभिन्न प्रकार के ऋणों से उऋण हो सकता है। इन ऋणों की अवधारणा के धरातल पर मानव में अनेक सद्गुणों, यथा- प्रेम, सहानुभूति, दया, उदारता, त्याग, आदर भावना, कर्त्तव्य परायणता का विकास हुआ है।''[65] मेरे दृष्टिकोण से इन ऋणों में मातृ ऋण को शामिल न किया जाना एक बहुत बड़ी विसंगति कही जा सकती है, क्योंकि व्यक्ति के निर्माण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका माता की होती है।

12. पुनर्जन्म[66]

भारतीय संस्कृति और दर्शन में कर्म के परिणाम-प्रभाव को बहुत अधिक महत्व दिया गया है लेकिन शरीर विभिन्न योनियों के रूप में परिवर्तित होता रहता है, कर्मों के अनुसार जन्म की प्राप्ति होती है। उत्तराध्ययन में कहा गया है कि संसारी जीव विविध प्रकार के कर्मों का अर्जन कर विविध नाम वाली जातियों में उत्पन्न हो, संसार में भिन्न-भिन्न स्वरूप का स्पर्श कर सब जगह उत्पन्न हो जाते हैं।[67] यह जीव अपने कृत कर्मों के अनुसार कभी देवलोक में, कभी नरक में तो कभी असुरों के निकाय में उत्पन्न होता है।[68]

13. धर्म युद्धों की परम्परा[69]

युद्ध में धर्म का पालन करना अत्यन्त कठिन कार्य है। पाश्चात्य जगत की तो यह धारणा है कि- "Everything is fair in love and war." यानी प्रेम और युद्ध में किया जाने वाला प्रत्येक कार्य उचित ही है किन्तु भारतीय संस्कृति में इसे सही नहीं माना गया है, चूंकि हमारे यहाँ युद्ध भी धर्म की विजय के लिए अथवा सत्य की रक्षा के लिए हुए, अतः धर्म युद्धों की परम्परा भारतीय संस्कृति की विशिष्ट पहचान कही जा सकती है।

निहत्थे, बालक, स्त्री, ब्राह्मण, वृद्ध, गौ और पीठ दिखाकर भाग जाने वाले व्यक्ति पर कभी भी वार नहीं किया जाता था। सूर्योदय के पूर्व और सूर्यास्त के पश्चात् युद्धों का नहीं होना, घेरकर आक्रमण नहीं करना, ललकारे बिना युद्ध नहीं करना आदि आदर्श सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर युद्ध किए जाने की

परम्परा रही है। हालांकि अभिमन्यु-वध, द्रोणाचार्य-वध, बाली-वध आदि अपवादजनक घटनाएँ भी भारतीय इतिहास में देखने को मिलती है लेकिन सामान्यतया क्षणिक विजय सा उन्माद में भी धर्म युद्ध की परम्पराओं को भंग नहीं किया जाता था।

14. नारी का सम्मान[70]

भारतीय संस्कृति में नारी को बहुत सम्मानीय स्थान दिया गया है। वह माता, बहन, पत्नी और सखी के रूप में प्रेरणा का स्रोत बनी रही है। नारी जगत-जननी है, दुर्गा है। हमारे समाज में माता का त्याग पिता से भी अधिक माना गया हे, अतः उसका स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्वीकार किया गया है। मनुस्मृति में कहा गया है कि नारी का स्वरूप सर्वत्र पूज्य है। जहाँ नारी की पूजा की जाती है, वहाँ देवता रमण करते हैं-

यत्र नार्येस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।[71]

भारतीय समाज में ऐसी नारियाँ भी हुई हैं जिन्होंने अपने स्वरूप की सार्थकता को सिद्ध किया है। यही कारण है कि नारी को नर की खान माना गया है। सती सीता, सावित्री, दमयंती, मैत्रेयी, पद्मिनी, अहिल्या, सती अंजना, झांसी की रानी, लक्ष्मीबाई, भामति आदि ऐसी नारियों के उदाहरण हमारे इतिहास में मिलते हैं, जिनसे भारतीय समाज गौरव का अनुभव करता है। तीर्थंकर की माता को स्वयं देवेन्द्र नमस्कार करता है।

भारतीय नारी ने परिवार और समाज के प्रति ही नहीं अपितु सम्पूर्ण मानवता के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह किया है। वह हमारे ऋषियों-मुनियों तथा आचार्यों की पत्नियों के रूप में ज्ञान की वाहिनी बनी, समाज को सन्मार्ग की ओर प्रेरित किया, उसने अपने तप, यज्ञ और साधना से सम्पूर्ण विश्व के शुद्धिकरण का महत्वपूर्ण कार्य किया है।

15. वर्णाश्रम व्यवस्था[72]

भारतीय संस्कृति में वर्णाश्रम व्यवस्था को सर्वाधिक महत्व प्राप्त है। ऋग्वेद के एक श्लोक में इस व्यवस्था का परिचय इस प्रकार मिलता है-

'ब्रह्मणोऽस्य मुखमासीद्, बाहुराजन्य कृतः।
उदरस्यास्या यद्वैश्यः, पद्भ्यांशूद्रोऽजायतः।।'[73]

अर्थात् ब्राह्मण मानव शरीर के मुख से, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य पेट से तथा शूद्र पैरों की उपमाओं से परिचित कराए गए हैं। ब्राह्मण को बुद्धि तथा शिक्षा प्रतीक माना गया, क्षत्रियों को शक्ति का प्रतीक, वैश्यों को भरण-पोषण तथा शूद्रों का सम्पूर्ण समाज की सेवा का दायित्व सौंपा गया है। जैनागमों में भी वर्णाश्रम व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि व्यक्ति कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है।

कम्मुणा बम्भणो होई, कम्मुणा होई खत्तिओ।
वइसा कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा।।

16. आश्रम व्यवस्था[74]

भारतीय दर्शन में मनुष्य की आयु 100 वर्ष स्वीकार कर उसे चार आश्रमों में विभक्त किया गया है। ये आश्रम इस प्रकार हैं- ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम। प्रत्येक के लिए 25-25 वर्ष नियत किए गए हैं। आश्रम व्यवस्था को व्यक्ति की आयु के अनुसार नियत किया गया है तथा इसमें पूर्ण वैज्ञानिकता दृष्टिगोचर होती है।

ब्रह्मचर्याश्रम में अध्ययन, गृहस्थाश्रम में गृहस्थ की सेवा, वानप्रस्थाश्रम में समाज एवं परिवार से दूर रहकर साधना को महत्व दिया गया, वहीं संन्यासाश्रम में सभी बंधनों से छूटकर जीवन का आधार साधना को स्वीकार किया गया है जो कि जीवन का अंतिम और चरम लक्ष्य है।

आश्रम व्यवस्था का निर्धारण व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक स्थिति को ध्यान में रखकर बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से किया गया है।

जैनागमों में आश्रम व्यवस्था का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं मिलता लेकिन कथावस्तु के आधार पर आश्रम व्यवस्था का अनुमान लगाया जा सकता है यानी उस समय आश्रम व्यवस्था किसी न किसी रूप में विद्यमान अवश्य थी।

17. विविधता में एकता[75]

भारत एक विराट् राष्ट्र है। इसकी भौगोलिक सीमाएँ दूर-दूर तक फैली हैं अतः यहाँ सहस्रों विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। ये विभिन्नताएँ धर्म, जाति-प्रजाति, सम्प्रदाय, भाषा, संस्कृति, भौगोलिक रचना एवं राजनैतिक दृष्टि से भी परिलक्षित होती हैं लेकिन भारतीय संस्कृति की यह विशेषता रही है कि उसने इन सभी विभिन्नताओं के होते हुए भी उसमें एकता बनाए रखी है। इन सभी विभिन्नताओं

के होते हुए भी उसमें एक ही आत्मा का संचरण है- भारतीयता।

सारांशत: यह कहा जा सकता है कि इन विशेषताओं के कारण ही भारत युग-युगान्तर तक विश्वगुरु रहा है और विश्व इतिहास में अपनी विशिष्ट अस्मिता से विश्व गगनमण्डल को आलोकित कर रहा है।

ज्ञाताधर्मकथांग में संस्कृति

ज्ञाताधर्मकथांग की कथाएँ केवल तत्त्व दर्शन को समझने के लिए ही नहीं अपितु तत्कालीन समाज और संस्कृति को जानने के लिए भी महत्वपूर्ण है।

आगम ग्रंथों का कोई एक रचनाकाल निश्चित नहीं है। महावीर के निर्वाण के बाद वल्लभी में सम्पन्न हुई आगम-वाचना के समय से इन आगमों का स्वरूप निश्चित हुआ है सुदीर्घ अतीत का जनजीवन इन आगमों में वर्णित हुआ है। ज्ञाताधर्मकथांग में प्राप्त समाज, संस्कृति, अर्थव्यवस्था, भौगोलिक स्थिति एवं राजनैतिक साक्ष्य कम उपलब्ध हैं, अत: उस समय की संस्कृति को जानने के लिए इन्हीं साहित्यिक साक्ष्यों पर निर्भर रहना पड़ता है। आगम ग्रंथों में तत्कालीन सांस्कृतिक स्थिति का यथार्थ चित्रण मिलता है जिससे संस्कृति का मूल्यांकन आसानी से किया जा सकता है।

भारत के गौरव ग्रंथों में जैन आगमों का स्थान सर्वोपरि है, उनमें भी कथाओं वाले आगम जो कि सभी की रूचि का विषय होने के कारण अपना विशेष महत्व रखते हैं। यदि हम महावीरकालीन एवं उससे पूर्व की संस्कृति को जानना चाहते हैं तो हमें ज्ञाताधर्मकथांग का सूक्ष्म अध्ययन करना होगा तथा समकालीन अन्य परम्पराओं के साहित्य की जानकारी रखना भी आवश्यक है। ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित संस्कृति का बिन्दुवार संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

सामाजिक जीवन

ज्ञाताधर्मकथांग तक चतुर्वर्ण व्यवस्था व्यापक हो चुकी थी। ज्ञाताधर्मकथांग की कथाओं में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के उल्लेख हैं। ब्राह्मण के लिए 'माहण' शब्द का प्रयोग मिलता है।[76] महावीर को भी माहण और महामाहण कहा गया है। क्षत्रियों को अपनी एवं प्रजा की रक्षा करनी होती थी। उस समय के राजा क्षत्रिय कुल के होते थे। इन कथाओं में अनेक क्षत्रिय राजकुमारों की शिक्षा एवं दीक्षा का वर्णन है।[77] वैश्यों के लिए इभ्य, श्रेष्ठी, कौटुम्बिक, गाहावइ

(गाथापति) आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।[78]

ज्ञाताधर्मकथांग की कथाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन पारिवारिक जीवन सुखी था। रोहिणी की कथा संयुक्त परिवार के आदर्श को उपस्थित करती है, जिसमें पिता मुखिया था।[79] पिता को ईश्वर तुल्य मानकर प्रात: उनकी चरणवन्दना की जाती थी।[80] संकट उपस्थित होने पर पुत्र अपने प्राणों का उत्सर्ग भी पिता के लिए कर देने को तैयार हो जाते थे।[81] अपनी संतान के लिए माता के अटूट प्रेम के कई दृश्य इन कथाओं में हैं यथा- मेघकुमार की दीक्षा की बात सुनकर उसकी माता का अचेत हो जाना।[82]

ज्ञाताधर्मकथांग की कथाओं में विभिन्न सामाजिक जनों का उल्लेख है। यथा- तलवर, मांडलिक, कौटुम्बिक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्थवाह, महासार्थवाह, महागोप, सायांत्रिक, नौवणिक, सुवर्णकार, चित्रकार, गाथापति, सेवक, दास, गणिका आदि।[83]

जन्मोत्सव मनाने की परम्परा भी थी, उसमें उपहार भी दिया जाता था। राजकुमारी मल्ली की जन्मगांठ पर श्रीदामकाण्ड नामक माला दी गई थी, जन्मगांठ को वहाँ संवत्सरपडिलेहणयं कहा गया है।[84] इसी प्रकार स्नान आदि करने के उत्सव भी मनाए जाते थे। चातुर्मासिक स्नान-महोत्सव प्रसिद्ध था।[85]

ज्ञाताधर्मकथांग की कथाओं में यह भी ज्ञात होता है कि उस समय समाज सेवा के अनेक कार्य किए जाते थे। नंदमणिकार की कथा से स्पष्ट है कि उसने जनता के हितार्थ एक ऐसी पुष्करिणी अर्थात् प्याऊ-वापी बनवाई थी, जहाँ छायादार वृक्षों के वनखण्ड, मनोरंजक चित्रसभा, भोजनशाला, अलंकार सभा, चिकित्साशाला आदि भी बनवाए, जिससे स्पष्ट है कि समाज कल्याण की भावना उस समय विकसित थी।[86]

ज्ञाताधर्मकथांग की इन कथाओं में श्रेणिक, मेघकुमार, धन्यसार्थवाह, थावच्चागाथा पत्नी, राजा जितशत्रु, माकन्दी सार्थवाह, नन्दमणियार, द्रुपदराजा व काली देवी आदि के अपार वैभव का वर्णन मिलता है।[87]

राजव्यवस्था

ज्ञाताधर्मकथांग की इन कथाओं में राजव्यवस्था सम्बन्धी सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। चम्पा के राजा कूणिक (अजातशत्रु) थे।[88] राजगृह के राजा श्रेणिक की (उत्क्षिप्तज्ञातकथा) समृद्धि और राजकीय गुणों का पता चलता है।[89]

राजा का पद वंशपरम्परा से प्राप्त होता था। राजा दीक्षित होने से पूर्व या अपने जीवनकाल के अंत से पूर्व अपने पुत्र को राजगद्दी पर आसीन कर देता था।[90] ज्ञाताधर्मकथांग की इन कथाओं में राजभवनों एवं राजा के अंत:पुरों के भीतरी जीवन की झांकी भी देखने को मिलती है।[91] राज्यव्यवस्था में राजा, युवराज, मंत्री, सेनापति, गुप्तचर, पुरोहित, श्रेष्ठी, दूत, संधिपाल आदि व्यक्ति प्रमुख होते थे।[92] राज्य-रक्षा के लिए चतुरंगिणी सेना व विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का उल्लेख मिलता है।[93]

धार्मिक मत-मतान्तर

ज्ञाताधर्मकथांग की इन कथाओं में जैनधर्म एवं दर्शन के विविध पहलू तो उद्घाटित हुए ही हैं, साथ ही अन्य धर्मों एवं मतों के सम्बन्ध में इनसे विविध जानकारी भी प्राप्त होती है, यथा- शैलक की कथा में शुक परिव्राजक का उल्लेख हुआ है, जो सांख्य मतावलम्बी था।[94] धन्य सार्थवाह की कथा में विभिन्न धर्मों को मानने वाले परिव्राजकों का उल्लेख है, जैसे-चरक, चीरिक, चर्मखंडिक, भिक्षांड, पांडुरंक, गौतम, गौव्रती, गृहिधर्मा, अविरुद्ध, विरुद्ध, ब्राह्मण, श्रावक, परिव्राजक, निग्रन्थ आदि।[95] आठवें अध्ययन 'मल्ली' में चोक्खा परिव्राजिका एवं मल्ली का संवाद भी अन्य धर्म एवं जैनधर्म की तुलना करता हुआ प्रतीत होता है।[96] इन सबकी मान्यताओं को यदि व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया जाए तो कई नई धार्मिक और दार्शनिक विचारधाराओं का पता चल सकता है। संकट के समय में तथा संतान प्राप्ति के लिए लोग कई देवताओं का स्मरण करते थे। उनके नाम इन कथाओं में मिलते हैं।[97] इन कथाओं में साधुचर्या[98] व श्रावकचर्या[99] का स्पष्ट व विस्तृत विवेचन मिलता है। जैनदर्शन के कई गूढ़ पहलुओं का कथाओं के माध्यम से अत्यन्त सरल और ग्राह्य निदर्शन देखने को मिलता है।[100] विभिन्न प्रकार के देवविमानों व देवलोकों[101] का सजीव वर्णन मिलता है।

अर्थव्यवस्था

ज्ञाताधर्मकथांग में विभिन्न कथा पात्रों के माध्यम से उस समय के लोगों की आर्थिक स्थिति का सजीव चित्रण देखने को मिलता है। उस समय देशी व्यापार के अतिरिक्त विदेशी व्यापार भी उन्नत अवस्था में था।[102] समुद्रयात्रा एवं सार्थवाह जीवन के सम्बन्ध में ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है।[103] ज्ञाताधर्मकथांग में आजीविका के विभिन्न माध्यमों के रूप में व्यापार-वाणिज्य, कृषि[104] व अन्य

हस्तकलाओं[105] का उल्लेख मिलता है। उस समय सोने के सिक्कों का प्रचलन था।[106] माप तौल की विभिन्न इकाईयों का उल्लेख मिलता है।[107] यात्रा के लिए यान-वाहन के रूप में विभिन्न साधन बैलगाड़ी[108], रथ[109], शिविका[110], नौका[111] आदि का वर्णन आता है।[112] व्यापार जल[113] और थल[114] से होता था।

भौगोलिक स्थिति

ज्ञाताधर्मकथांग की इन कथाओं का विस्तार केवल भारत में ही नहीं अपितु बाहर के देशों तक भी रहा है, यथा-द्रौपदी का अपहरण कर जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के हस्तिनापुर नगर से धातकीखण्ड नामक द्वीप के भरत क्षेत्र के अमरकंका नामक राजधानी तक पहुँचाने या ले जाने तक का वर्णन मिलता है।[115] इन कथाओं के कथाकार स्वयं सारे देश को स्वपदों से नापते रहे हैं अतः उन्होंने विभिन्न जनपदों, नगरों, ग्रामों, वनों एवं अटवियों की साक्षात् जानकारी प्राप्त की है और उसे ही अपनी कथा-कहानियों में वर्णित किया है। कुछ पौराणिक भूगोल का भी उल्लेख है, किन्तु अधिकांश विवेचन देश की प्राचीन राजधानियों, प्रदेशों, जनपदों, नगरों एवं उद्यानों आदि सम्बन्धित ही है। अंगदेश, काशी, इक्ष्वाकु, कुणाल, कुरु, पांचाल, कौशल आदि जनपदों, अयोध्या, चम्पा, मिथिला, वाराणसी, द्वारिका, हस्तिनापुर, श्रावस्ती, राजगृह, साकेत आदि नगरों एवं वहाँ के नागरिक जीवन का उल्लेख भी मिलता है। ज्ञाताधर्मकथांग की इन कथाओं में नगर संरचना, भवन-निर्माण, ग्रह, ऋतु, समय, माह, दिशाएँ, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु, पर्वत-नदियाँ व मंदिरों आदि का उल्लेख मिलता है।

शिक्षा एवं कला

इन कथाओं में कुछ कथा-नायकों की गुरुकुल शिक्षा का वर्णन मिलता है। मेघकुमार[116] और थावच्चापुत्र[117] दोनों को आठ वर्ष से कुछ अधिक वय होने पर गुरुकुल में शिक्षा प्राप्ति हेतु भेजे जाने का उल्लेख मिलता है।

इन कथाओं से स्पष्ट है कि उस समय गुरु-शिष्य संबंध अत्यन्त प्रगाढ़ और मधुर थे। गुरु का समाज में सम्मानजनक स्थान था। गुरु भी शिष्य को पुत्रवत् समझता था। शिक्षा केवल सैद्धान्तिक कम ही नहीं व्यावहारिक ज्यादा भी थी।

मेघकुमार की कथा में 72 कलाओं का नामोल्लेख मिलता है।[118] इन 72 कलाओं में भी संगीत, लेख, वाद्य, नृत्य, चित्रकला आदि प्रमुख कलाएँ हैं।

मल्ली की कथा में चित्रकला और मूर्तिकला का बड़ा जीवन्त वर्णन मिलता

है।[119] स्थापत्य कला की व्यापक सामग्री मेघकुमार की कथा[120] एवं नन्दमणियार[121] की कथा में प्राप्त होती है। मठ, स्थानक, उपाश्रय आदि शिक्षा के मुख्य केन्द्र थे। शिक्षार्थी को मुख्य रूप से वेद-वेदांग तथा अन्य विभिन्न दर्शनों की शिक्षा दी जाती थी।[122]

दर्शन

जैन विचारधारा ने ज्ञान-सिद्धान्त, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, अहिंसा, पुनर्जन्म आदि के विचारों को पुष्टकर भारतीय दार्शनिक चिन्तन को अधिक तटस्थ और गौरवपूर्ण बनाने में योगदान दिया। ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार प्रत्येक जीव की आत्मा ज्ञानयुक्त है और सांसारिकता का पर्दा उसके ज्ञान-प्रकाश को प्रकट नहीं होने देता। अत: प्राणिमात्र को इस पर्दे को हटाकर ज्ञान को समझना चाहिए। ज्ञाताधर्मकथांग के अनेक पात्र यथा- मेघकुमार, थावच्चापुत्र, शैलक, शुक्र परिव्राजक आदि 2500 साधु, मल्ली भगवती, 6 मित्र राजा 3200 साधु आदि, पाँचों पाण्डव, तेतलीपुत्र आदि अपने ज्ञान पर लगे आवरण को हटाकर साधुत्व को ग्रहणकर परमपद को प्राप्त करते हैं। धन्य सार्थवाह, द्रौपदी, नन्दमणियार, पुण्डरिक आदि कई आत्माएँ भविष्य (आगामी जन्म) में परम पद प्राप्त करेंगी।[123] ज्ञाताधर्मकथांग में विचार समन्वय के लिए अनेकान्त-दर्शन की शैली 'शुक-थावच्चापुत्र-संवाद' में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।[124] संस्कृति के रक्षण और प्रसार में जैनधर्म के 'अनेकान्तवाद' और 'स्याद्वाद' के सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

अहिंसा का सिद्धान्त भी ज्ञाताधर्मकथांग में बहुत सूक्ष्म रूप से देखने को मिलता है। मेघकुमार ने अपने पूर्वभव में शशक और अन्य वन्यप्राणियों की रक्षा की।[125] पुनर्जन्म की चर्चा ज्ञाताधर्मकथांग की बहुत-सी कहानियों में मिलती है। यथा- मेघकुमार का पूर्वभव[126], नन्दमणियार के जीव का मेंढक के रूप में उत्पन्न होना[127] और उस भव में उसे जातिस्मरण ज्ञान के द्वारा अपना पूर्वभव जानना, अनेक पात्रों का देवलोक में जाना[128] द्रौपदी के पूर्वभव के जीव का अनेक बार नरक और मत्स्ययोनि में पैदा होना।[129] ज्ञाताधर्मकथांग के दूसरे भाग में सभी रानियों के पूर्वभव का एवं देवलोक में जन्म लेने का उल्लेख पुनर्जन्म के सिद्धान्त को पुष्ट करता है।[130]

साहित्य व भाषा

ब्राह्मणों के धार्मिक प्रचार और साहित्य सृजन की भाषा संस्कृत थी। बौद्धों ने संस्कृत के स्थान पर पालि भाषा को अपनाया। सम्पूर्ण प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य पालि भाषा में निबद्ध है। परवर्ती युग में बौद्ध दार्शनिकों और प्रचारकों ने संस्कृत को भी अपना लिया, किन्तु जैन आचार्यों ने धर्म प्रचार के लिए और ग्रंथ लेखन के लिए संस्कृत के साथ ही विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित तत्कालीन लोक भाषाओं का ही प्रयोग किया। इस प्रकार तत्कालीन लोक भाषाओं के विकास में जैन धर्म का बहुत बड़ा योगदान है। उस युग की बोलचाल की भाषाओं को जैन साधुओं ने साहित्यिक रूप दिया। स्वयं भगवान महावीर ने अर्धमागधी में उपदेश दिए थे। इसी उदार प्रवृत्ति के कारण मध्ययुगीन विभिन्न जनपदीय भाषाओं के मूल रूप सुरक्षित रह सके हैं।

आज जब भाषा के नाम पर भारी विवाद और मतभेद हैं, तब ऐसे समय में जैन धर्म की यह उदार दृष्टि अभिनन्दनीय ही नहीं, अनुकरणीय भी है और इससे हम अपनी सांस्कृतिक एकता को कायम रखने में अधिक सफल होंगे।

इन विभिन्न लोकभाषाओं के साहित्य को समृद्ध करने के साथ-साथ कालान्तर में जैन आचार्यों ने संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, तमिल, गुजराती आदि अनेक भाषाओं में साहित्य रचना की। व्याकरण, ज्योतिष, काव्य, कथा, नाटक, गणित, काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, स्तोत्र, चिकित्साशास्त्र आदि विविध साहित्यिक क्षेत्रों में जैन लेखकों की उत्कृष्ट कोटि की संस्कृत रचनाएँ उपलब्ध होती हैं।

ज्ञाताधर्मकथांग प्राकृत भाषा में रचित समास शैली के कथा-साहित्य की श्रेणी में आता है।

ज्ञाताधर्मकथांग की कथाओं के कई नायकों को बहुभाषाविद् कहा गया है।[131] मेघकुमार को अट्ठारह विविध प्रकार की देशी भाषाओं का विशारद कहा गया है।[132] किन्तु इन भाषाओं के नाम आगम ग्रंथों में नहीं मिलते हैं।

विज्ञान

ज्ञाताधर्मकथांग में पुद्गल अर्थात् परमाणु के गुण व स्वरूप का विवेचन मिलता है। आलोच्य ग्रंथ में बताया गया है कि पुद्गल में जीव के प्रयत्न से और स्वाभाविक रूप से परिणमन होता रहता है।[133]

इस ग्रंथ में चिकित्सा विज्ञान के रूप में आयुर्वेद का विशद् विवेचन मिलता है। नन्दमणिकार सेठ ने राजगृह नगरी में चिकित्साशाला (औषधालय)

का निर्माण करवाया।[134] इस चिकित्साशाला में विभिन्न प्रकार के सोलह मरणांतक रोगों की चिकित्सा-सुविधा उपलब्ध थी।[135] इससे स्पष्ट है कि आधुनिक यंत्रों के अभाव में भी आयुर्वेद खूब विकसित हो चुका था।

जलशुद्धिकरण के लिए भी पूर्णत: वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग किया जाता था। सुबुद्धि अमात्य ने जल में से अशुद्धियों को पृथककर विशुद्ध जल राजा जितशत्रु को पिलाया।[136]

युद्ध सामग्री के रूप में आयुद्ध (शस्त्र) व प्रहरण (अस्त्र) आदि का उल्लेख[137] भी इस क्षेत्र में वैज्ञानिक प्रगति को व्यक्त करता है। स्वप्नमनोविज्ञान का उल्लेख भी ज्ञाता में मिलता है। रानी धारिणी के स्वप्न का फलादेश स्वप्न पाठकों द्वारा बतलाया गया है।[138] इस प्रकार स्पष्ट है कि तत्कालीन समय में विज्ञान अपने पूर्ण यौवन/उत्कर्ष पर था।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि तत्कालीन संस्कृति अत्यन्त समृद्ध थी। समाज भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टि से सुदृढ़ था। समाज में धर्माचरण वंदनीय था। शिक्षा एवं कला की दृष्टि से भी समाज उन्नत अवस्था में था। विज्ञान की विभिन्न शाखाएँ विस्तार पा रही थी। समाज में दर्शन, साहित्य व भाषा का स्थान भी उच्च था। इन सभी सकारात्मक परिस्थितियों में व्यक्ति का सर्वांगीण विकास स्वाभाविक था।

संदर्भ-

1. भारतीय संस्कृति और कला- पृ. 65
2. वही, पृ. 65-66
3. ऋषभदेव: एक परिशीलन- पृ. 15-16
4. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास- भाग-1 पृ. 41-43
5. जैन दर्शन और मनन-मीमांसा- पृ. 73
6. ऐतिहासिककाल के तीन तीर्थंकर- पृ. 197-198
7. भारतीय संस्कृति और कला- पृ. 62
8. संस्कृत हिन्दी कोश- पृ. 1051
9. भार्गव हिन्दी शब्दकोश- पृ. 620
10. भारतीय संस्कृति का विकास- पृ. 2-3
11. भारतीय संस्कृति की रूपरेखा- पृ. 1
12. संस्कृति के चार अध्याय- पृ. 1
13. भारतीय संस्कृति का इतिहास- पृ. 1
14. (i) हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-9, निबन्ध-सभ्यता व संस्कृति पृ. 195
    (ii) विचार और वितर्क पृ. 181
15. एनसाइक्लोपिडिया ऑफ सोशियल साइंसेज- खण्ड 3-4 पृ. 621
16. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका- पृ. 1 (भूमिका)
17. मानव संस्कृति - पृ. 1 (भूमिका)
18. वही, पृ. 9-10
19. वही, पृ. 17
20. वही, पृ. 3
21. हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन
22. Primitive Culture, Page 1
23. भारतीय संस्कृति का विकास पृ. 2
24. वही, पृ. 2
25. स्वतंत्रता और संस्कृति- पृ. 53
26. संस्कृति के चार अध्याय- पृ. 98
27. भारतीय संस्कृति का विकास- पृ. 11
28. भारतीय संस्कृति और कला- पृ. 44
29. Man is the primitive world, P-7
30. मानव और संस्कृति- प. 71
31. साहित्य व संस्कृति- पृ. 182
32. समाजशास्त्र पृ. 228
33. भारतीय संस्कृति का विकास- पृ. 3-4
34. Ancient Indian culture- Page 10
35. सांस्कृतिक चेतना और जैन पत्रकारिता- पृ. 3, 4
36. एक बूंद एक सागर (खण्ड-4), पृ. 1420
37. राजस्थानी भाषा-साहित्य, संस्कृति- पृ. 338-41
38. भारतीय संस्कृति और कला- पृ. 145
39. भारतीय समाज एवं संस्कृति- पृ. 18
40. (i) विष्णु पुराण- 2/3/1
    (ii) वायु पुराण- 45/75
41. भारतीय समाज व संस्कृति- पृ. 15
42. भारतीय संस्कृति का विकास, पृ. 13
43. तत्त्वार्थ सूत्र- 5/21
44. मनुस्मृति
45. श्री ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, अध्ययन 5
46. दशवैकालिक निर्युक्ति- गाथा-156
47. भारतीय संस्कृति के मूलाधार- पृ. 5
48. संस्कृति के चार अध्याय- पृ. 650
49. वही, भूमिका- (नेहरू)
50. भारतीय समाज व संस्कृति - पृ. 13
51. स्थानांग 4/4
52. गीता- 18/46
53. औपपात्तिक सूत्र - 56
54. गीता- 18/45
55. भारतीय संस्कृति के मूलाधार - पृ. 9
56. *आचारांग सूत्र- 2/2/3*
57. दशवैकालिक- 6/8
58. राजस्थानी भाषा, साहित्य, संस्कृति पृ. 351
59. हिन्दू धर्मकोश- पृ. 645
60. भारतीय समाज व संस्कृति- पृ. 14
61. आवश्यक सूत्र 6/11
62. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास (भाग-1), पृ. 186-187
63. श्री स्थानांगसूत्र, स्थान 3, उद्देशक 1
64. (i) भागवत पुराण- 10/84/39
    (ii) मार्कण्डेय पुराण- 16/56

65. भारतीय समाज एवं सामाजिक संस्थाएँ- पृ. 92-93
66. भारतीय संस्कृति- पृ. 14
67. उत्तराध्ययन 3/2
68. वही 3/3
69. राजस्थानी भाषा, साहित्य, संस्कृति पृ. 353
70. वही पृ. 351
71. मनुस्मृति 3/56
72. भारतीय संस्कृति का विकास- पृ. 14
73. ऋग्वेद 10/90/12
74. भारतीय संस्कृति के मूलाधार- पृ. 8
75. वही, पृ. 5
76. ज्ञाताधर्मकथांग 1/13/16, 1/14/27
77. वही 1/1/98; 159, 1/5/6, 24
78. वही- 1/5/5, 21, 1/7/4
79. वही- 1/7/4
80. वही- 1/1/116, 1/5/13
81. वही- 1/18/37, 38
82. वही- 1/1/119
83. वही- 1/1/30
84. वही- 1/8/49
85. वही- 1/8/80-84
86. वही- 1/13/12-18
87. वही- 1/1/30, 142, 1/2/6, 1/12/4
88. वही- 1/1/3
89. वही- 1/1/14
90. वही- 1/16/219, 1/19/5
91. वही- 1/1/16-17
92. वही- 1/1/30
93. वही- 1/1/82, 1/2/28, 1/8/128
94. वही- 1/5/30
95. वही- 1/15/5
96. वही- 1/8/110-115
97. वही- 1/2/12, 1/8/64
98. वही- 1/1/162, 190-192
99. वही- 1/1/113, 115, 1/8/53
100. वही- 1/1/69, 1/13/33, 2/1/10
101. वही- 1/1/214, 1/8/23, 1/13/33
102. वही- 1/8/53-55, 1/9/8
103. वही- 1/15/4, 1/9/8
104. वही- 1/7/9
105. वही- 1/8/35, 40, 96
106. वही- 1/1/138, 1/8/159
107. वही- 1/7/12, 1/8/54
108. वही- 1/3/6
109. वही- 1/1/149, 1/5/22, 2/1/21
110. वही- 1/8/55
111. वही- 1/1/69, 2/1/10
112. वही- 1/16/175, 1/17/3
113. वही- 1/15/4, 8
114. वही- 1/15/4, 8
115. वही- 1/16/151-152
116. वही- 1/1/98
117. वही- 1/5/6
118. वही- 1/1/99
119. वही- 1/8/97, 98, 1/8/35
120. वही- 1/1/17, 102, 103
121. वही- 1/13/12-18
122. वही- 1/5/31
123. वही- 1/1/208, 210, 1/5/52, 1/2/52
124. वही- 1/5/44-50
125. वही- 1/1/183
126. वही- 1/1/164-187
127. वही- 1/13/23-25
128. वही- 1/1/175, 187, 214
129. वही- 1/16/29-33
130. वही- 2/1/7, 12, 30, 2/2/37, 2/3/41
131. वही- 1/1/101, 1/5/6
132. वही- 1/1/101
133. वही- 1/12/8
134. वही- 1/13/17
135. वही- 1/13/21
136. वही- 1/12/15-19
137. वही- 1/2/28
138. वही- 1/1/17, 35

तृतीय परिवर्त

ज्ञाताधर्मकथांग का भौगोलिक विश्लेषण

व्यक्ति के जीवन पर स्थान विशेष की भौगोलिक स्थिति का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। संस्कृति की दशा और दिशा को निर्धारित करने वाला महत्वपूर्ण घटक है, भौगोलिक स्थिति। शिक्षा, अर्थव्यवस्था, राजनैतिक स्थिति, सामाजिक स्थिति आदि विभिन्न घटक भौगोलिक परिवेश से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते।

ज्ञाताधर्मकथांग में तत्कालीन भौगोलिक स्थिति के विविध रूपों का अनावरण हुआ है। विविध दृष्टांतों के माध्यम से उस युग में विद्यमान द्वीप, पर्वत, नगर, अधोलोक, देवलोक, नरक, नदियाँ, ग्राम, उद्यान-वन, वनस्पति आदि का उल्लेख किया गया है। तत्कालीन भौगोलिक स्थिति से सम्बद्ध कुछ पहुलओं पर विचार यहाँ इष्ट है-

संसार

ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार चतुर्गति रूप सांसारिक जीवन-चक्र को संसार कहते हैं।[1] हिन्दू धर्मकोश में संसरण गति अर्थात् जो गतिमान अथवा नश्वर है उसे संसार कहा है। नैयायिकों के अनुसार मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न वासना को संसार कहते हैं (संसारश्च मिथ्याधीप्रभवा वासना)। मर्त्यलोक अथवा भूलोक को सामान्यत: संसार कहते हैं।[2] संसरण करने अर्थात् जन्म-मरण करने का नाम संसार है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार- 'संसरण संसार परिवर्तनमित्यर्थ' अर्थात् संसरण करने को संसार कहते हैं, जिसका अर्थ परिवर्तन है।[3] राजवार्तिक के अनुसार, ''कर्म के विपाक के वश से आत्मा को भवान्तर की प्राप्ति होना संसार है।''[4]

नरक

ज्ञाताधर्मकथांग में बुरे कार्य करने वाले अर्थात् पापकर्म करने वाले जीव को नरक में उत्पन्न होना बताया है। विजय चोर एवं नागश्री ब्राह्मणी अपने कुकर्मों के कारण नरक में उत्पन्न हुए। उन्होंने वहाँ अनेक प्रकार के (गंभीर, लोमहर्षक, भयावह, त्रास-जनक, अत्यन्त अशुभ) कष्ट अर्थात् वेदना को अनुभव किये।[5] प्रचुर रूप से पापकर्मों के फलस्वरूप अनेक असह्य दु:खों को भोगने वाले जीव विशेष नारकी कहलाते हैं। उनकी गति को नरक गति कहते हैं और उनके रहने के स्थान नरक कहलाते हैं, जो शीत, उष्ण, दुर्गन्ध आदि असंख्य

अत्यन्त दु:खों की तीव्रता के केन्द्र होते हैं। वहाँ पर जीव बिलों में उत्पन्न होते हैं और परस्पर एक-दूसरे को मारने-काटने आदि के द्वारा अत्यन्त दु:ख भोगते रहते हैं।[6]

राजवर्तिक में नरक को परिभाषित करते हुए लिखा है-''शीताष्णा-सद्वेद्योदयापादितवेदनया नरान कायन्तीति शब्दायन्त इति नारका:।'' अथवा ''पापकृत: प्राणित: आत्यन्तिकं दु:खं नृणन्ति नयन्तीति नारकाणि।'' जो नारकों को शीत, उष्ण आदि वेदनाओं से शब्दाकुलित कर दे वह नरक है अथवा पापी जीवों को आत्यन्तिक दु:खों को प्राप्त कराने वाले नरक हैं। एक अन्य परिभाषा के अनुसार 'नरकेषु भवा नारका:' अर्थात् नरकों में जन्म लेने वाले जीव नारक हैं।[7]

धवला में नरक गति को परिभाषित करते हुए कहा है कि जिस गति का उदय सम्पूर्ण अशुभ कर्मों के उदय का सहकारीकरण है, उसे नरकगति कहते हैं- ''यस्या उदय: सकलाशुभकर्मणामुदयस्य सहकारीकरणं भवति सा नरकगति:''[8]

अधोलोक

ज्ञाताधर्मकथांग में अधोलोक का उल्लेख मिलता है।[9] अधोलोक में मध्यलोक से लगती हुई सबसे पहले रत्नप्रभा पृथ्वी है। इससे कुछ कम एक राजू नीचे शर्कराप्रभा है। इसी प्रकार से एक-एक राजू नीचे बालुकाप्रभा आदि पृथ्वियाँ हैं। अधोलोक की ऊँचाई सात राजू झाझेरा प्रमाण बताई गई है।[10]

देवलोक

ज्ञाताधर्मकथांग में देवलोक का उल्लेख मिलता है।[11] जिस क्षेत्र में देवगण रहते हैं उसे देवलोक कहते हैं। देवलोक में अतिपुण्यशाली जीव जन्म लेते हैं। वहाँ सभी प्रकार की सुख-सुविधाएँ रहती हैं। देवों का आयुष्य बहुत लम्बा होता है।

द्वीप

'द्वीप' शब्द का उल्लेख ज्ञाताधर्मकथांग में कई स्थानों पर हुआ है।[12] भूमि का वह भाग जो चारों ओर जल से घिरा हो, टापू कहलाता है।[13] संस्कृत हिन्दी कोश में कहा गया है कि द्विर्गता द्वयोर्दिशोर्वागता आपो यत्र द्वि+अप्, अप ईप अर्थात् टापू का अर्थ है- शरण स्थान, आश्रयगृह, उत्पादन स्थान, भूलोक का एक भाग।[14] ये द्वीप मध्यलोक में स्थित तथा समुद्रों से वेष्टित जम्बूद्वीपादि

भूखण्डों को द्वीप कहते हैं। एक के पश्चात् एक के क्रम से ये असंख्यात हैं। लवण समुद्र में अन्तर-अन्तर पर द्वीप होने से अन्तर्द्वीप कहलाते हैं (जीवाजीवाभिगम सूत्र 3/108)। इनके अतिरिक्त सागर में स्थित छोटे-छोटे भूखण्ड अन्तर्द्वीप कहलाते हैं। यहाँ युगलिक मनुष्य रहते हैं। लवण समुद्र में ये 56 हैं। अन्य समुद्रों में नहीं है। असंख्यात द्वीपों में से मध्य के अढ़ाई द्वीपों में मनुष्यों के निवास स्थान हैं। वहाँ सभी भरत व ऐरावत क्षेत्रों में रहट-घट न्याय अथवा शुक्ल पक्ष के समान उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी आरक (कालचक्र) का क्रम से परिवर्तन होता रहता है।[15]

ज्ञाताधर्मकथांग में अग्रांकित द्वीपों का उल्लेख मिलता है-

जम्बूद्वीप

ज्ञाताधर्मकथांग की विभिन्न कथाओं में जम्बूद्वीप का नामोल्लेख मिलता है।[16] जैन भूगोल के अनुसार यह जम्बूद्वीप सब द्वीप-समुद्रों में आभ्यन्तर है। समग्र तिर्यक्लोक के मध्य में स्थित, सबसे छोटा और गोल है। अपने गोल आकार में यह एक लाख योजन लम्बा-चौड़ा है। इसकी परिधि तीन लाख, सोलह हजार, दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोस, एक सौ अट्ठाईस धनुष और साढ़े तेरह अंगुल से कुछ अधिक है। इसके चारों ओर एक वज्रमय दीवार है। उस दीवार में एक जालीदार गवाक्ष है। जम्बूद्वीप के विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित- ये चार द्वार हैं।[17]

मध्यलोक में सबसे पहला जम्बूद्वीप है जो हिमवंत, महाहिमवंत, निषध, नील, रूक्मि और शिखरी- इन छः वर्षधर (सीमाकारी) पर्वतों के कारण भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत नाम के सात क्षेत्रों में विभाजित हैं। इन छः वर्षधर पर्वतों से गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितांसा, हरि, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारीकान्ता, नरकान्ता, सुवर्ण कूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तवती नाम की चौदह नदियाँ निकलती हैं। जम्बूद्वीप के मध्य में सुमेरु पर्वत है और और जम्बूद्वीप को घेरे हुए लवण समुद्र है।[18]

रत्नद्वीप

ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार संभवतया लवण समुद्र के अंदर जो द्वीप हैं, उन द्वीप प्रदेशों में रत्नद्वीप भी एक है। यह रत्नद्वीप अनेक योजन लम्बा-चौड़ा और अनेक योजन घेरे वाला था। इस द्वीप की यह विशेषता थी कि यह अनेक

प्रकार के वृक्षों के वनों से युक्त, सुन्दर सुषमावाला था।[19]

धातकीखण्ड द्वीप

ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार धातकीखण्ड द्वीप लवण समुद्र के चारों ओर 400000 योजन में विस्तृत यह दूसरा द्वीप है। इसके चारों तरफ भी एक जगती (कोट/दीवार) है। इस द्वीप में भरत आदि सभी क्षेत्र हिमवंत आदि सभी पर्वत, सभी नदियाँ, कूट आदि दो-दो की संख्या में हैं।[20]

नन्दीश्वर द्वीप

ज्ञाताधर्मकथांग में नन्दीश्वर द्वीप का उल्लेख मिलता है।[21] अष्टम द्वीप नन्दीश्वर द्वीप है। इस द्वीप के अंतराल में सात द्वीप और सात समुद्र कहे गए हैं (ठाणांग-7/110)। इसका कुल विस्तार एक सौ तिरेसठ करोड़ चौरासी लाख योजन है।[22] ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार तीर्थंकर के जन्म से लेकर निर्वाण पर्यन्त पंचकल्याणकों के अष्टाह्निका महोत्सव भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों द्वारा नन्दीश्वर द्वीप में बड़े हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता है।[23]

कालिक द्वीप

ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार यह द्वीप लवण समुद्र में अवगाहित है अर्थात् अन्दर अवस्थित है। इस द्वीप की यह विशेषता है कि इसमें विविध प्रकार की खानें थीं, यथा- सोना, चाँदी, हीरे, रत्न आदि बहुमूल्य धातु। इस द्वीप के आकीर्ण जाति के घोड़े बहुत प्रसिद्ध हैं।[24]

महाविदेह

ज्ञाताधर्मकथांग में महाविदेह क्षेत्र विशेष का नामोल्लेख मिलता है।[25] दिगंबर परम्परा के अनुसार महाविदेह क्षेत्र का विस्तार $33684\frac{4}{9}$ योजन है। मेरु की चारों ही विदिशाओं से संलग्न एवं दोनों तरफ निषध-नीलवंत वर्षधर पर्वत से संलग्न चार गजदंत हैं। निषध वर्षधर पर्वत से शीतोदा एवं नीलवंत वर्षधर से शीता नदी निकलकर पश्चिम-पूर्व विदेहों में गई है। शीता-शीतोदा के पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण में पाँच-पाँच सरोवर हैं। शीता-शीतोदा के पूर्व-पश्चिम किनारों पर दो-दो यमकगिरि हैं। इन्हीं शीता-शीतोदा की चारों दिशाओं में दोनों किनारों पर एक-एक दिग्गज पर्वत होने से आठ दिग्गजेन्द्र पर्वत हैं। पूर्व-पश्चिम विदेह में सोलह वक्षार, बारह विभंग नदियाँ, बत्तीस क्षेत्र, बत्तीस विजयार्ध, बत्तीस वृषभाचल एवं बत्तीस राजधानियाँ हैं। दोनों तरफ दो-दो देवारण्य और

भूतारण्य वन हैं। प्रत्येक क्षेत्र की गंगा, सिंधु एवं रक्ता, रक्तोदा आदि जैसी 64 नदियाँ हैं। शीता, शीतोदा की परिवार नदियाँ 168000 हैं। विभंगा में प्रत्येक की परिवार नदियाँ 28000 हैं। गंगा, सिन्धु आदि में प्रत्येक की परिवार नदियाँ 14000 हैं।[26]

श्वेताम्बर परम्परानुसार महाविदेह क्षेत्र निषध-नील वर्षधर पर्वत के क्रमशः उत्तर-दक्षिण में, पूर्वी लवण समुद्र के पश्चिम में, पश्चिमी लवण समुद्र के पूर्व में जम्बूद्वीप के अंतर्गत है। यह पूर्व-पश्चिम में लम्बा तथा उत्तर-दक्षिण में चौड़ा है, पलंग के आकार के समान संस्थित है। यह दोनों ओर से लवण समुद्र का स्पर्श करता है। जिसकी चौड़ाई $33684\frac{4}{19}$ योजन है, इसकी पूर्व-पश्चिम बाहा योजन $33767\frac{7}{19}$ तथा धनुपृष्ट (उत्तर-दक्षिणी परिधि) $158113\frac{16}{19}$ योजन हैं। महाविदेह क्षेत्र के 4 भाग बताये हैं- 1. पूर्व विदेह, 2. पश्चिम विदेह, 3. देवकुरु तथा 4. उत्तरकुरु। पूर्व-पश्चिम महाविदेह के मनुष्यों की लम्बाई 500 धनुष (2000 हाथ जितनी) तथा अन्तर्मुहूर्त से लेकर क्रोड़ पूर्व तक का आयुष्य (उम्र) होती है। देवकुरु-उत्तरकुरु के मनुष्यों की लम्बाई करीब 6000 धनुष (3 गाऊ) तथा 3 पल्योपम की उम्र होती है। प्रकारान्तर से 4 भाग महाविदेह के बीचोंबीच मेरु पर्वत आ जाने से पूर्व तथा पश्चिमी विदेह ये दो भेद तथा दोनों के मध्य में शीता-शीतोदा महानदी क्रमशः आ जाने से उनके उत्तरी व दक्षिणी में दो-दो भाग हो जाते हैं। इन चारों भागों में से प्रत्येक में क्रमशः 8-8 विजय (एक-एक चक्रवर्ती द्वारा जीता जा सकने वाला क्षेत्र) 4-4 वक्षस्कार पर्वत, 3-3 अन्तर्नदियाँ तथा पूर्व-पश्चिम के अंतिम छोरों पर शीतामुख वन आदि है। मेरु की चारों विदिशाओं में 2-2 कोस की दूरी पर तथा नीलवंत व निषध पर्वत से संलग्न 4 गजदन्ताकार पर्वत है। देवकुरु क्षेत्र के मध्य में चित्र-विचित्र पर्वत तथा उत्तरकुरु क्षेत्र में यमक संज्ञक पर्वत हैं जो कि क्रमशः शीता व शीतोदा नदियों के पूर्वी व पश्चिमी तट पर रहे हुए हैं। उत्तरकुरु क्षेत्र के मध्य जम्बूसुदर्शना नामक वृक्ष पर जम्बूद्वीप का अधिपति (स्वामी) अनाहत नामक देव निवास करता है। नीलवंत वर्षधर पर्वत पर स्थित केसरी द्रह से महाविदेह के शीताप्रपात कुण्ड में गिरकर शीता महानदी उत्तरकुरु क्षेत्र के मध्य में बहती है। वहाँ कुछ-कुछ दूरी पर उस महानदी में 5 द्रह हैं तथा उनके दोनों किनारों पर 10-10 कांचनगिरि पर्वत हैं तथा इसी प्रकार निषध पर्वत से देवकुरू क्षेत्र के शीतोदा प्रपात कुण्ड में गिरकर आगे बहने वाली शीतोदा महानदी पर भी 5-5 द्रह हैं उनके दोनों तटों

पर 10-10 कांचनगिरि पर्वत हैं। महाविदेह की उत्तर-दक्षिण चौड़ाई के क्षेत्र के बीच 10000 योजन विस्तृत मेरु पर्वत का समतल भू-भाग व उससे पूर्व-पश्चिम में 2200 योजन तथा उत्तर-दक्षिण में क्रमशः 250 योजन विस्तृत भद्रशाल वन है जो बड़ा रमणीक एवं मनोहारी है। इन सभी का विस्तृत वर्णन श्रीमद् जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र के 4 वक्षस्कार में मिलता है।

इस क्षेत्र को महाविदेह इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह भरत, ऐरावत, हेमवत, हैरण्यवत, हरिवास, रम्यकवास क्षेत्र की अपेक्षा लम्बाई, चौड़ाई, आकार एवं परिधि में विस्तीर्णतर, अति विस्तर्ण, विपुलतर, अति विपुल, महत्तर, अतिविशाल, अति वृहत् प्रमाणयुक्त है। महाविदेह में अति महान्-विशाल देहयुक्त मनुष्य निवास करते हैं।[27]

पूर्वविदेह

ज्ञाताधर्मकथांग में पूर्वविदेह का नामोल्लेख हुआ है। यह सुमेरु पर्वत के पूर्व में स्थित होने से महाविदेह क्षेत्र का पूर्वी हिस्सा पूर्व महाविदेह या पूर्वविदेह कहलाता है। यह $33684\frac{4}{9}$ योजन विस्तृत है। मंदर पर्वत के पूर्व भाग में पूर्वविदेह नामक सोलह क्षेत्र एवं पश्चिम भाग में पश्चिमविदेह नामक सोलह क्षेत्र स्थित है। इन दोनों के मध्य भाग में विदेह क्षेत्र है। इस विदेह क्षेत्र के बीचों-बीच/मध्य में सुमेरु स्थित है। सुमेरु पर्वत के सुदर्शन, मेरु, मन्दर पर्वत आदि अनेक नाम हैं। इस सुमेरु पर्वत के कारण से विदेह क्षेत्र के दो भेद हो गए हैं- पूर्वविदेह और पश्चिमविदेह। पुनः शीता नदी और शीतोदा नदी के निमित्त से पूर्व विदेह के भी दक्षिण उत्तर के भेद से दो भेद हो गए हैं और पश्चिम विदेह के शीतोदा नदी के कारण तीन भेद हैं।[29]

विजय

ज्ञाताधर्मकथांग में बहुत से चक्रवर्ती विजयों का नामोल्लेख या विस्तृत विवेचन मिलता है, जिनका दिग्दर्शन इस प्रकार है-

पुष्कलावती

ज्ञाताधर्मकथांग में पुष्कलावती विजय का उल्लेख मिलता है।[30] जम्बूद्वीप में पूर्वविदेह क्षेत्र में, शीता नामक महानदी के उत्तरी किनारे, नीलवंत वर्षधर पर्वत के दक्षिण में उत्तर के शीतामुख वनखण्ड के पश्चिम में और एक शैल वक्षार पर्वत के पूर्व में महाविदेह क्षेत्र के अन्तर्गत पुष्कलावती नामक विजय है।[31] इस

विजय में पुष्कलावती नामक देव निवास करता है। इस कारण वह पुष्कलावती विजय कहा जाता है।[32]

सलिलावती विजय

ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार जम्बूद्वीप में महाविदेह क्षेत्र में, मेरु पर्वत से पश्चिम में, निषध नामक वर्षधर पर्वत से उत्तर में, शीतोदा महानदी से दक्षिण में, सुखावह नाम वक्षार पर्वत से पश्चिम में और पश्चिम लवण समुद्र से पूर्व में *सलिलावती नामक विजय है।[33] सलिलावती विजय की राजधानी वीतशोका नौ योजन चौड़ी, यावत् (बारह योजन लम्बी) साक्षात् देवलोक के समान थी।[34]*

पुण्डरीकिणी

यह नगरी पुष्कलावती विजय की राजधानी है। पुष्कलावती विजय जम्बूद्वीप में, पूर्वविदेह क्षेत्र में, सीता नामक महानदी के उत्तरी किनारे, नीलवंत वर्षधर पर्वत के दक्षिण में, उत्तरी शीतामुख वनखण्ड के पश्चिम में और एक शैल वक्षार पर्वत से पूर्व दिशा में विद्यमान है। उस पुष्कलावती विजय की यह पुण्डरीकिणी नगरी बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी साक्षात् देवलोक के समान है।[35] यह रमणीय नगरी सुवर्णमय प्राकार से युक्त, दिव्य वज्र, इन्द्रनील, मरकत, कर्केतन एवं पदमराग मणिमय गृहसमूह से युक्त, कालागरू की गंध से व्याप्त और जिनभक्तों से विभूषित है।[36]

वीतशोका

यह सलिलावती विजय की राजधानी है।[37] ज्ञाताधर्मकथांग में दिए गए सलिलावती विजय के वर्णन के अनुसार वीतशोका जम्बूद्वीप में महाविदेह नामक क्षेत्र में, मेरु पर्वत से पश्चिम में, निषध नामक वर्षधर पर्वत से उत्तर में, शीतोदा महानदी से दक्षिण में, सुखावहनामक वक्षार पर्वत से पश्चिम में और पश्चिम लवण समुद्र से पूर्व में स्थित है।[38] वीतशोका नगरी दक्षिण-उत्तर में बारह योजन लम्बी और पूर्व-पश्चिम में नौ योजन चौड़ी सुवर्णमय प्राकार से वेष्टित है। यह नगरी एक हजार गोपुर द्वारों, पाँच सौ अलप द्वारों तथा रत्नों से विचित्र कपाटों वाले सात सौ क्षुद्र द्वारों से युक्त है। इस नगरी में एक हजार चतुष्पथ और बारह हजार रथ मार्ग हैं, ये अविनश्वर नगरी अन्य किसी के द्वारा निर्मित नहीं है, अपितु प्राकृतिक है।[39] यह नगरी देवलोक के समान थी।[40]

चमरचंचा

ज्ञाताधर्मकथांग में चमरचंचा नगरी का नामोल्लेख मिलता है।[41] जम्बूद्वीप के सुमेरु पर्वत के दक्षिण में रत्नप्रभा पृथ्वी का 40 हजार योजन भाग अवगाहन करने पर वहाँ असुर कुमारों के इन्द्र राजा चमर की राजधानी चमरचंचा है। चमरचंचा की लम्बाई-चौड़ाई एक लाख योजन की है।[42]

आमलकल्पानगरी

ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में आमलकल्पा नामक नगरी थी।[43]

अमरकंका

ज्ञाताधर्मकथांग में अमरकंका नगरी का संक्षिप्त विवरण मिलता है। यह नगरी धातकीखण्ड द्वीप में पूर्व दिशा की तरफ दक्षिणार्थ भरत क्षेत्र में स्थित थी।[44]

अलकापुरी

इन्द्र की नगरी को अलकापुरी कहा जाता है। ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार इसे कुबेर निर्मित या कुबेर की नगरी भी कहा जाता है।[45] इस नगरी की यह विशेषता है कि वह समचौकोण और सुवर्णयुक्त कोट वाली है। इस नगरी के चारों ओर अर्थात् प्रत्येक दिशा में अशोक, सप्तच्छ, चम्पक तथा आम्रवृक्षों के वन समूह स्थित हैं। इस नगरी के प्रासाद सुवर्ण, चाँदी व रत्नों से युक्त हैं। यहाँ इन्द्र अपने परिवार के साथ विविध प्रकार की विभूतियों से क्रीड़ा करते रहते हैं।[46] द्वारकानगरी अलकापुरी के समकक्ष थी।[47]

भारतवर्ष या भरतक्षेत्र

ज्ञाताधर्मकथांग की विविध कथाओं में भारतवर्ष या भरतक्षेत्र का नामोल्लेख मिलता है।[48] यह जम्बूद्वीप का 190वाँ भाग अर्थात् अर्थात् $526\frac{6}{19}$ योजन चौड़ा है। भरतक्षेत्र पूर्व-पश्चिम में लम्बा और उत्तर-दक्षिण में चौड़ा है। इस भरतक्षेत्र की तीन सीमाएँ लवण समुद्र को स्पर्श करती हैं। गंगा महानदी, सिन्धु महानदी तथा वैताढ्य पर्वत होने के कारण यह क्षेत्र दक्षिणार्ध भरत तथा उत्तरार्द्ध भरत के नाम से दो भागों में विभक्त हो गया है।[49]

इस देश का प्राचीन नाम भारत है। इस नामकरण की कई परम्पराएँ हैं।

एक बहुप्रचलित परम्परा के अनुसार दुष्यन्त कुमार और चक्रवर्ती राजा भरत के *नाम पर इस देश का नाम भारत अथवा भारतवर्ष पड़ा।*[50] *लेकिन जम्बूद्वीप* प्रज्ञप्ति के अनुसार यहाँ भरत क्षेत्र में महान ऋद्धिशाली, परमद्युतिशाली, एक पल्योपम आयुष्य युक्त भरत नामक देव निवास करता है। इस कारण यह क्षेत्र भारतवर्ष या भरतक्षेत्र कहा जाता है। इसके अलावा भारतवर्ष या भरतक्षेत्र शाश्वत है। यह तीनों कालों में कभी भी न मिटने वाला नित्य, ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय एवं अवस्थित है।[51]

हस्तिनापुर

ज्ञाताधर्मकथांग में हस्तिनापुर नगर का उल्लेख मिलता है।[52] यह कुरु जनपद की प्रसिद्ध नगरी थी।[53] जैन आगमों में वर्णित दस राजधानियों में इसका उल्लेख मिलता है।[54] जिनप्रभसूरि के अनुसार ऋषभ के सौ पुत्र थे। उनमें एक का नाम 'कुरु' था। उसके नाम से 'कुरु' जनपद प्रसिद्ध हुआ। कुरु के पुत्र का नाम 'हस्ती' था। उसने हस्तिनापुर नगर बसाया। यह नगर गंगा नदी के तट पर था।[55] पाणिनि ने इसे हस्तिनापुर कहा है।[56]

कुरु जनपद

ज्ञाताधर्मकथांग में कुरु जनपद का उल्लेख मिलता है।[57] इसके दो प्रमुख नगर इन्द्रप्रस्थ और हस्तिनापुर थे।[58] कुरु राष्ट्र, कुरुक्षेत्र और कुरु जांगल- ये तीनों एक-दूसरे से जुड़े हुए थे। थानेश्वर-हस्तिानपुर-हिसार अथवा सरस्वती-यमुना-गंगा के बीच का प्रदेश इन तीन भौगोलिक भागों में बंटा हुआ था। गंगा-यमुना के लगभग मध्य में मेरठ कमिश्नरी का इलाका असली कुरु राष्ट्र था। इसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। पाणिनि ने विशेष रूप से 'कुरु गार्हपतम्' (6/2/42) रूप इसकी सिद्धि की है। इस विशेष शब्द का अर्थ कुरु जनपद का वह धार्मिक और नैतिक दृष्टिकोण था जिसके अनुसार गृहस्थ जीवन व्यतीत करने वाले सदाचार और धर्म का पूरा पालन करते थे।[59]

हस्तीकल्प

ज्ञाताधर्मकथांग में हस्तीकल्प का उल्लेख मिलता है।[60] यह ग्राम शत्रुञ्जय के सन्निकट होना चाहिए क्योंकि पांडवों ने हत्थकप्प में सुना कि भगवान अरिष्टनेमि गिरनार (उज्जंयत) पर्वत पर निर्वाण प्राप्त हुए हैं, तो पांडव हस्तीकल्प से निकलकर गिरनार की तरफ गए।[61] इस समय सौराष्ट्र में तलाजा के पास में

हाथप नाम का गाँव है, जो शुत्रञ्जय से विशेष दूर नहीं है। यह हाथप ही हथ्थकप्प/हस्तीकल्प होना चाहिए। इनमें भाषा व नाम की दृष्टि से भी अधिक साम्य है। हथ्थकप्प और हस्तवप्र इन दोनों शब्दों का अपभ्रंश रूप हाथप हो सकता है।

देवविजयजी ने पांडव में हत्थिकप्प के स्थान पर हस्तीकल्प नाम दिया है और उसे रैवतक से बारह योजन दूर बताया है।[62]

द्वारका (वारवती)

जैन आगम में साढ़े पच्चीस आर्यदेशों में द्वारका को सौराष्ट्र जनपद की राजधानी के रूप में वर्णित किया गया है।[63] यह सौराष्ट्र की मुख्य नगरी थी। इसका दूसरा नाम कुशस्थली था।[64] यह नगरी नौ योजन चौड़ी और बारह योजन लम्बी थी। इसके चारों ओर सुवर्ण एवं पंचरंगी नाना मणियों से युक्त श्रेष्ठ प्राकार था। वह अलकापुरी के समान सुन्दर थी अर्थात् साक्षात् देवलोक के समान थी।[65] इसके उत्तरपूर्व में गगनचुंबी रैवतक पर्वत था।[66] द्वारका नगरी को अंधकवृष्णि[67] और कृष्ण[68] का निवास स्थान बताया गया है।

दशवैकालिक की टीका में उल्लेख है कि जरासंघ के भय से भयभीत हो हरिवंश में उत्पन्न दशार्ह वर्ग मथुरा को छोड़कर सौराष्ट्र में गए। वहाँ उन्होंने द्वारवती नगरी बसाई।[69]

महाभारत में भी इसी प्रसंग में कहा गया है कि जरासंघ के भय से यादवों ने पश्चिम दिशा की शरण ली और रैवतक पर्वत से सुशोभित रमणीय कुशस्थली नगर में जा बसे और कुशस्थली दुर्ग की मरम्मत करवाई।[70]

भागवत और विष्णुपुराण में उल्लेख है कि जब कृष्ण द्वारका को छोड़कर चले गए तब वह समुद्र में डूब गई, केवल कृष्ण का राजमंदिर बचा रहा।[71] दशवैकालिक में भी उसके नष्ट होने का उल्लेख मिलता है।[72] इसी नगरी के रैवतक पर्वत पर भगवान अरिष्टनेमि ने निर्वाण प्राप्त किया।[73]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन द्वारका रैवतक पर्वत के पास थी। रैवतक पर्वत सौराष्ट्र में आज भी विद्यमान है। संभव है कि प्राचीन द्वारका इसी की तलहटी में बसी हो और पर्वत पर एक रंगीन दुर्ग का निर्माण हुआ हो।

शुक्तिमती

ज्ञाताधर्मकथांग में शुक्तिमती नगरी का उल्लेख मिलता है। यह नगरी चेदि

(बुन्देलखण्ड का उत्तरी भाग) की राजधानी थी।[74] बांदा जिले के आसपास के प्रदेश को शुक्तिमती कहा जाता है। महाभारत में भी इसका उल्लेख मिलता है।[75] बौद्ध श्रमणों का यह केन्द्र था।[76] इसका राजा शिशुपाल था।[77]

मथुरा

ज्ञाताधर्मकथांग में मथुरा नगरी का उल्लेख मिलता है।[78] मथुरा शूरसेन की राजधानी थी। मथुरा उत्तरापथ की एक महत्वपूर्ण नगरी मानी गई है। इसका नाम इन्द्रपुर था।[79] यहाँ स्वर्ण स्तूप होने का उल्लेख है, जिसे लेकर जैन और बौद्धों में झगड़ा हुआ था और अंत में इस पर जैनों का अधिकार हो गया।[80] रविषेण के बृहत्कथाकोश में इसे देवनिर्मित स्तूप कहा है।[81]

मथुरा में अंतिम केवली जम्बूस्वामी का निर्वाण हुआ था, अत: सिद्धक्षेत्रों में इसकी गणना की जाती है। ईस्वी सन् की चौथी शताब्दी में जैन आगमों की यहाँ संकल्पना हुई थी, इस दृष्टि से भी इस नगरी का महत्व समझा जा सकता है। प्राचीनकाल से ही अनेक जैन भिक्षुओं का यह केन्द्र रहा है।[82]

मथुरा प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था और बच्चों के लिए यह विशेष रूप से प्रसिद्ध था।[83] मथुरा के राजा 'धर' द्रोपदी के स्वयंवर में शामिल हुए थे।[84] मथुरा की पहचान मथुरा से दक्षिण-पश्चिम में स्थित महोलि नामक ग्राम से की जाती है।

पाण्डु मथुरा

ज्ञाताधर्मकथांग में पाण्डु मथुरा नगरी का नामोल्लेख मिलता है।[85] पाण्डवों ने श्रीकृष्ण के आदेश पर दक्षिणार्थ भरतक्षेत्र के बेलातट (समुद्र किनारे) पर पाण्डु-मथुरा नामक नगरी की रचना की और फिर पाण्डव उसी नगर में रहने लगे।[86]

विराटनगर

ज्ञाताधर्मकथांग में वैराट या विराटनगर का उल्लेख मिलता है।[87] यह नगरी (वैराट, जयपुर के पास) मत्स्य की राजधानी थी। यहाँ के राजा विराट की राजधानी होने के कारण इसे वैराट या विराट कहा जाता था। पांडवों ने यहाँ अज्ञातवास बिताया था।[88] बौद्ध मठों के ध्वंसावशेष यहाँ उपलब्ध हुए हैं। यहाँ के लोग अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध थे।[89] विराटनगर का राजा कीचक था, जिसे द्रौपदी के स्वयंवर में पधारने के लिए आमंत्रित किया गया।[90]

काशी

ज्ञाताधर्मकथांग में काशी का नामोल्लेख मिलता है। इसका राजा शंख था।[91] यह मध्यप्रदेश का प्राचीन जनपद था। इसकी राजधानी और प्रमुख नगरी वाराणसी थी।[92] काशी के वस्त्र और चन्दन का उल्लेख बौद्ध जातकों में मिलता है।[93] काशी और कौशल के अठारह गणराजाओं का उल्लेख प्राचीन जैन सूत्रों में मिलता है। काशी को जीतने के लिए कौशल के राजा प्रसेनजीत और मगध के राजा अजातशत्रु में युद्ध हुआ था, जिसमें अजातशत्रु की विजय हुई और उन्होंने काशी को मगध में मिला लिया था।[94]

इस जनपद में वाराणसी, मिर्जापुर, जौनपुर, आजमगढ़ और गाजीपुर जिले का भू-भाग सम्मिलित है। जैनधर्म के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म इसी जनपद की प्रसिद्ध नगरी वाराणसी में हुआ था। जैन-साहित्य में काशी जनपद का महत्वपूर्ण स्थान है।[95]

काकन्दी

ज्ञाताधर्मकथांग में काकन्दी नगरी का नामोल्लेख मिलता है।[96] काकन्दी के अश्व व्यापारी प्रसिद्ध थे। ये व्यापारी व्यापारार्थ अन्य नगरों में अपने अश्व लेकर जाया करते थे।[97] काकन्दी नगरी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में स्थित थी।[98] काकन्दी नगरी के धन्य अणगार ने उत्कृष्ट तप साधना से अपने शरीर को शुष्क-नीरस बना लिया, वे घोर तपस्पी-महानिर्जरा कारक थे।[99]

काकन्दी कांपिल्य के आस-पास थी। कांपिल्य की पहचान उत्तरप्रदेश के फर्रूखाबाद जिले में स्थित काम्पिल्य नामक स्थान से की जाती है। पश्चात्वर्ती अनुसंधान और उत्खनन से काकन्दी की स्थिति उत्तरप्रदेश के देवरिया जिले में मानी जाने लगी है। नोनखार स्टेशन से लगभग तीन मील दक्षिण में खुखुन्दू नामक ग्राम से इसकी पहचान की जाती है।[100] आधुनिक कोकंद देश का पुराना नाम काकंदी था।[101]

पंचाल जनपद

ज्ञाताधर्मकथांग में पंचाल जनपद का उल्लेख मिलता है।[102] पंचाल एक समृद्ध जनपद था। महाभारत में पंचाल का अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। पंचाल में जन्म लेने के कारण द्रौपदी पाँचाली कही जाती थी।[103] आधुनिक एटा, बदायूँ, मैनपुरी, फर्रूखाबाद और उसके आसपास के प्रदेश को पंचाल माना

जाता है।[104]

पंचाल जनपद राज्य का विस्तार रूहेलखण्ड और गंगा-यमुना द्वाब के एक भाग पर था। इसकी उत्तरी और दक्षिणी दो शाखाएँ थीं। उत्तर पंचाल की राजधानी अहिच्छत्रा और दक्षिण-पंचाल की कांपिल्यपुर थी।[105]

पंचाल के प्राचीन राजाओं में से दुम्मुख (दुर्मुख) नामक राजा अत्यन्त प्रभावशाली था।[106]

पाणिनि व्याकरण में इसके तीन विभाग मिलते हैं- (1) पूर्व पंचाल, (2) अपर पंचाल और (3) दक्षिण पंचाल।[107] हेमचन्द्राचार्य ने अभिधान चिंतामणि में पंचाल का दूसरा नाम प्रत्यग्रथ और उसकी राजधानी अहिच्छत्रा बताया है।[108]

कांपिल्यपुर

ज्ञाताधर्मकथांग में कांपिल्यपुर का नामोल्लेख मिलता है।[109] यह दक्षिण पंचाल की राजधानी थी। कांपिल्यपुर अथवा कांपिल्यनगर (कंपिल, जिला फर्रूखाबाद) गंगा के तट पर अवस्थित था।[110] द्रौपदी का स्वयंवर भी यहाँ बड़ी धूमधाम से रचा गया था।[111]

कांपिल्यपुर का राजा जितशत्रु मल्ली भगवती पर आसक्त हो गया, उसने मल्ली भगवती से रानी रूप में मंगनी करने की इच्छा व्यक्त की, लेकिन जब राजा कुम्भ ऐसा करने से इंकार कर देता है तो जितशत्रु उस पर आक्रमण कर देता है।[112]

कनिंघम ने काम्पिल की पहचान उत्तरप्रदेश के फर्रूखाबाद जिले में फतेहगढ़ से 28 मील उत्तर-पूर्व, गंगा के समीप में स्थित 'कांपिल' के रूप में की है।[113]

अहिच्छत्रा

ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार अहिच्छत्रा नगरी चम्पानगरी के उत्तर-पूर्व दिशा में थी।[114]

चम्पा के साथ इसका व्यापार होता था। यह नगरी धनधान्य से परिपूर्ण थी।[115] इसकी गणना अष्टापद उज्जयन्त (गिरनार), गजाग्रपदगिरि, तक्षशिला और रथावर्त नामक तीर्थों के साथ की गई है।[116] यह नगरी शंखवती[117], प्रत्यग्रथ[118] एवं शिवपुर[119] नाम से भी प्रसिद्ध थी। जैन मान्यता के अनुसार धरणेन्द्र ने यहाँ अपने फण (अहिच्छत्र) से पार्श्वनाथ की रक्षा की थी।

सुराष्ट्र

ज्ञाताधर्मकथांग में सुराष्ट्र नगरी का नामोल्लेख मिलता है।[120] इसे सौराष्ट्र भी कहा गया है। इसकी गणना महाराष्ट्र, आंध्रप्रदेश, कुडुक्क के साथ की गई है।[121] आलोच्य ग्रंथ के अनुसार सुराष्ट्र एक जनपद था जो पंचाल देश और द्वारका नगरी के मध्य स्थित था।[122] सौराष्ट्र जनपद की राजधानी वल्लभी थी और इस वल्लभी नगरी में चौथी और अंतिम आगम वांचना देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई थी।[123]

कौशल

ज्ञाताधर्मकथांग में कौशल नगर का नामोल्लेख मिलता है।[124] कौशल अथवा कौशलपुर (अवध) जैनसूत्रों में एक प्राचीन जनपद माना गया है। कौशल का प्राचीन नाम विनीता था। कहा जाता है कि यहाँ के निवासियों ने विविध कलाओं में कुशलता प्राप्त की थी, इसलिए लोग विनीता को कुशला कहने लगे।[125] कौशल की राजधानी श्रावस्ति थी। इससे पहले कौशल की राजधानी साकेत और अयोध्या रह चुकी थी। कौशल और काशी के राजा परस्पर प्रायः लड़ा करते थे।[126] पाणिनि ने कौशल देश को बुद्धकालीन सोलह जनपदों में एक माना है।[127]

सौगधिंका

ज्ञाताधर्मकथांग में सौगंधिका नगरी का नामोल्लेख मिलता है।[128]

तैतलिपुर

ज्ञाताधर्मकथांग में तैतलिपुर नगर का उल्लेख मिलता है।[129]

हस्तीशीर्षनगर

ज्ञाताधर्मकथांग में हस्तीशीर्ष नगर का नामोल्लेख मिलता है।[130]

चम्पा

ज्ञाताधर्मकथांग के प्रथम अध्ययन में चम्पानगरी का उल्लेख मिलता है। चम्पानगरी का राजा कूणिक था। चम्पानगरी के उत्तर-पूर्व/ईशानकोण में पूर्णभद्र नामक चैत्य था।[131] आर्य देशों में चम्पानगरी सम्मिलित थी और यह अंग देश की राजधानी थी।[132] स्थानांग सूत्र में 10 राजधानियों में एक राजधानी चम्पा का भी उल्लेख मिलता है।[133] चम्पानगरी तोरण, धवलगृह, कोट आदि से युक्त थी।[134] कुवलयमालाकहा के अनुसार काकन्दी से एक योजन दूर कोसम्ब वन था तथा

उस वन में एक कोस दूर चम्पापुरी थी।[135] वर्तमान में यह बिहार के भागलपुर से पश्चिम की ओर चार मील दूर स्थित है।[136] चम्पा व्यापार वाणिज्य का प्रमुख केन्द्र थी। वहाँ व्यापारी माल लेकर व्यापार हेतु दूर-दूर से आते और वहाँ से दूसरा माल लेकर जाते थे।[137] चम्पानगरी चम्पा के पुष्पों से घिरी होने के कारण चंपामालिनी कहलाती थी।[138] रोम पाद के प्रपौत्र चंप ने इस नगरी को बसाया था।[139]

प्राचीनकाल में इस नगर में कई नाम थे- चम्पानगर, चंपावत, चंपापुरी, चंपा और चंपामालिनी। उस युग के सांस्कृतिक जीवन में चंपा का महत्त्वपूर्ण स्थान था। बुद्ध, महावीर और गोशालक कई बार चंपा आए थे। 12वें तीर्थंकर वासुपूज्य का जन्म और निर्वाण दोनों ही चंपा में हुए थे। यह जैनियों का प्रमुख तीर्थस्थान था। शय्यंभव ने दशवैकालिक सूत्र की रचना यहीं की थी। चंपा इतिहास, संस्कृति, राजनीतिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था, कला आदि व्यवस्थाओं की दृष्टि से समुन्नत थी।[140]

चम्पानगरी वैभवशाली सुरक्षित और समृद्ध थी। वहाँ के नागरिक और जनपद के अन्य भागों से आए व्यक्ति प्रसन्न रहते थे। वहाँ जनसंकुल था। वहाँ ईख, जौ, धान की फसल बहुत होती थी, जिससे वहाँ की भूमि लहलहाती हुई सुशोभित होती थी। चम्पा में पशुओं की भरमार थी। वहाँ शिल्पकला युक्त सुन्दर चैत्य थे। चम्पा शान्तिमय एवं उपद्रव शून्य स्थान थी, क्योंकि वहाँ चोर, डाकू, रिश्वतखोर, बटमार और चुंगी वसूल करने वालों आदि का कोई खतरा नहीं था। चम्पा में विभिन्न श्रेणियों के कौटुम्बिक पारिवारिक लोगों की घनी बस्ती एवं संयुक्त परिवार थे। भिक्षुओं को शुद्ध ऐषणीय भिक्षा सुखपूर्वक मिल जाती थी। वहाँ के लोग शुद्ध ऐषणीय प्रासूक आहार देकर प्रमुदित होते और स्वयं को धन्य-धन्य, कृत-कृत मानते थे। चम्पा नट, नर्तक, जल्ल, लासक, प्लवक, मलल, विदूषक, मुक्केबाज, कथा कहने वाले, शुभ-अशुभ शकुन बताने वाले, वीणा, तूण, पूंगी आदि बजाकर लोगों का मनोरंजन करने वाले लोगों से युक्त थी। ये सभी अपनी कला का प्रदर्शन कर आजीविका चला रहे थे। वह नगरी नन्दनवन सी थी। वह ऊँची, विस्तीर्ण और गहरी खाई से युक्त थी, उसके चारों ओर विशाल परकोटा था। परकोटे के मध्य बने हुए आठ हाथ चौड़े मार्गों, उसमें बने हुए छोटे द्वारों- वातायनों, गोपुरों, नगर द्वारों, तोरणों आदि से वह नगरी सुशोभित हो रही थी। वह व्यापार-वाणिज्य, बाजार आदि के कारण तथा बहुत से शिल्पियों,

कारीगरों से युक्त होने के कारण सुख-सुविधापूर्ण थी। तिराहों, चौराहों, तिकोने स्थानों एवं जहाँ से चार से अधिक रास्ते मिलते हों ऐसे स्थानों से वह युक्त थी। वहाँ राजा की सवारी निकलती थी। वहाँ उत्तम घोड़े, मदोन्मत्त हाथी, रथ, पालकियाँ, यान आदि बहुतायत से थे, उनकी सवारियाँ निकलती रहती थी। वहाँ के जलाशयों में कमल खिले रहते थे। उस नगरी में उत्तम बड़े-बड़े, सफेदी किए हुए विशाल भवन दर्शनीय, प्रेक्षणीय थे।

वाराणसी

काशी, कौशल आदि सोलह प्राचीन महाजनपदों में काशी एक प्रसिद्ध जनपद रहा है जो वर्तमान में बनारस या वाराणसी के नाम से विख्यात है। ज्ञाताधर्मकथांग में वाराणसी के स्थान पर 'वाणारसी' शब्द आता है।[142] उस काल में काशी नामक जनपद में वाराणसी नामक नगरी थी, उसमें काशीराज शंख नामक राजा था।[143]

'वाणारसी' में 'वा' के बाद 'णा' है और बनारस में भी 'ब' के बाद 'न' है, अत: इस आधार पर कहा जा सकता है कि 'वाणारसी' से 'बनारस' शब्द की उत्पत्ति हुई।

प्राकृत भाषा में इस प्रवृत्ति को वर्ण व्यत्यय कहते हैं।[144]

यह पवित्रभूमि चार तीर्थंकरों (सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभु, श्रेयांसनाथ और पार्श्वनाथ) की जन्मभूमि है।

राजगृह

राजगृह नामक नगर जम्बूद्वीप के भारतवर्ष के दक्षिणार्थ भरत में स्थित था।[145] ज्ञाताधर्मकथांग में राजगृह की नगर व्यवस्था का विवेचन करते हुए बतलाया गया है कि यहाँ जुआघर, मदिरालय, वैश्याघर तथा चोरों के अड्डे थे। यहाँ नामदेव के गृह, भूत-गृह, यक्षगृह आदि भी थे। विभिन्न आकार-प्रकार के मार्ग बने हुए थे।[146] मगध की राजधानी राजगृह थी। राजगृह की गणना भारत की दस राजधानियों में की गई है।[147] मगध का मुख्य नगर होने के कारण राजगृह को मगधपुर भी कहा जाता था। जैन ग्रंथों में इसे क्षितिप्रतिष्ठित, चणकपुर, ऋषभपुर और कुशाग्रपुर नाम से भी जाना जाता है। कहा जाता है कि कुशाग्रपुर में प्राय: आग लग जाया करती थी, अतएव मगध के राजा बिम्बिसार ने उसके स्थान पर राजगृह नगर बसाया था।[148] भगवान महावीर ने यहाँ सर्वाधिक 14 चातुर्मास

किये। राजा बिम्बसार की 23 रानियाँ, कई पुत्र, पौत्र और गणमान्य जनों ने यहाँ से भगवान महावीर के पास संयम ग्रहण किया। नवविवाहित 8 पत्नियों सहित 527 व्यक्तियों के साथ जम्बूकुमार जैसे युवक दीक्षित हुए।

मिथिला विदेह (विदेह देश की मिथिला नगरी)

ज्ञाताधर्मकथांग में मिथिला विदेह का नामोल्लेख मिलता है।[149] विदेह अर्थात् मिथिला नगरी में 19वें तीर्थंकर 'मल्ली भगवती' का जन्म हुआ।[150] यह नगरी व्यापार और वाणिज्य के लिए प्रसिद्ध थी। चम्पानगरी का अर्हन्नक श्रमणोपासक वहाँ से बेचने योग्य वस्तुओं को मिथिला नगरी लाया और मिथिला से चम्पानगरी ले गया।[151] मिथिला विदेह जनपद की राजधानी थी।[152] विदेह राज्य की सीमा उत्तर में हिमालय, दक्षिण में गंगा, पश्चिम में गंडकी और पूर्व में महानदी तक थी।[153] सुरूचि जातक के अनुसार इस राष्ट्र का विस्तार तीन सौ योजन था।[154] इसमें सोलह हजार गाँव थे।[155] यह एक समृद्ध राष्ट्र था। यहाँ का प्रत्येक घर 'कदली-वन' से सुशोभित था। स्थान-स्थान पर वापी, कूप और तड़ाग मिलते थे। खीर यहाँ का प्रसिद्ध भोजन था। यहाँ की सामान्य जनता भी संस्कृत में विशारद थी और वे धर्मशास्त्रों में भी निपुण थे। मिथिला का दूसरा नाम 'जनकपुरी' था। इसके पास ही महाराज जनक के भाई 'कनक' का निवास स्थान 'कनकपुर' बसा हुआ था।[156] वर्तमान में नेपाल की सीमा के अंतर्गत, जहाँ मुजफ्फरपुर और दरभंगा जिले मिलते हैं, छोटे नगर 'जनकपुर' को प्राचीन मिथिला कहा जाता है।[157]

भगवान महावीर ने यहाँ छः चातुर्मास किए।[158] प्रत्येकबुद्ध नमि को कंकण की ध्वनि से यहीं वैराग्य हुआ था।[159] जैन आगमों में वर्णित दस राजधानियों में मिथिला का नाम है।[160]

साकेत

ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार यह कौशल देश की विशिष्ट नगरी थी। इसके उत्तरपूर्व में (ईशान) एक बहुत बड़ा चैत्य था।[161] पतंजलि ने इसे उत्तर कौशल की राजधानी कहा है। उनके अनुसार यह नगरी पूर्वी और पश्चिमी भारत को जोड़ने वाले मार्ग पर स्थित थी।[162]

कुणाल

ज्ञाताधर्मकथांग में कुणाल जनपद का उल्लेख मिलता है।[163] कुणाल जनपद

को उत्तर कौशल के नाम से भी जाना जाता है। सरयू नदी के मध्य में होने के कारण कौशल जनपद उत्तर कौशल और दक्षिण कौशल दो भागों में विभक्त था।[164] कुणाल देश की राजधानी श्रावस्ती नामक नगरी थी। उस कुणाल देश में रूक्मि नामक राजा राज्य करता था। उसने अपनी पुत्री सुबाहुकुमारी का मज्जन महोत्सव खूब उत्सुकता से मनाया।[165]

श्रावस्ती

कुणाल जनपद में श्रावस्ती नगरी थी।[166] यह इस जनपद की राजधानी थी। यह नगरी अचिरावती नदी के किनारे बसी थी। जैन सूत्रों में उल्लेख है कि इस नदी में बहुत कम पानी रहता था। इसके अनेक प्रदेश सूखे थे और जैन भिक्षु इसे पार करके भिक्षा के लिए जाते थे। भगवान महावीर ने यहाँ एक चातुर्मास किया था। श्रावस्ती बौद्धों का केन्द्र था।[167] पार्श्वनाथ के अनुयायी केशीकुमार और महावीर के शिष्य गणधर गौतम के बीच चातुर्याम और पंच-महाव्रत को लेकर यहाँ ऐतिहासिक चर्चा हुई थी।[168]

जिनप्रभसूरि के अनुसार यहाँ समुद्रवंशीय राजा राज्य करते थे, जो बुद्ध के परम उपासक थे। यहाँ कई किस्म का चावल पैदा होता था। श्रावस्ती महेठि नाम से कही जाती थी।[169] आजकल यह नगरी सहेट-महेट, जिला गोंडा में स्थित है। यहाँ बुद्ध की एक विशाल मूर्ति है, जिसके दर्शनार्थ बौद्ध उपासक श्रीलंका आदि दूर-दूर स्थानों से आते हैं।

जन-सन्निवेश

यद्यपि ज्ञाताधर्मकथांग में जन-सन्निवेश के स्वरूप एवं प्रकारों की कोई विस्तृत एवं विशद् विवेचना प्राप्त नहीं होती है लेकिन उनका नामोल्लेख होने के कारण अन्य ग्रंथों के संदर्भों से इनका विवेचन युक्तिसंगत होगा।

ग्राम

ज्ञाताधर्मकथांग में 'ग्राम' शब्द का उल्लेख तो मिलता है,[170] लेकिन उसकी विस्तृत जानकारी नहीं मिलती है। भारतीय समाज में ग्राम का महत्वपूर्ण स्थान है। भारत की आत्मा गाँवों में बसती है। 'ग्राम' शब्द 'ग्रस-ग्रहणे' धातु से ग्रसेरात् (उणादि सूत्र 1/142) सूत्र से मन् और धातु को आकारन्त होकर 'ग्राम' बनता है। अमरकोशकार[171] ने ग्राम और संवसथ को पर्याय माना है, अट्टादि (मार्केट) आदि से रहित स्थल को ग्राम कहते हैं।

जैन पुराणों में कहा गया है कि जिनमें बाड़ से घिरे हुए घर हों, जिनमें अधिकतर शूद्र और किसान निवास करते हों तथा जो उपवन और तड़ागों से युक्त हों, उन्हें ग्राम कहते हैं।[172]

प्राकार, परिखा आदि से रहित सामान्य जनसमुदाय की आवास भूमि को ग्राम कहा जाता है। वहाँ कृषि, पशुपालन आदि जीविकोपार्जन की प्रधानता होती है।

जहाँ पर कर लगते हैं, वह ग्राम है।[173]

नगर

'नग' शब्द से नगपांसु पाण्डुभ्यश्च के अनुसार 'र' प्रत्यय होकर नगर शब्द बनता है।[174] बहुत लोगों का निवास स्थान जहाँ होता है, वह नगर है।

जहाँ पर अष्टाशत ग्राम्य लोगों का व्यवहार स्थान हो- न्यायालय हो, उसे नगर कहा जाता है।[175] आचारांग चूर्णि के अनुसार जहाँ पर किसी प्रकार का कर नहीं लगे, वह नगर है।[176] आचार्य महाप्रज्ञ भी लिखते हैं- 'नात्र करो विद्यते इति नगरम्।' (उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 408)। नगर में प्रायः सभी प्रकार के लोग निवास करते थे। ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार राजगृहनगर में नट, नर्तक, जल्ल, मल्ल, मौष्टिक, विदूषक, कथाकार, तैराक, नृत्यकर्ता, ज्योतिषी, चित्रकार, बंदीजन, राजपरिवार, कुम्भकार आदि अठारह प्रकार की श्रेणियाँ- उपश्रेणियाँ, स्त्रियाँ, दास-दासी, विद्यार्थी, चोर-डाकू, मुनिगण आदि सभी प्रकार के व्यक्ति निवास करते थे।[177]

विभिन्न प्रकार के नगर

ज्ञाताधर्मकथांग में विभिन्न प्रकार के स्थलों का नामोल्लेख मिलता है, जिनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

द्रोणमुख

बन्दरगाह के किनारे का वह शहर जहाँ जल और थल दोनों मार्गों से व्यापार की वस्तुएँ आती रहती हों। (सचित्र अर्द्ध मागधी कोष, भाग 3, पृष्ठ 228)

ज्ञाताधर्मकथांग में 'द्रोणमुख' का नामोल्लेख एकाधिक स्थानों पर मिलता है,[178] लेकिन इसकी भौगोलिक स्थिति का वर्णन नहीं मिलता है। नदी के किनारे

बसे हुए नगर को द्रोणमुख कहते हैं।[179] आदिपुराण में ऐसे आपणक केन्द्र को, जो किसी नदी के तट पर बसा हो, द्रोणमुख कहा गया है।[180] आचारांग चूर्णि में द्रोणमुख उसे कहा गया है जहाँ जल और थल दोनों से आवागमन होता था, जैसे- ताम्रलिप्ति और भरूकच्छ।[181] कौटिल्य अर्थशास्त्र में इसकी स्थिति चार सौ ग्रामों के मध्य कही गई है।[182]

पट्टन

विशालनगर जहाँ नानादेशों से अनेक पदार्थ विक्रयार्थ आते हों। (सचित्र अर्द्धमागधी कोष, भाग 3, पृ. 407) जल और थल मार्ग में से जहाँ एक मार्ग से जाया जाए। (कल्पसूत्र पृ. 119)

ज्ञाताधर्मकथांग में 'पट्टन' शब्द का नामोल्लेख मिलता है।[183] विभिन्न संदर्भों में किए गए 'पट्टन' शब्द के प्रयोग के आधार पर कहा जा सकता है कि 'पट्टन' उस नगर को कहते हैं, जो समुद्र तट पर स्थित हों, जिसमें वणिक एवं विभिन्न जाति के लोग रहते हों, वस्तुएँ क्रय-विक्रय की जाती हों तथा वाणिज्य एवं व्यवसाय का बोलबाला हो और बाहरी देशों से क्रय-विक्रय के लिए लाई गई सामग्री से परिपूर्ण हो। व्यवहारसूत्र के अनुसार जहाँ नौकाओं द्वारा गमन होता है उसे 'पट्टन' कहते हैं एवं जहाँ नौकाओं के अतिरिक्त गाड़ियों एवं घोडों से भी गमन होता हे, उसे 'पत्तन' कहा गया है।[184]

पुटभेदन

ज्ञाताधर्मकथांग में 'पुटभेदन' शब्द का प्रयोग एकाधिक स्थानों पर मिलता है।[185] बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्रों के लिए अमरकोश में 'पुटभेदन' शब्द का उल्लेख मिलता है, यहाँ पर राजा के नौकर आदि बसते थे।[186] बड़े-बड़े नगरों में थोक माल की गांठे मुहरबंद आती थी और मुहर तोड़कर माल को फुटकर व्यापारियों को बेच दिया जाता था। मुहरों के इस प्रकार तोड़ने के विशिष्ट व्यापारिक केन्द्र को पुटभेदन संज्ञा से संबोधित किया गया है, ऐसी मुहरें पुरातत्त्व की खुदाई से प्राप्त हुई हैं।[187]

कर्वट

ज्ञाताधर्मकथांग में 'कब्बड' शब्द आया है।[188] इसे खर्वट भी कहते हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार इसकी स्थिति दो सौ ग्रामों के बीच होती है, यहाँ इसे खार्वटिक कहा है।[189] आदिपुराण में इसे पर्वताच्छादित माना है।[190]

खेट

ज्ञाताधर्मकथांग में एकाधिक स्थानों पर 'खेट' का नामोल्लेख मिलता है।[191] पाणिनि ने खेट को गर्हित नगर कहा है।[192]

मटम्ब

ज्ञाताधर्मकथांग में एकाधिक स्थानों पर 'मडम्ब' का उल्लेख आया है।[193] आदिपुराण में उस बड़े नगर को मडम्ब कहा गया है जो पाँच सौ ग्रामों के मध्य व्यापार आदि का केन्द्र हो।[194] जिसके चारों ओर आधे योजन तक कोई ग्राम न हो, उसे मडम्ब कहते है।

आकर

ज्ञाताधर्मकथांग में 'आकर' (आगर) का उल्लेख एकाधिक स्थानों पर मिलता है।[195] कालिकद्वीप में सोने-चांदी, रत्न व हीरों की खानें (आकर) थी।[196]

संवाह

ज्ञाताधर्मकथांग में 'संवाह' का नामोल्लेख मिलता है।[197] आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार जहाँ चारों वर्णों के लोगों का अति मात्रा में निवास हो, वह संवाह है।[198] समभूमि में जहाँ किसान कृषि करके धान्य की रक्षा हेतु धान्य रखता है। (कल्पसूत्र, पृ. 119)

आश्रम

'आश्रम' का उल्लेख भी ज्ञाताधर्मकथांग में मिलता है।[199] उक्त संदर्भ के आधार पर कहा जाता है कि आश्रम उस स्थान को कहा जाता है जहाँ साधु, मुनि, तापस आदि निवास करते थे।

निगम

ज्ञाताधर्मकथांग में 'निगम' का उल्लेख मिलता है।[200] आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार 'नयन्तीति निगमाः' अर्थात् वह नगर जहाँ पर बहुतायत व्यापार हो या व्यापारिक लोग निवास करते हों, उसे निगम कहा जाता था।[201]

सन्निवेश

ज्ञाताधर्मकथांग में 'सन्निवेश' का उल्लेख मिलता है।[202] उक्त संदर्भ के आधार पर कहा जा सकता है कि यात्रा से आए हुए मनुष्यों के रहने का स्थान 'सन्निवेश' कहा जाता था।

नगर-विन्यास

प्राचीनकाल से वास्तुकला में नगर-निर्माण का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। ज्ञाताधर्मकथांग में वास्तुपाठकों का उल्लेख मिलता है।[203] द्वारिकानगरी का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह नगरी पूर्व से पश्चिम नौ योजन चौड़ी और दक्षिण से उत्तर बारह योजन लम्बी थी, जो देवलोक के समान उत्कृष्ट सम्पदाओं से परिपूर्ण थी।[204] औपपातिक सूत्र के अनुसार नगरों में तिराहे, चौराहे, चत्वर और राजमार्ग आदि बने होते थे। नगर के चारों ओर विशाल कोट का निर्माण किया जाता था। कोट के चारों ओर गहरी खाई खोदी जाती थी। नगरियाँ राजमार्गों, अट्टालिकाओं, गुमटियों, चरिकाओं, द्वारों, खिड़कियों, गोपुरों-नगरद्वारों, तोरणों आदि से सुशोभित थी। नगर में क्रीड़ावाटिका, उद्यान, बगीचे, कुएं, तालाब, बावड़ी, खाई आदि होते थे।[205]

राजभवन निर्माण

ज्ञाताधर्मकथांग में विभिन्न राजभवनों का उल्लेख मिलता है। मेघकुमार के भवन का वर्णन करते हुए कहा गया है- वह अनेक स्तंभों पर बना हुआ था। उसमें लीलायुक्त अनेक पुतलियाँ लगी हुई थी। उसमें ऊँची और सुनिर्मित वज्ररत्न की वेदिका थी। उस भवन में ईहा-मृग, वृषभ, तुरंग, मनुष्य, मकर आदि के चित्र चित्रित किए हुए थे। उसमें सुवर्ण, मणि एवं रत्नों की स्तूपिकाएँ बनी हुई थी। उसका प्रधान शिखर नाना प्रकार की पाँच वर्णों की घंटाओं सहित पताकाओं से सुशोभित था। वह अत्यन्त मनोहर था।[206]

धारिणी रानी का भवन मणियों-रत्नों से युक्त शिखर, कपोत-पाली, गवाक्ष, अर्ध-चन्द्राकार सोपान, निर्यूहक, कनकाली तथा चन्द्रमालिका आदि घर के विभागों की सुन्दर रचना से युक्त था। बाहर से उसमें सफेदी की गई थी, कोमल पाषाण से घिसाई की गई थी, अतएव वह चिकना था। स्वर्णमय आभूषणों, मणियों एवं मोतियों की लंबी लटकने वाली मालाओं से उसके द्वार सुशोभित हो रहे थे।[207]

ज्ञाताधर्मकथांग में भवन के सभी प्रमुख अंगों का पूर्ण विवरण तो नहीं मिलता, लेकिन उनका नामोल्लेख एवं कुछ जानकारियाँ मिलती हैं। इन जानकारियों और अन्य ग्रंथों के संदर्भों के आधार पर उन अंगों का विवेचन इस प्रकार है-

द्वार

ज्ञाताधर्मकथांग में द्वार का नामोल्लेख[208] तथा इनकी साज-सज्जा का वर्णन

एकाधिक स्थानों पर मिलता है। धारिणी देवी के भवन के द्वार पर उत्तम पुतलियाँ बनी हुई थी। उसके द्वार-भागों में चन्दन-चर्चित, मांगलिक घट सुन्दर ढंग से स्थापित किए हुए थे।[209] द्वार पर यवनिका भी लगाई जाती थी, जो विभिन्न चित्रों से चित्रित होती थी।[210] राजभवन में आगे-पीछे सब तरफ द्वार होते थे। जब एक राजा की बात स्वीकार नहीं होती तो उसके दूत का अपमान करके उसे अपद्वार से निकाला जाता। राजा कुम्भ ने मल्ली का हाथ मांगने आए छः विभिन्न राजाओं के दूतों को फटकार कर अपद्वार से बाहर निकाल दिया।[211] पद्मनाभ राजा द्वारा कृष्ण के दूत को अपमानित कर अपद्वार से बाहर निकालने का उल्लेख भी मिलता है।[212]

स्तम्भ

ज्ञाताधर्मकथांग में भवन के प्रमुख अंग के रूप में स्तम्भ का उल्लेख विभिन्न स्थानों पर मिलता है।[213] नन्दमणियार की चित्रसभा, महानसशाला, चिकित्साशाला और अलंकारसभा सैंकड़ों स्तंभों पर बनी हुई थी।[214] मेघकुमार के भवन के स्तंभों के निर्माण में स्वर्ण तथा रत्नों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है।[215]

गर्भगृह

बड़े-बड़े भवनों में गर्भगृह होने का उल्लेख मिलता है, जो बहुत बड़े होते थे तथा इनके चारों ओर जालगृह लगाए जाते थे। ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार मल्ली ने अशोक वाटिका में मोहनगृह का निर्माण करवाया, जिसमें जालगृह भी लगवाए गए, जिससे भीतर की वस्तु बाहर वाले देख सकते हों।[216]

अगासी

ज्ञाताधर्मकथांग में 'अगासी' शब्द का उल्लेख एकाधिक बार आया है।[217] जिसका अर्थ भवन के ऊपर बनी हुई छत, जो संभवतया बालकनी के रूप में रही होगी, से है। ज्ञाताधर्मकथांग में पोट्टिला[218] और सुकुमालिका[219] के स्वर्ण गेंद से अगासी यानी बालकनी में खेलने का उल्लेख मिलता है। ज्ञाताधर्मकथांग में छत के लिए उल्लोच (उल्लोय) शब्द भी आया है,[220] जिसका अर्थ संस्कृत कोश में वितान, शामियाना, चंदोवा और तिरपाल आदि के रूप में मिलता है।[221]

अट्टालिका/गवाक्ष

ज्ञाताधर्मकथांग में राजभवनों में अट्टालिकाएँ (झरोखे) होने का उल्लेख

मिलता है।[222] गवाक्ष के लिए जालगृह शब्द भी आया है।[223] चित्रकार ने मल्ली के पैर का अंगूठा जाली में से देखा और मल्ली का सम्पूर्ण चित्र बना दिया।[224]

प्रमदवन

भवनों में प्रमदवन (क्रीड़ोद्यान) बने होते थे। उन उद्यानों में चित्रसभा, नाट्यशाला आदि भी बनी होती थी। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि मल्लदिन्नकुमार ने कौटुम्बिक पुरुषों को अपने प्रमदवन में एक बड़ी चित्रसभा निर्मित करने का आदेश दिया।[225] तेतलिपुर नगर के बाहर भी ईशानकोण में प्रमदवन नामक उद्यान था।

मण्डप

मण्डप से तात्पर्य ऐसे मचान से होता है जिसके चारों तरफ स्तम्भ होते हैं और उसके ऊपर बने मचान पर बैठा जाता है। ज्ञाताधर्मकथांग में अग्रांकित प्रकार के मण्डपों का उल्लेख मिलता है-

i. **लतामण्डप :** उद्यान के मध्य में लतामण्डप का उल्लेख हुआ है, जिसमें दो सार्थवाह देवदत्ता गणिका के साथ घूम रहे थे, क्रीड़ा कर रहे थे।[226]

ii. **स्थूणामण्डप :** यह संभवतया वृक्ष की लकड़ी से निर्मित एक मण्डप होता होगा, जिसके चारों ओर वस्त्र लगाकर उसे आच्छादित किया जाता था।[227] देवदत्ता गणिका के साथ दो सार्थवाहों के स्थूणामण्डप में क्रीड़ा करते हुए विचरण करने का उल्लेख ज्ञाताधर्मकथांग में मिलता है।[228]

iii. **पुष्पमण्डप :** ज्ञाताधर्मकथांग में पुष्पमण्डप का उल्लेख मिलता है, जो वनखण्ड में होते थे। पुष्पमण्डप में विविध प्रकार के पुष्प होते थे। वहाँ पर लोग भ्रमण करके आनन्द लेते थे। पुष्पों की महक से मण्डप महकता रहता था।[229] पुष्पमण्डप को एक स्थान पर पुष्पगृह भी कहा गया है।[230]

iv. **वल्लिमण्डप :** ज्ञाताधर्मकथांग में वल्लियों अर्थात् बैलों के मण्डप का भी उल्लेख मिलता है।[231] जिस मण्डप के चारों ओर बेलें लगी होती थी, वह वल्लिमण्डप कहलाता होगा।

v. **स्वयंवरमण्डप :** स्वयंवर विधि से होने वाले विवाहों को सम्पन्न कराने के लिए एक विशेष प्रकार का मण्डप तैयार किया जाता था, जिसे स्वयंवरमण्डप नाम दिया गया है। इसमें अनेक प्रकार के स्तंभों से युक्त मंच बने होते थे, जिन पर आगन्तुक राजकुमार अपने-अपने आसन पर

आसीन होते थे। इस मण्डप में वर-वधू के बैठने के लिए एक स्वतंत्र मंच बना होता था। द्रौपदी के स्वयंवरमण्डप में क्रीड़ा/लीला करती हुई पुतलियाँ लगाई गई थीं।[232]

उपस्थानशाला

ज्ञाताधर्मकथांग में बहुत से स्थानों पर 'उपस्थानशाला' शब्द राजा के सभा भवन के लिए आया है।[233] इस सभा भवन यानी उपस्थानशाला में राजा अनेक गणमान्य लोगों के साथ बैठकर विचार-विमर्श करते थे।

देवकुल

देवमंदिर

आराम

दंपत्तियों के रमणोपयोगी नगर के समीपवर्ती बगीचा। (कल्पसूत्र)

उद्यान

खेलकूद या लोगों के मनोरंजन के निमित्त निर्मित बाग। (कल्पसूत्र, पुष्कर मुनि)

दीर्घिका

ज्ञाताधर्मकथांग में कई स्थानों पर 'दीर्घिका' का उल्लेख मिलता है।[234] दीर्घिका एक लम्बी बावड़ी होती थी। उद्यानों के मध्य स्थित ये दीर्घिकाएँ अनेक प्रकार के कमल के फूलों एवं विविध रंगीय पुष्पों से युक्त होती थी।[235]

अन्तःपुर

राजभवन का एक प्रमुख अंग राजा का अन्तःपुर होता था, जहाँ रानियाँ निवास करती थी। ज्ञाताधर्मकथांग में अन्तःपुर के लिए 'रनिवास' (रनवास) शब्द प्रयुक्त हुआ है।[236]

शयनागार

ज्ञाताधर्मकथांग में एकाधिक स्थानों पर शयनागार (वासगृह) का उल्लेख मिलता है।[237] धारिणीदेवी के शयनागार में सुगंधित और श्रेष्ठ पुष्पों से कोमल और रोंएदार शय्या बिछी हुई थी। कपूर, लौंग, मलयज चन्दन, कृष्णअगर आदि अनेकानेक सुगंधित द्रव्यों से बने हुए धूप के जलने से उत्पन्न हुई गंध से शयनागार महक रहा था। मणियों की किरणों के प्रकाश से वहाँ का अंधकार गायब हो गया था।[238] सागरपुत्र और सुकुमालिका वासगृह में शयन करते हैं।[239]

स्नानागार

ज्ञाताधर्मकथांग में स्नानागार के लिए मज्जनगृह[240] शब्द का प्रयोग किया गया है। राजा श्रेणिक के मज्जनगृह का फर्श विचित्र मणियों और रत्नों से निर्मित था। उसके चारों ओर जालियाँ लगी हुई थी। उस मज्जनगृह में रत्न और मणियों से युक्त एक पीठ बाजौठ भी बना था।[241]

भोजनशाला

ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार राजाओं के राजगृह में भोजनशाला भी होती थी। विशेष आयोजन पर विशाल भोजनमंडप बनता था, जहाँ पर मित्र, बन्धु आदि ज्ञाति, निजकजन, परिजन एवं राजपरिवार के सदस्यों आदि के साथ भोजनशाला होने का उल्लेख मिलता है। उन भोजनशालाओं में प्रतिदिन चार प्रकार का भोजन (असणं-पाणं-खाइमं-साइमं) तैयार होता था।[243] नन्दमणिकार सेठ ने एक विशाल भोजनशाला बनवाई, जो सैंकड़ों खम्भों वाली थी। उस भोजनशाला में अनेक लोग जीविका, भोजन और वेतन देकर रखे गए थे। भोजनशाला के लिए 'महानसशाला' शब्द काम में लिया गया है।[244] भोजन बनाने वालों अर्थात् पकाने वालों को 'महाणस' (महाणसि) कहा जाता था।[245]

प्रसूतिगृह

ज्ञाताधर्मकथांग में प्रसूतिगृह या प्रसूतिभवन आदि का कोई उल्लेख नहीं मिलता है, लेकिन मेघकुमार[246], देवदत्त[247], मल्ली[248], कनकध्वज[249] और पोट्टिला पुत्री[250] का जन्म एक अलग कक्ष में होना यह संकेत करता है कि उस समय प्रसूतिगृह जैसा कोई अलग कक्ष रहा होगा।

भाण्डागार

यद्यपि ज्ञाताधर्मकथांग में भाण्डागार का उल्लेख नहीं मिलता लेकिन भाण्डागारिणी (भण्डारी) का उल्लेख मिलता है, जिसके आधार पर भाण्डागार के अस्तित्व को स्वीकार किया जा सकता है। धन्य सार्थवाह ने अपनी पुत्रवधू रक्षिका को अपने घर के आभूषणों, कांसा आदि बर्तनों, दूष्य-रेशमी आदि मूल्यवान वस्त्रों, विपुल धन-धान्य, कनक, रत्न, मणि, मुक्ता, शंख, शिला, प्रवाल, लाल रत्न आदि सम्पत्ति की भाण्डागारिणी नियुक्त कर दिया।[251]

श्रीगृह

ज्ञाताधर्मकथांग में 'श्रीगृह' यानी राजकोष का उल्लेख एकाधिक बार

आया है।[252] मेघकुमार की दीक्षा के समय श्रीगृह से तीन लाख स्वर्ण मोहरें निकालने का संकेत मिलता है।[253]

चारकशाला

ज्ञाताधर्मकथांग में कारागार के लिए 'चारकशाला' शब्द काम में लिया गया है। यहाँ पर बंदियों को रखा जाता था।

कूटागार

ज्ञाताधर्मकथांग में कूटागार का उल्लेख कई स्थानों पर आया है।[255] कूटागार एक कूट (शिखर) के आकार की शाला थी। वह बाहर से गुप्त थी, भीतर से लिपी-पुती थी। उसके चारों ओर कोट था। उसमें वायु का भी प्रवेश नहीं हो पाता था। उसके समीप बहुत बड़ा जनसमूह रहता था। मेघ, आंधी-तूफान आदि किसी प्रकार का प्रकोप होने पर लोग उसमें सुरक्षित हो जाते थे।[256]

प्रासाद

'प्रासाद' शब्द प्राय: राजाओं के भवनों के लिए प्रयुक्त होता है। ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार बड़े भवन को प्रासाद कहा जाता था।[257] मेघकुमार के लिए एक बहुत बड़ा सुन्दर-सा प्रासाद बनवाया गया था, जिसमें वह अपनी आठ पत्नियों के साथ सुखपूर्वक भोग विलास करता हुआ रहता था। उस प्रासाद में सभी तरह की सुख-सुविधाएँ उपलब्ध थी।[258]

समवसरण

तीर्थंकर भगवान की सभा, जिसमें विराजमान होकर वे धर्मोपदेश देते थे, समवसरण कहलाती थी। ज्ञाताधर्मकथांग में मल्ली[259], अरिष्टनेमि[260], पार्श्वनाथ[261] तथा महावीर[262] आदि चार तीर्थंकरों के समवसरणों का उल्लेख मिलता है। तीर्थंकरों के समवसरण में चार तीर्थों (साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका) के अलावा देव और तिर्यञ्च के जीव भी होते हैं और वे सब एक साथ बैठकर धर्मदेशना सुनते हैं।

गृह या गेह

ज्ञाताधर्मकथांग में गृह और गेह एक ही अर्थ में आया है। संभवत: साधारण घरों को गृह या गेह के नाम से पुकारा जाता था। सोमदत्त आदि ब्राह्मणों के घर के लिए 'गिहेसु' शब्द आया है।[263] नागगृह, यक्षगृह, कदलीगृह, लतागृह[264], वैश्रमणगृह[265] आदि का उल्लेख भी मिलता है। घर में दरवाजे, खिड़कियाँ,

छेड़ियाँ व मोरियाँ आदि भी होती थी।[266]

प्रपा/प्याऊ

ज्ञाताधर्मकथांग में एकाधिक स्थानों पर प्याऊ का उल्लेख मिलता है।[267] उक्त संदर्भों के आधार पर कहा जा सकता है कि ये प्याऊ नगरों, उद्यानों, वनखण्डों के साथ-साथ मार्गों पर बनाई जाती थी। इनके निर्माण के पीछे जनकल्याण की भावना थी।

इन सबकी निर्माण प्रक्रिया में कौन-कौनसी निर्माण सामग्री प्रयुक्त होती थी, सीधे तौर पर कुछ भी कह पाना संभव नहीं है, लेकिन उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि भवनों आदि में शिलाओं व प्रस्तरखण्डों का प्रयोग किया जाता होगा। बहुमंजिले आवासों के उल्लेख से यह अनुमान करना युक्तिसंगत होगा कि छत को मिट्टी, लकड़ी व प्रस्तर खण्डों से बनाया जाता होगा। इनकी नींव और दीवारों को मजबूत बनाने की दृष्टि से उनमें प्रस्तरखण्ड और ईंटों का प्रयोग भी होता होगा। ज्ञाताधर्मकथांग के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि उस समय के भवनों आदि में विविध प्रकार के रत्न, मणियाँ, शंख, प्रवाल, मूंगा, मोती, स्वर्ण, रजत आदि का प्रयोग प्रचूर मात्रा में होता था।

चूंकि ज्ञाताधर्मकथांग में ग्रामों की भांति ही ग्रामीण आवासों के विषय में सूचना का भी अभाव है, अतएव यहाँ पर नगरीय आवासों पर ही प्रकाश डाला गया है।

पर्वत

ज्ञाताधर्मकथांग में नगरों के वर्णन के संदर्भ में विभिन्न पर्वतों का वर्णन मिलता है-

रैवतक

ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार द्वारिका के उत्तर-पूर्व में रैवतक पर्वत था।[268] अन्तकृतदशांग में भी यही वर्णन है।[269] त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र के अनुसार द्वारिका के समीप पूर्व में रैवतक गिरि, दक्षिण में माल्यवान शैल, पश्चिम में सौमनस पर्वत और उत्तर में गंधमादन गिरि हैं।[270] महाभारत के अनुसार रैवतक कुशस्थली के समीप था।[271] वैदिक हरिवंशपुराण में रैवतक पर्वत की स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यादव मथुरा छोड़कर सिन्धु में गए और समुद्र किनारे

रैवतक पर्वत के सन्निकट द्वारिका बसाई।[272] यह पर्वत सौम्य, सुभग, देखने के प्रिय, सुरूप, प्रसन्नता प्रदाता, दर्शनीय, अभिरूप तथा प्रतिरूप था।[273] भगवान अरिष्टनेमि ने रैवतक पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया।[274] राजीमती संयम लेकर द्वारिका से रैवतक पर्वत पर जा रही थी। बीच में वर्षा से भीग गई और कपड़े सुखाने के लिए वहीं एक गुफा में ठहरी,[275] जिसकी पहचान आज भी राजीमती गुफा से की जाती हे। रैवतक पर्वत सौराष्ट्र में आज भी विद्यमान है, संभव है प्राचीन द्वारिका इसी की तलहटी में बसी हो।[276]

जैन ग्रंथों में रैवतक, उज्जयंत, उज्ज्वल गिरिणाल और गिरनार आदि नाम इस पर्वत के आए हैं।[277] महाभारत में भी इस पर्वत का दूसरा नाम उज्ज्यंत आया है।[278]

दिगम्बर परम्परा के अनुसार रैवतक पर्वत की चन्द्रगुफा में आचार्य धरसेन ने तप किया था और यहीं पर भूतबलि और पुष्पदन्त आचार्यों को अवशिष्ट श्रुतज्ञान को लिपिबद्ध करने का आदेश दिया था।[279]

वैभार पर्वत

ज्ञाताधर्मकथांग में वैभार पर्वत का नामोल्लेख मिलता है।[280] वैभार पर्वत पर अनेक जड़ी-बूटियाँ, सुन्दर-सुन्दर झरने, उष्ण और शीतल जल के कुंड विद्यमान हैं। सरस्वती नदी का उद्गम स्थल भी यही है। पहाड़ी की तलहटी में राजगृह नामक सुन्दर नगरी बसी हुई है।[281]

विन्ध्याचल

ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार यह पर्वत जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में दक्षिणार्थ भरत में गंगा महानदी के दक्षिणी किनारे पर स्थित है।[282] यह पर्वतमाला सामान्य रूप से बिहार प्रान्त की पश्चिमी सीमा से प्रारंभ होकर अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं में विभक्त होकर दक्षिण-पश्चिम दिशा में गुजरात (काठियावाड़) तक पहुंचती है और इस प्रकार यह पर्वतमाला सम्पूर्ण मध्यप्रदेश में फैली हुई है। वर्तमान में मिर्जापुर शहर से 6 कि.मी. दूर स्थित पहाड़ी, जहाँ विन्ध्वासिनी देवी का एक महिमाशाली मंदिर है, विन्ध्याचल के नाम से जानी जाती है।[283]

नीलवन्त

ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार यह पर्वत जम्बूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र के उत्तर में स्थित है।[284] यह पर्वत रम्यक्वर्ष क्षेत्र एवं महाविदेह क्षेत्र के बीच सीमा

निर्धारण करने वाला है। यह वैडूर्य रत्न (नीलम) मय है।

निषध

ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार यह पर्वत जम्बूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र दक्षिण तथा मेरु पर्वत की दक्षिण दिशा में स्थित है।[285] जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के अनुसार निषध एवं नीलवन्त पर्वत का विस्तार $16842\frac{2}{19}$ योजन है। इसकी ऊँचाई चार सौ योजन, गहराई 400 कोस एवं वर्ण तपाए हुए स्वर्ण के समान है। इस पर्वत के दोनों पार्श्व भागों में विभिन्न प्रकार के उत्तम वृक्षों से युक्त और तोता, कोयल, मयूर आदि पक्षियों से युक्त रमणीय वनखंड हैं।[286] यह पर्वत महाविदेह क्षेत्र एवं हरिवर्ष क्षेत्र के मध्य वर्षधर (सीमाकारी) के रूप में रहा हुआ है।

मंदर/सुमेरु

ज्ञाताधर्मकथांग में इसका नामोल्लेख मिलता है।[287] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार विदेह क्षेत्र के मध्य दोनों कुरु क्षेत्रों के समीप निन्यानवें हजार योजन ऊँचा सुमेरु पर्वत है। इसकी नींव एक हजार योजन नीचे है। इस मेरु का विस्तार नींव के तल भाग में $10090\frac{10}{11}$ योजन प्रमाण है। ऊपर भद्रशाल वन के पास में इस मेरु पर्वत का विस्तार दस हजार योजन है।[288] यह सर्वरत्नमय है। चारों तरफ एक पद्मवर वेदिका और एक वनखण्ड से घिरा हुआ है। इसमें भद्रशाल, नन्दन, सौमनस व पाण्डक नामक चार वन हैं तथा पाण्डक में रही हुई शिलाओं पर जो सिंहासन हैं उन पर सद्यजात तीर्थंकर प्रभु का जन्माभिषेक देवों द्वारा मनाया जाता है।

अंजनगिरि

ज्ञाताधर्मकथांग में अंजनगिरि का नामोल्लेख मिलता है।[289] यह पर्वत अंजन (काजल) के समान श्याम और बहुत ऊँचा है।[290] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार दिशाहस्तिकूट (शिखर) मन्दर पर्वत के दक्षिण-पश्चिम में नैर्ऋत्य कोण में तथा दक्षिण दिशा के शीतोदा नदी के पश्चिम में है। अंजन गिरि नामक उसका अधिष्ठायक देव है।[291]

एकशैल पर्वत

ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार महाविदेह के पुष्कलावती चक्रवर्ती-विजय के पश्चिम में नीलवान वर्षधर पर्वत के दक्षिण में सीता महानदी के उत्तर में एकशैल नामक पर्वत बतलाया गया है।[292]

गिरनार

ज्ञाताधर्मकथांग में गिरनार का नामोल्लेख मिलता है।[293] गिरनार पर्वत द्वारिका नगरी के पास था। जैन धर्म के बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि इसी पर्वत पर सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हुए।[294] रैवतक पर्वत को संभवतया गिरनार कहा जाता है।[295]

सुखावहवक्षार पर्वत

ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार महाविदेह क्षेत्र के मेरु पर्वत से पश्चिम में तथा शीतोदा महानदी के दक्षिणी तट पर सुखावहवक्षार पर्वत स्थित है।[296] महाविदेह क्षेत्र की नलिन विजय में यह पर्वत स्थित है। इस विजय की अशोका नामक राजधानी है।[297]

पुण्डरीक

ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार पुण्डरीक और शत्रुञ्जय पर्वत एक ही है।[298] जिनप्रभसूरि ने विविध तीर्थकल्प में शत्रुञ्जय के 21 नाम बताए हैं, उनमें से एक पुण्डरीक नाम भी है।[299]

वैताढ्य पर्वत

ज्ञाताधर्मकथांग में इसका नामोल्लेख मिलता है।[300] जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के अनुसार जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में वैताढ्य पर्वत पूर्व-पश्चिम लम्बा और उत्तर-दक्षिण चौड़ा है। इसकी चौड़ाई दस योजन है। दोनों ओर पाँच-पाँच योजन ऊपर जाने पर वैताढ्य पर्वत का शिखर-तल है।[301] 'लोक प्रकाश' के अनुसार इसके पूर्व पश्चिम में लवण समुद्र है। इस पर्वत से भरत क्षेत्र दो भागों में विभक्त हो गया है जिन्हें उत्तर भरत और दक्षिण भरत कहते हैं।[302]

शत्रुञ्जय पर्वत

ज्ञाताधर्मकथांग में इस पर्वत का नामोल्लेख मिलता है। थावच्चामुनि इसी पर्वत पर सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हुए थे।[303] शत्रुञ्जय प्राचीनकाल से ही जैनों के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तीर्थ के रूप में विख्यात रहा है। शत्रुञ्जय पर्वत वर्तमान में पालीताना के पास स्थित है। इसकी तलहटी में अवस्थित पालीताना नगरी में छोटे-बड़े 800 से अधिक जैन मंदिर हैं। चालुक्य और वघेल शासकों के समय यहाँ अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण कराया गया, परन्तु मुसलमानों ने यहाँ के अधिकांश जिनालयों को नष्ट कर दिया। बाद में 15वीं से 19वीं शती तक यहाँ अनेक मंदिरों का निर्माण कराया गया, जिससे सम्पूर्ण पर्वतमाला और घाटी

मंदिरों से ही ढ़क गई है। यहाँ के जैन मंदिरों में अनेक प्राचीन प्रतिमाएँ भी हैं, उनमें से कुछ पर लेख भी उत्कीर्ण हैं। ये लेख वि.सं. 1034 से लेकर 20वीं शती तक के हैं।[304]

जिनप्रभसूरि ने 'विविध तीर्थकल्प' में इस तीर्थ की प्राचीनता, विभिन्न नाम, पौराणिक व ऐतिहासिक घटनाओं आदि का सुन्दर चित्रण किया है।[305]

विपुलाचल

ज्ञाताधर्मकथांग में विपुलाचल पर्वत का नामोल्लेख मिलता है। मेघ अनगार को विपुलाचल पर्वत पर आरूढ़ होने का अध्यवसाय उत्पन्न हुआ।[306]

सम्मेदशिखर

ज्ञाताधर्मकथांग में इस पर्वत का उल्लेख मिलता है। मल्ली अरहन्त मध्यप्रदेश से विहार करते हुए सम्मेदशिखर पर पधारे और वहाँ उन्होंने अनशन अंगीकार किया।[307]

हिमवन्त पर्वत

ज्ञाताधर्मकथांग में इस पर्वत का विभिन्न स्थानों पर नामोल्लेख मिलता है,[308] लेकिन विस्तृत विवेचन नहीं। जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्र व हिमवंत क्षेत्र में आया हुआ एक पर्वत। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्रानुसार वह 25 योजन गहरा, 100 योजन ऊँचा, $1052\frac{12}{19}$ योजन चौड़ा तथा 24932 योजन से कुछ अधिक लम्बा है। स्वर्णमय है। (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति 4/89)

चारू पर्वत

ज्ञाताधर्मकथांग में इस पर्वत का नामोल्लेख मिलता है। बल राजा ने प्रव्रज्या ग्रहण की और बहुत वर्षों तक संयम पालकर वह चारू पर्वत पर गए जहाँ उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई और अनशनपूर्वक सिद्ध बने।[309]

नदियाँ

ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित विभिन्न नदियों का विवेचन इस प्रकार है-

गंगा महानदी

ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि यह नदी दक्षिणार्थ भरत में विन्ध्याचल पर्वत के समीप बहती है।[310] बनारस के बाहर (किनारे) उत्तर-पूर्व दिशा में यह नदी बहती है।[311] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार यह उत्तरार्द्ध भरतक्षेत्र

से लेकर दक्षिणार्द्ध भरतक्षेत्र तक फैली हुई है। इस महानदी की चौदह हजार उपनदियाँ हैं, जो चारों दिशाओं में फैली हुई हैं।[312]

आधुनिक गंगा नदी हिमाचल से निकलकर बंगाल की खाड़ी में गिरती है।

सीतोदा महानदी

ज्ञाताधर्मकथांग में सीतोदा महानदी का उल्लेख मिलता है।[313] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार महाविदेह क्षेत्र में निषध पर्वत के तिगिंछद्रह के उत्तरी तोरण से सीतोदा नामक महानदी निकलती है, यह उत्तर में निषध पर्वत पर $7421\frac{1}{19}$ योजन बहती है। सीतोदा महानदी अपने उद्गम स्थान में पचास योजन चौड़ी है, एक योजन गहरी है, लेकिन जब वह 532000 नदियों के परिवार से समुद्र में मिलती है तो पाँच सौ योजन चौड़ी हो जाती है।[314] यह पश्चिम महाविदेह क्षेत्र के बीचोंबीच बहती हुई पश्चिम महाविदेह की उत्तर व दक्षिण दो भागों में बांटती है।

सीता महानदी

ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार यह नदी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में नीलवन्त वर्षधर पर्वत से निकलती है।[315]

लवण समुद्र

ज्ञाताधर्मकथांग में लवण समुद्र का उल्लेख तो कई स्थानों पर हुआ है,[316] लेकिन इसकी विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। लवण समुद्र में अधिपति देव 'सुस्थित' है।[317]

उद्यान-वन

ज्ञाताधर्मकथांग में अग्रांकित उद्यानों एवं वनों का नामोल्लेख विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न संदर्भों में मिलता है-

अटवी (1/15/12, 1/17/29), अशोकवाटिका (1/8/34), आम्रशालवन (2/1/3/8), आराम (1/2/10), इन्द्रकुंभ उद्यान (1/8/3), कान्तार (1/15/12, 1/17/23), काममहावन (2/3/54), गुणशील (1/1/13, 1/6/2, 2/1/36), चन्द्रावतसंक (2/8/75), जीर्णोद्यान (1/2/3), नन्दनवन (1/5/4), नलिनीवन (1/19/2), नीलाशोक (1/5/30), प्रमदवन (1/14/2), मालुकाकच्छ- मालूका वृक्ष की सघन छाया वाला स्थान (सचित्र अर्द्ध मागधी

कोष भाग 4 तथा देखिये युवा श्री मधुकर मुनि वाले ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र पृ. 163) में उक्त सूत्र का विवेचन (1/2/3), सहस्राम्रवन (1/8/91, 1/16/221), सुभूमिभागोद्यान (1/3/28, 1/16/2, 1/7/2, 1/5/53)

उक्त प्रसंगों के आधार पर कहा जा सकता है कि उस समय लोग भ्रमण करते थे। उत्सव-महोत्सव एवं पर्व आदि पर एकत्र होकर आनन्दोत्सव मनाते थे। जब विचरण करते हुए कोई साधु-मुनिराज पधारते तो वे प्राय: उद्यान एवं वन आदि में ठहरते और वहाँ उनका धर्मोपदेश होता था। उसे सुनने के लिए गाँव एवं नगरवासी सभी आते थे। राजा अपनी परिषद् के साथ दर्शनार्थ व धर्मदेशना सुनने हेतु जाते थे।

चैत्य

चैत्य शब्द के अनेक अर्थ हैं यथा- उद्यान, वृक्ष, ज्ञान, देवकुल आदि। ज्ञाताधर्मकथांग में चैत्यों का भी उल्लेख मिलता है- आम्रशालवन नामक चैत्य (2/1/12), काममहावन नामक चैत्य (2/3/4), कोष्ठकनामक चैत्य (2/2/49), गुणशील चैत्य (1/2/2, 1/250, 1/10/2, 2/3/53), नागगृह चैत्य (1/8/37), पूर्णभद्र चैत्य (1/1/2, 1/9/2, 1/12,25, 1/15/2), सहस्राम्रवन नामक चैत्य (2/5/67)।

चैत्यों के निर्माण की परम्परा भी प्राचीनकाल से रही है। यद्यपि वर्तमान में चैत्य नाम से कोई उपलब्ध नहीं होता किन्तु आगम साहित्य में अनेक प्रकार के चैत्यों के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

वृक्षादि वनस्पति

ज्ञाताधर्मकथांग में निम्नलिखित वृक्षादि-वनस्पति के नाम आए हैं-

अर्जुन वृक्ष (1/9/22), अशोक वृक्ष (1/8180, 1/14/54, 1/19/17), आम्र वृक्ष (1/8/180), कदम्ब (1/13/20), कुटज (1/9/22), गिरीष (1/9/25), कोरंट (1/13/31, 1/16/14), चम्पक वृक्ष (1/18/33), दावद्रव (1/11/5), नन्दीफल (1/15/9), नारियल (1/8/54), निउर वृक्ष (1/9/22), नीम (1/16/6), पुनांग (1/8/27), बकुल, तिलक वृक्ष (1/9/25), सन वृक्ष, सप्तच्छद (1/9/23)।

इसके अलावा ज्ञाताधर्मकथांग में वनस्पति के विभिन्न अंगों का उल्लेख मिलता है- मूल, कंद, छाल, पत्र, पुष्प, फल, बीज (1/15/9) आदि।

लताएँ

ज्ञाताधर्मकथांग में अग्रांकित लताओं का नामोल्लेख मिलता है- कंदल (1/9/22), कदली (1/13/19), चंपकलता (1/16/36, 83), मल्लिका, वासन्तिका (1/9/22)।

पुष्प

ज्ञाताधर्मकथांग में अग्रांकित पुष्पों का उल्लेख विभिन्न संदर्भों में मिलता है-

आम्रपुष्प (1/925/), अलसी (1/14/48), अशोक (1/8/27), कमल (1/9/38), किंशुक, कर्णिकार (1/9/25), कुंदपुष्प (1/16/187), कोरंट (1/8/27), चम्पक (1/16/21), चम्पा (1/8/27), चन्द्रविकासी (1/13/12), कुमुद, कुवलय (1/9/54), पाटला, मालती, पुनांग, मरूवा, दमनक, शतपत्रिका (1/8/27), बकुश, शिरीष (1/9/25), सन, सप्तच्छद, नीलोत्पल, पद्म, नलिन (1/9/23), श्वेतकुन्द (1/9/25), तिलक, बकुल, मल्लिका, वासन्तिकी (1/9/25), सुभग (1/9/38), पद्म, सूर्यविकासी, नलिनी, सौगंधिक, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, सहस्रपत्र (1/13/12), पाँचवर्णों के पुष्प (1/14/55), सप्तवर्ण (1/16/21), मालती, सिन्दुवार (1/16/187)।

ज्ञाताधर्मकथांग में तत्कालीन नगरों, पर्वतों, उद्यानों, नदियों, वनस्पतियों आदि का उदात्त चित्रण उपलब्ध होता है। इन सभी के विश्लेषण से उस समय की भौगोलिक स्थिति का अनुमान सहजता से लगाया जा सकता है।

संदर्भ-

1. ज्ञाताधर्मकथांग 1/2/48
2. हिन्दू धर्मकोश, पृ. 645
3. सर्वार्थसिद्धि, 2/10, पृ. 164
4. राजवार्तिक 2/10/1/124/15
5. ज्ञाताधर्मकथांग 1/2/48
6. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-2, पृ. 570
7. राजवार्तिक 2/50/2/156/13, 2/50/3/156/17 (अ/सू/वा/पृ/पं)।
8. थवला 1/1/1, 24/201/6
9. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/30
10. श्री भगवती सूत्र श. 2, उ. 10 व त्रिलोकसागर, पृ. 110-112
11. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/68, 1/2/52,
12. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/171, 1/9/12
13. भार्गव आदर्श हिन्दी शब्दकोश- पृ. 297
14. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 485
15. तिल्लोयपण्णत्ति 4/1614, पद्मपुराण 3173
16. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/13, 171, 1/8/2
17. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति 1/3, 4, 7
18. वही 6/2
19. ज्ञाताधर्मकथांग 1/9/12
20. वही 1/16/144, 194
21. वही 1/8/30
22. त्रिलोक भास्कर, पृ. 199
23. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/30, 185, 195
24. वही 1/17/3, 7-9, 12-14, 17
25. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/217
26. त्रिलोक भास्कर, पृ. 148-149
27. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति 4/102, पृ. 207 (युवाचार्य श्री मुधकर मुनिजी)
28. ज्ञाताधर्मकथांग 1/19/2
29. त्रिलोक भास्कर, पृ. 108
30. ज्ञाताधर्मकथांग 1/14/53, 1/19/2
31. वही 1/19/2, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र 4/121
32. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति 4/121
33. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/2
34. वही 1/8/3
35. वही 1/19/2
36. जंबूद्वीपपण्णत्तिसंगहो 8/72-74, पृ. 140-144
37. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/3
38. वही 1/8/2
39. त्रिलोक भास्कर, पृ. 147
40. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/3
41. वही 2/1/7
42. व्याख्याप्रज्ञप्ति (युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी) - 2/8/1, पृ. 235-236
43. ज्ञाताधर्मकथांग 2/1/12-13, 38
44. वही 1/16/144
45. वही 1/5/2
46. त्रिलोक भास्कर, पृ. 66
47. ज्ञाताधर्मकथांग 1/5/2
48. वही 1/1/13, 1/5/5
49. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति 1/10
50. हिन्दू धर्मकोश, पृ. 474
51. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति 3/88
52. ज्ञाताधर्मकथांग 1/16/95
53. वही 1/8/94
54. स्थानांग 10/3/719
55. विविध तीर्थकल्प, पृ. 27
56. पाणिनि अष्टाध्यायी 6/1/101
57. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/94
58. प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 69
59. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ. 69
60. ज्ञाताधर्मकथांग 1/16/223
61. वही 1/16/223-225
62. भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण : एक अनुशीलन, पृ. 378
63. बृहत्कल्प (भाग-3), पृ. 912, 914
64. महाभारत (सभापर्व) 14/53
65. ज्ञाताधर्मकथांग 1/5/2
66. वही 1/5/3
67. अन्तकृतदशांग-1, पृ. 5
68. ज्ञाताधर्मकथांग 1/5/5
69. दशवैकालिक (हारिभद्रीयटीका), पत्र 36

70. महाभारत (सभापर्व) 14/49-51, 67
71. (i) भागवत पुराण 11/31/23
(ii) विष्णु पुराण 5/27/36
72. दशवैकालिक (हारिभद्रीय वृत्ति), पत्र 36-37
73. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा-307
74. ज्ञाताधर्मकथांग 1/16/98
75. महाभारत 3/22/50
76. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 481
77. ज्ञाताधर्मकथांग 1/16/98
78. वही 1/16/100
79. आवश्यक चूर्णि- 2, पृ. 193
80. व्यवहार भाष्य 5/27
81. बृहत्कथा कोश (रविषेण)- 12/132
82. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 483-484
83. आवश्यक टीका (हरिभद्र), पृ. 307
84. ज्ञाताधर्मकथांग 1/16/100
85. वही 1/16/214
86. वही 1/16/215
87. वही 1/16/103
88. महाभारत 18/6/61
89. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 477
90. ज्ञाताधर्मकथांग 1/16/103
91. वही 1/8/24
92. वही 1/8/86
93. जातक
94. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 467
95. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ. 53
96. ज्ञाताधर्मकथांग 1/9/34
97. वही 1/9/34
98. वही 1/9/34
99. अणुतरौपातिक दशा 3/4-16
100. यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 284
101. मानक हिन्दी कोश- प्रथम खण्ड, पृ. 500
102. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/109, 1/16/80
103. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 470
104. दी एन्शियंट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, पृ. 412, 705
105. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 470
106. प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 66
107. पाणिनि अष्टाध्यायी (व्याकरण) 7/3/13
108. प्रत्यग्रथास्त्वहिछत्रा:साल्वास्तु कारकुक्षीया:
-अभिधान चिंतामणि-4/26
(हेमचन्द्राचार्य)
109. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/109, 1/16/80
110. (i) औपपातिक सूत्र 39
(ii) ज्ञाताधर्मकथांग 1/16/108
111. ज्ञाताधर्मकथांग 1/16/108
112. वही 1/8/123, 131, 133
113. दी एन्शियंट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, पृ. 413
114. ज्ञाताधर्मकथांग 1/15/3
115. वही 1/15/4
116. आचारांग निर्युक्ति 335
117. विविध तीर्थकल्प, पृ. 14
118. अभिधान चिंतामणि 4/26
119. कल्पसूत्र टीका 6, पृ. 167
120. ज्ञाताधर्मकथांग 1/16/89
121. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 472
122. ज्ञाताधर्मकथांग 1/16/89
123. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 473
124. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/37
125. आवश्यक टीका (मलय गिरि) पृ. 214
126. प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 65
127. पाणिनि अष्टाध्यायी व्याकरण- 4/1/171
128. ज्ञाताधर्मकथांग 1/5/30

129. वही 1/14/2
130. वही 1/17/2
131. वही 1/1/2-3
132. उपासकदशांग और उसका श्रावकाचार- डॉ. सुभाष कोठारी, पृ. 217
133. स्थानांग सूत्र- 10/717
134. इहेव जम्बुद्वीपे भारवहासे दाणि मज्झिमखंड चम्पाणामणयरि
-कुवलयमालाकहा 103/3
135. अत्थि इओ जोयणप्पमाण भूमिभाए कोसंबणाम वणं
- वही, 223/6
136. जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 421
137. उवासगदसाओ- मुनि मधुकर, 1/3
138. प्राचीन भारतीय संस्कृति, कोश, पृ. 112-113
139. हिन्दी विश्वकोश (खण्ड-4), पृ. 145
140. वही, पृ. 145-148
141. औपपातिक सूत्र (मुनि मधुकर) 1/1, पृ. 3-4
142. ज्ञाताधर्मकथांग 1/4/2, 1/8/86
143. वही 1/8/86
144. हेमशब्दानुशासन 8/2/116
145. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/13, 1/2/2
146. वही 1/2/28
147. (i) स्थानांग 10-717, (ii) निशीथ सूत्र 9/19
148. आवश्यकचूर्णि-2, पृ. 158
149. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/25
150. वही 1/8/29
151. वही 1/8/72-75
152. वही 1/8/51
153. उत्तराध्ययन- एक समीक्षात्क अध्ययन, पृ. 371
154. सुरूचि जातक (सं. 489), भाग-4, पृ. 521-522
155. जातक-406 (भाग-4), पृ. 27
156. विविध तीर्थकल्प, पृ. 32
157. दी एन्शियंट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, पृ. 718
158. कल्पसूत्र, सूत्र 122, पृ. 41
159. उत्तराध्ययन सूत्र 9/4
160. स्थानांग, 10/717
161. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/37
162. पतंजलिकालीन भारत, पृ. 123-124
163. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/79
164. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 485
165. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/79-83
166. वही 1/8/79
167. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 485
168. उत्तराध्ययन- 23/2
169. विविध तीर्थकल्प, पृ. 70
170. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/135, 1/14/30, 1/16/104
171. अमरकोश 2/3/19
172. (i) महापुराण 16/164
(ii) हरिवंश पुराण- 2/3
(iii) पद्मपुराण 3/318-327
173. (i) आचारांग चूर्णि, पृ. 281
(ii) निशीथ चूर्णि (भाग 3), पृ. 346
174. पाणिनिसूत्र 5/2/107 (वार्तिक)
175. 'यत्राष्टशतग्रामीय व्यवहारस्थानं मध्यवर्ति तत् नगरम्'
- शब्दकल्पद्रुम (भाग-2), पृ. 817
176. 'ण एत्थ करा विज्जतीति नगर'
- आचारांग चूर्णि पृ. 281
177. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/30, 90
178. वही 1/1/135, 1/14/30, 1/16/104
179. हरिवंश पुराणा 2/3
180. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ. 78
181. द्रोहिं गम्मति जलेण विथलेण वि द्रोणमुखं। जहा भरूयच्छं तामलित्ति एवमादि।।
- आचारांगचूर्णि, पृ. 282

182. 'चतुःशत ग्राम्या द्रोणमुखम्'
- कौटिल्यम् अर्थशास्त्रम् 2/1
183. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/54, 1/17/10
184. पतनं शकटैर्गम्यं टकैनाभिरेव च। नाभिरेव तु यद् गम्यं पट्टनं तत्प्रचक्षते।।
-व्यवहारसूत्र, भाग-3
185. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/135, 1/14/30
186. अमरकोश (द्वितीय खण्ड), पृ. 116
187. (i) सार्थवाह (मोतीचन्द्र), पृ. 16
(ii) अमरकोश (हरदत्त शर्मा) पृ. 74
188. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/135, 1/14/30
189. 'द्विशतग्राम्या खार्वटिकम्'
- कौटिल्यं अर्थशास्त्रम् 2/1
190. 'केवलं गिरिसंरूद्धं खर्वटं तत्प्रयक्षते'
- आदिपुराण 16/171
191. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/135, 1/14/30
192. 'चेलखेट कटुकाण्डं गर्हायाम्'
- पाणिनि अष्टाध्यायी 6/2/126
193. ज्ञाताधर्मकथांग- 1/1/135, 1/14/30
194. आदिपुराण 16/172
195. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/135, 1/17/9
196. वही 1/17/9
197. वही 1/1/135
198. उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 427
199. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/135
200. वही 1/1/135
201. उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 408, 424
202. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/135
203. वही 1/13/12
204. वही 1/5/2
205. औपपातिक सूत्र -1
206. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/103
207. वही 1/1/17
208. वही 1/2/10, 28, 1/8/132
209. वही 1/1/17
210. वही 1/1/31
211. वही 1/8/125
212. वही 1/16/182
213. वही 1/8/34, 1/16/108
214. वही 1/13/14, 16, 17, 18
215. वही 1/1/103
216. वही 1/8/34
217. वही 1/14/5, 1/16/38
218. वही 1/14/5
219. वही 1/16/38
220. वही 1/8/41
221. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 219
222. ज्ञाताधर्मकथांग 1/16/189
223. वही 1/8/34
224. वही 1/8/98
225. वही 1/8/95, 1/14/2
226. वही 1/3/13
227. वही 1/3/8
228. वही 1/3/12
229. वही 1/9/22
230. वही 1/3/13
231. वही 1/9/22
232. वही 1/16/108
233. वही 1/1/30, 1/8/133, 1/16/119
234. वही 1/2/10, 1/13/10
235. वही 1/1/166, 1/2/10
236. वही 1/1/180, 1/8/111, 119
237. वही 1/1/17, 28, 1/14/48, 1/16/50
238. वही 1/1/17
239. वही 1/16/47
240. वही 1/130, 80, 1/2/42, 1/16/94
241. वही 1/1/30
242. वही 1/1/94
243. वही 1/2/33, 1/7/6, 1/8/54
244. वही 1/13/16
245. वही 1/7/22, 1/13/16
246. वही 1/1/87-89
247. वही 1/2/19
248. वही 1/8/29
249. वही 1/14/18
250. वही 1/14/18

251. वही 1/7/26
252. वही 1/1/138, 1/16/189, 201
253. वही 1/1/138
254. वही 1/1/90, 1/2/30, 32
255. वही 1/13/5, 2/1/11
256. वही 1/13/5 (विवेचन)
257. वही 1/16/103
258. वही 1/1/107
259. वही 1/8/189-190
260. वही 1/5/7
261. वही 2/1/14
262. वही 1/1/111, 1/13/29
263. वही 1/14/11, 1/16/5
264. वही 1/3/13
265. वही 1/2/15
266. वही 1/2/9-10, 28, 1/18/9
267. वही 1/2/9, 1/18/9
268. वही 1/5/3-4
269. अन्तकृदशांग 1/1/5
270. तस्याः पुरो रैवतकोऽपाच्यामासीतु माल्यवान्
सौमनसौऽद्रिः प्रतीच्यामुदीच्यां गंधमादनः।।
- त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र- 8/5/418
271. महाभारत (सभापर्व) 14/50
272. हरिवंश पुरा 2/55
273. ज्ञाताधर्मकथांग 1/5/3
274. (i) देव-मणुस्स-परिवुडो सीयारयणं तओ समारुढो। निक्खमिय बारगाओ, रेवयम्मि ट्ठिओ भगवं।।
- उत्तराध्ययन 22/22
(ii) ज्ञाताधर्मकथांग 1/16/224
275. उत्तराध्ययन 22/33
276. विविध तीर्थकल्प, पृ. 13, 15
277. भगवान महावीर नी धर्मकथाओ, पृ. 216
278. महाभारत 3/88/21
279. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 473
280. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/44, 56, 82
281. वही 1/13/10
282. वही 1/1/171
283. जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन, पृ. 110-111
284. ज्ञाताधर्मकथांग 1/19/2
285. वही 1/8/2
286. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति 4/100-101
287. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/2
288. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति 4/132
289. ज्ञाताधर्मकथांग 1/16/94
290. वही 1/16/94
291. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति 4/132
292. ज्ञाताधर्मकथांग 1/19/2
293. वही 1/5/7
294. वही 1/16/224
295. वही 1/5/3
296. वही 1/8/2
297. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति 4/131
298. ज्ञाताधर्मकथांग 1/5/52
299. विविध तीर्थकल्प, पृ. 1
300. ज्ञाताधर्मकथांग 1/5/5
301. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति 1/16
302. लोकप्रकाश 16/35
303. ज्ञाताधर्मकथांग 1/5/52
304. जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन, पृ. 256
305. विविध तीर्थकल्प, पृ. 1-5
306. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/204
307. वही 1/8/94
308. वही 1/1/14, 1/2/2, 1/14/41
309. वही 1/8/6
310. वही 1/1/171
311. वही 1/4/2
312. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति 4/91
313. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/2
314. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति 4/101
315. ज्ञाताधर्मकथांग 1/19/2
316. वही 1/5/5, 1/8/2, 1/9/4, 1/17/3
317. वही 1/9/28

चतुर्थ परिवर्त

ज्ञाताधर्मकथांग में सामाजिक जीवन

ज्ञाताधर्मकथांग में तत्कालीन संस्कृति से जुड़े विभिन्न आयामों का अनावृत्त स्वरूप देखने को मिलता है जिनमें से एक महत्वपूर्ण आयाम है- सामाजिक स्थिति। संस्कृति और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। संस्कृति के बिना समाज अंधा है और समाज के बिना संस्कृति पंगु है।

सामाजिक स्थिति की समीक्षा के लिए तत्कालीन समाज की पारिवारिक स्थिति, रीति-रिवाज, संस्कार, खान-पान, रहन-सहन, वस्त्राभूषण और उत्सव-महोत्सवों से परिचित होना इष्ट है।

प्रस्तुत अध्याय में सामाजिक स्थिति से जुड़े विभिन्न पहलुओं को ज्ञाताधर्मकथांग के विशेष संदर्भ में उजागर किया गया है-

परिवार

सामाजिक जीवन की प्रमुख आधारभूत संस्था है- परिवार। परिवार का जन्म संभवत: व्यक्ति के जन्म के साथ ही हुआ क्योंकि परिवार ही एक ऐसी आधारभूत इकाई है जो व्यक्ति की अमानुषिक प्रवृत्तियों का परिशोधन कर उसे समाजीकरण की ओर प्रवृत्त करता है। व्यक्ति का अस्तित्व परिवार में ही संभव होता है। व्यक्तित्व का विकास परिवार में ही होता है। परिवार से ही वह समाज के रीति-रिवाजों, व्यवहारों, मान्यताओं, आदर्शों तथा विश्वासों को सीखता है और उनके अनुकूल अपने व्यवहार को ढालने की कोशिश करता है।

सम्पूर्ण ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसंधान के आधार पर कहा जा सकता है कि परिवार में पति-पत्नी के अलावा माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री आदि रहते थे। सामान्यत: पारिवारिक सम्बन्ध मधुर थे। परिवार का मुखिया वयोवृद्ध सदस्य या पिता होता था और सब परिजन उसकी आज्ञा का पालन करते थे। उसकी पत्नी गृह स्वामिनी होती थी, जो परिवार के सभी क्रिया-कलापों को नियंत्रित करती थी।

कौटिल्य के अनुसार परिवार के सदस्यों के भरण-पोषण के लिए परिवार का मुखिया ही उत्तरदायी है। परिवार में बालक, स्त्री, माता-पिता, भाई-बहन और विधवा स्त्रियों का समावेश होता है।[1] परिवार के सब लोग एक ही स्थान पर

रहते, एक ही जगह पकाया हुआ भोजन करते तथा सर्व सामान्य जमीन-जायदाद का उपयोग करते। स्त्रियाँ छड़ने-पिछाड़ने, पीसने-कूटने, रसोई बनाने, भोजन परोसने, पानी भरने और बर्तन माँजने आदि का काम करती।[2]

परिवार की विशेषताएँ

परिवार की विशेषताओं के विवेचन से पूर्व इसकी व्युत्पत्ति जानना प्रासंगिक होगा- 'परिवार' शब्द परि उपसर्गपूर्वक 'वृ' धातु से 'घञ' प्रत्यय का निष्पन्न रूप है[3], जिसका अर्थ है समूह अर्थात् परिवार व्यक्तियों का समूह या संगठन है।

विश्व के हर कोने में परिवार का स्वरूप भिन्न-भिन्न पाया जाता है लेकिन कुछ सामान्य विशेषताएँ होती हैं, जो प्राय: सभी परिवारों में न्यूनाधिक पाई जाती है। कैकाइवर तथा पेज[4] ने ऐसी आठ विशेषताएँ बतलाई हैं, इनका ज्ञाताधर्मकथांग के विशेष संदर्भ में संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार हैं-

1. सार्वभौमिकता

परिवार सभी समाजों और सभी कालों में पाया जाता है अर्थात् इसका संगठन सार्वभौमिक है। परिवार का अस्तित्व मानव जाति के अस्तित्व से जुड़ा हुआ है।

2. भावनात्मक आधार

परिवार का महल भावनाओं की नींव पर खड़ा किया जाता है। परिवार यौन-सम्बन्ध, वात्सल्य, लालन-पालन, प्रेम, सहयोग, माता-पिता की सुरक्षा आदि अनेक स्वाभाविक भावनाओं पर आधारित होता है। ज्ञाताधर्मकथांग में धन्य सार्थवाह की भार्या भद्रा उन माताओं को धन्य, पुण्यशालिनी और वैभवशालिनी बतलाती है जिन्होंने पुत्र या पुत्री को जन्म दिया। चूंकि उसके कोई संतान नहीं है, अत: वह भावनाओं के अतिरेक में आकर अपने आपको पापिनी और कुलक्षणा मानने लगती है।[5]

3. रचनात्मक प्रभाव

परिवार का रचनात्मक प्रभाव भी सदस्य पर पड़ता है। परिवार सदस्य के चरित्र-निर्माण व व्यक्तित्व विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। बालक पर परिवार में जो संस्कार पड़ते हैं वे अमिट होते हैं और उसका

भविष्य इन्हीं संस्कारों के साए में पल्लवित-पुष्पित होता है। ज्ञाताधर्मकथांग में थावच्चा गाथा पत्नी अपने पुत्र को संस्कारित करने और ज्ञानवान बनाने के लिए कलाचार्य के पास भेजती है।[6]

4. सीमित आकार

परिवार अपने आकार में सीमित होता है। इसके वे ही सदस्य होते हैं जिनमें किसी न किसी प्रकार का रक्त सम्बन्ध होता है और जो मूल-प्रवृत्तियों की पूर्ति के लिए परस्पर सहायक सिद्ध हो सकते हैं। लेकिन ज्ञाताधर्मकथांग में एकाधिक प्रसंगों में इसके ठीक विपरीत बात सामने आती है यानी रक्त-सम्बन्ध के अलावा कर्मचारियों-सेवकों को भी 'कौटुम्बिकजन' कहकर सम्मान दिया गया है।

इससे स्पष्ट है कि ज्ञाताधर्मकथांग में कौटुम्बिकजन उसे माना गया है जो परिवार या राज्य के संचालन में प्रत्यक्ष सहयोगी बनता था।

5. सामाजिक ढांचे में केन्द्रीय स्थिति

परिवार सामाजिक जीवन की वह महत्वपूर्ण इकाई है जिस पर सम्पूर्ण सामाजिक ढांचा आधारित है। वास्तव में परिवार सामाजिक ढांचे की धुरी है। आदिम समाज में तो परिवार अत्यन्त महत्वपूर्ण इकाई था, यद्यपि जटिलताओं में जकड़े आधुनिक समाज में इसके बिखराव की *स्थितियाँ बन रही हैं फिर भी इसकी सत्ता को कमतर करके नहीं आंका* जा सकता है।

6. सदस्यों का उत्तरदात्वि

उत्तरादायित्व का प्रथम परिचय कराने वाला परिवार ही है। परिवार का सदस्य जीवन पर्यन्त परिवार की समृद्धि के लिए अपने सुखों का बलिदान करता है। अन्य किसी संगठन में ऐसी भावना आदर्श मानी जाती है, जिसे वास्तविकता का धरातल कम ही मिल पाता है।

ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि माकन्दीपुत्र जिनपालित और जिनरक्षित अपने परिवार की आर्थिक समृद्धि के लिए बारहवीं बार लवण समुद्र की यात्रा करने का निश्चय करते हैं।[8]

7. सामाजिक नियंत्रण

सामाजिक नियंत्रण का एक प्रमुख उपकरण है- परिवार। परम्पराओं व

रीति-रिवाजों के माध्यम से व्यक्ति पर सामाजिक नियंत्रण किया जाता है। परिवार के नियंत्रण का उपकरण प्रेम और भावना पर आधारित होता है।

ज्ञाताधर्मकथांग में जिनपालिक और जिनरक्षित को उनके माता-पिता लवण समुद्र की यात्रा पर जाने से प्रेमपूर्वक रोकने का प्रयास करते हैं और न मानने पर अपना प्रेम प्रदर्शित करते हुए उन्हें लवण समुद्र की यात्रा पर जाने की अनुमति दे देते हैं।[9]

8. परिवार का स्थायी व अस्थायी स्वभाव

संघ अथवा समिति के रूप में परिवार की प्रकृति बहुत कुछ अस्थायी है जबकि संस्था के रूप में इसकी प्रकृति स्थायी है। एक संघ या समिति के जिस रूप में परिवार पति-पत्नी, बच्चों या कुछ अन्य निकट सम्बन्धियों का समूह मात्र है, जिसमें विवाह-विच्छेद, मृत्यु, संतान के विवाह, नई संतान के जन्म आदि के कारण परिवर्तन आता रहता है, लेकिन एक संस्था के रूप में परिवार के कुछ नियम हैं, उसकी निश्चित कार्यप्रणाली है। नियमों व कार्य-प्रणालियों की व्यवस्था के रूप में परिवार की प्रकृति स्थायी है।

ज्ञाताधर्मकथांग में जन्म, विवाह व दीक्षा आदि के विभिन्न प्रसंग परिवार के परिवर्तनशील स्वरूप को व्यक्त करते हैं।[10]

संयुक्त परिवार

संयुक्त परिवार भारतीय संस्कृति के परिचायक हैं। 'एक सबके लिए और सब एक के लिए' वाला स्वर्णिम स्वरूप इन परिवारों की पहचान है। संयुक्त परिवार सामाजिक विरासत के रूप में आदिकाल से चला आ रहा है। संयुक्त परिवार की कल्पना पूर्ववैदिक युग से ही की जा सकती है। इसके स्वरूप की जानकारी ऋग्वेद में अप्रत्यक्ष रूप से मिलती है। पुरोहित विवाह के समय वर-वधू को आशीर्वाद देते हुए कहता है- ''तुम यहीं घर में रहो, विमुक्त मत होओ, अपने घर में पुत्रों और पौत्रों के साथ खेलते और आनन्द मनाते हुए समस्त आयु का उपभोग करो।''[11] यह भी कहा गया है कि तू सास, ससुर, ननद और देवर पर शासन करने वाली रानी बन।[12]

जातक कथाओं में भी ऐसे संयुक्त परिवारों का उल्लेख मिलता है जो अपने पारिवारिक सदस्यों के सहयोग और सहायता से चलते थे।[13] मनु ने पारिवारिक विघटन या पृथक्-परिवार को धर्मानुकूल माना है।[14]

ज्ञाताधर्मकथांग की 'रोहिणी ज्ञात'[15], 'माकंदी'[16], 'द्रौपदी'[17] की कथाओं में संयुक्त परिवार का निदर्शन मिलता है।

संयुक्त परिवार की विशेषाएँ

आपसी सहयोग कर्त्तव्यबोध और विश्वास पर टिकी है संयुक्त परिवार की इमारत। संयुक्त परिवार की कुछ ऐसी विशिष्टताएँ होती हैं जो इसे परिवार के अन्य स्वरूपों से पृथक् करती हैं-

1. वृहद् आकार

संयुक्त परिवार का आकार सदस्य संख्या के आधार पर वृहद् होता है। सामान्यतः ऐसे परिवारों में तीन-चार पीढ़ियों के रक्त-सम्बन्धी और विवाह-सम्बन्धी एक साथ रहते हैं। ज्ञाताधर्मकथांग में धन्यसार्थवाह का संयुक्त परिवार वृहद् था।[18]

2. सामान्य निवास

इसका आशय है कि सारा घर परिवार के प्रत्येक सदस्य के लिए खुला रहे। सामान्य निवास से तात्पर्य ऐसे स्थान से है जो प्रत्येक सदस्य के काम आए। ज्ञाताधर्मकथांग में धन्य सार्थवाह भोजन मंडप (सामान्य आवास) में अपने सभी परिजनों व सम्बन्धियों के सम्मुख अपनी चारों पुत्रवधुओं की परीक्षा लेने के लिए उन्हें चावल के पाँच-पाँच दाने सौंपता है।[19]

3. सम्मिलित सम्पत्ति

सम्मिलित सम्पत्ति में किसी एक व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं होता अपितु उस सम्पत्ति पर परिवार के सभी सदस्यों का संयुक्त अधिकार होता है। संयुक्त परिवार में सम्मिलित सम्पत्ति की देखरेख और संचालन परिवार का मुखिया या उसके द्वारा नियुक्त परिवार का योग्य व्यक्ति करता है। ज्ञाताधर्मकथांग में धन्य सार्थवाह अपनी पुत्रवधुओं की योग्यता जाँचकर उन्हें उनके अनुकूल कार्य भार सौंपता है।[20]

4. धार्मिक एवं सामाजिक कर्त्तव्यों का सामूहिक निर्वाह

संयुक्त परिवार के सभी सदस्य धार्मिक व सामाजिक कार्यों को एक-

दूसरे के सहयोग से परिपूर्ण करते हैं। सब मिलकर उत्सव और त्यौहार मनाते हैं। ज्ञाताधर्मकथांग में मेघकुमार का जन्मोत्सव[21], धन्य सार्थवाह द्वारा भोज का आयोजन[22] तथा पाण्डुराजा द्वारा कल्याणकरण महोत्सव का आयोजन[23] सामुहिक रूप से करने का उल्लेख मिलता है।

5. कर्ता की सर्वोच्चता

संयुक्त परिवार में कर्ता सर्वेसर्वा होता है। पारिवारिक क्रिया-कलापों का संचालन इसी मुखिया के निर्देशन में होता है। मुखिया का प्रमुख कार्य परिवार को एकसूत्र में बांधे रखना और उसका भविष्य उज्ज्वल और निश्चित करना है। ज्ञाताधर्मकथांग में धन्य सार्थवाह अपने परिवार का संचालन कुशलतापूर्वक करता है तथा भविष्य में परिवार के कुशल संचालन के लिए अपनी पुत्रवधूओं को कसौटी पर कसता है।[24]

6. संयुक्त उपार्जन

परिवार के सदस्य संयुक्त रूप से कृषि या व्यापार का कार्य करते हैं। अपनी-अपनी क्षमता और योग्यता के अनुसार सदस्य सहयोग करते हैं तथा विकासपथ पर चरण न्यास करते हैं। ज्ञाताधर्मकथांग में माकन्दी पुत्रों- जिनपालिक और जिनरक्षित द्वारा धनोपार्जन के लिए बारह बार लवण समुद्र की संयुक्त यात्रा करने का भी उल्लेख मिलता है।[25]

7. समाजवादी व्यवस्था

संयुक्त परिवार समाजवाद का ही एक सूक्ष्म रूप है। प्रत्येक सदस्य को क्षमता, स्थिति तथा योग्यता के अनुसार कार्य करने का अवसर प्राप्त होता है।

ज्ञाताधर्मकथांग की रोहिणी नामक कथा में धन्य सार्थवाह द्वारा अपनी पुत्रवधुओं को योग्यतानुसार कार्य सौंपना समाजवादी प्रकृति का नमूना है।[26]

8. विषम परिस्थितियों का सामना

संयुक्त परिवारों का स्थायित्व अन्य परिवार की तुलना में अधिक रहा है। परिवार के एकाधिक सदस्य की मृत्यु, बेरोजगारी, अयोग्यता आदि से परिवार पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ता और उसकी संरचना विघटित नहीं होती है। विभिन्न पीढ़ियों के व्यक्तियों के एक साथ रहने से अनुभव और

जोश का बेजोड़ संगम हो जाता है जो परिवार की मान-मर्यादा को बढ़ाता है।

ज्ञाताधर्मकथांग में जिनरक्षित की मृत्योपरान्त भी जिनपालित अपने माता-पिता के साथ सुखपूर्वक रहता है।[27] इसी प्रकार महापद्मराजा द्वारा दीक्षा ग्रहण कर लेने के बाद उसके पुत्र पुंडरीक द्वारा राज्य के कुशल संचालन का उल्लेख भी मिलता है।[28]

संयुक्त परिवार की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि इसके द्वारा व्यक्ति को आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ सामाजिक सुरक्षा भी प्राप्त होती है तथा व्यक्ति हर प्रकार से संरक्षित अनुभव करता है। इतना सब कुछ होते हुए भी संयुक्त परिवार में स्त्री पुरुष सम्बन्धों का समुचित विकास नहीं हो पाता है जिससे जीवन बिखरने लगता है। यही कारण है कि संयुक्त परिवार व्यवस्था दिनों-दिन टूटती जा रही है।

संयुक्त परिवार में अनेक सदस्य होते हैं। माता-पिता, पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री, पुत्रवधू आदि की एक संयुक्त कड़ी है- संयुक्त परिवार। इनके आपसी सम्बन्धों की छाया में फलता-फूलता है- संयुक्त परिवार।

परिवार में इन सदस्यों की भूमिका का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

पिता

परिवार में सबसे बड़ा पुरुष सदस्य ही संचालक और सम्पत्ति का व्यवस्थापक होता है। परिवार का सम्पूर्ण दायित्व उसी पर माना जाता है, जो कर्ता कहा जाता है। यह पद प्रायः पिता को ही मिलता है। रघुवंश में विनय, रक्षण और भरण के तीन कार्य बताए गए हैं।[29]

पिता के लिए पुत्र प्रीति-सदृश है। ज्ञाताधर्मकथांग में मेघकुमार जब माता-पिता से दीक्षा की आज्ञा मांगता है तो वे उसे अनेक प्रकार के गृहस्थ सुखों को समझाते हैं तथा गृहस्थ जीवन में रहने के लिए प्रेरणा करते हैं। इससे पिता की पुत्र के प्रति प्रीति सहज ही देखी जा सकती है।[30] पुत्र के लिए पिता सर्वस्व है, इसलिए मेघकुमार अपने माता-पिता के कहने पर एक दिन का राजपद स्वीकार कर लेता है।[31]

कुटुम्ब का सर्वोच्च व्यक्ति होने के कारण पिता सदस्यों के प्रति सहृदय, जागरूक और बड़े से बड़ा त्याग करने के लिए तत्पर रहता था।

माता

संतान का जन्म, भरण-पोषण, शिक्षा और विवाह का कार्य माता ही करती थी।[32] माता का उत्कृष्ट स्वरूप प्राचीनकाल से चला आ रहा है। निर्माण और संवृद्धि से माता का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध था। जब ब्रह्मचारी अपना अध्ययन समाप्त कर घर लौटता था तब आचार्य उसे माता की पूजा देवता की तरह करने का निर्देश देते थे।[33]

बच्चे की प्रथम गुरु माता ही होती है। महाभारत में कहा गया है कि आचार्य सदा दस श्रोत्रियों से बढ़कर है। पिता दस उपाध्यायों से अधिक महत्व रखता है और माता की महत्ता दस पिताओं से भी अधिक है। वह अकेली ही अपने गौरव द्वारा सारी पृथ्वी को गौरवान्वित कर देती है। अत: माता के समकक्ष कोई दूसरा गुरु नहीं है।[34] माता के लिए कहा गया है कि उसकी जैसी छाया, आश्रय-स्थल, रक्षा-स्थल और प्रिय वस्तु कोई नहीं है।[35] स्मृतिकारों ने भी माता को 'परमगुरु' मानकर परिवार और समाज में उसकी महिमा का गुणगान किया है।[36]

ज्ञाताधर्मकथांग में माता के प्रति आस्था एवं श्रद्धा माता धारिणी और पुत्र मेघकुमार के मध्य संवाद (वैराग्य, दीक्षा की आज्ञा)[37] पुत्र मेघकुमार के प्रति स्नेहातिरेक व माता के वात्सल्य को ही उजागर करता है।[38] माता धारिणी के कहने पर मेघकुमार द्वारा एक दिन का राजपद भोगने की आज्ञा का पालन करना माँ के वैशिष्ट्य को उजागर करता है।[39]

संतान की इच्छा सभी माताएँ रखती हैं। वंध्या स्त्री को कुल में अच्छा नहीं माना जाता है, उसका मुँह देखना भी बुरा माना जाता है। संतान की प्राप्ति न होने पर वह उदास, खिन्न एवं अप्रसन्न रहती है। ज्ञाताधर्मकथांग में धन्यसार्थवाह की पत्नी भद्रा संतान न होने कारण अपने आपको अधन्य, पुण्यहीन, कुलक्षणा और पापिनी मानती है।[40] संतान की प्राप्ति के लिए वह अनेक देवी-देवताओं की मनौती करती है, जिससे उसे पुत्र की प्राप्ति होती है।[41]

संतान का वियोग माता के लिए असह्य होता है। ज्ञाताधर्मकथांग में धन्य सार्थवाह के पुत्र देवदत्त[42], पुत्री सुंसमा[43] का अपहरण और उनकी हत्या माता को शोकविह्वल कर देते हैं। पुत्रहन्ता विजयचोर को जब धन्य सार्थवाह मजबूरन अपने हिस्से की खाद्य सामग्री देता है और जब इस बात को भद्रा सुनती है तो वह अपने पति धन्य सार्थवाह से नाराज हो जाती है।[44] यह बात माता का पुत्र के प्रति

मोह ही प्रकट करती है।

माता सदैव अपने पुत्र का हित चिन्तन करती है। वह हमेशा उसका उत्कर्ष देखना चाहती है। ज्ञाताधर्मकथांग की 'शैलक' कथा में थावच्चा गाथा पत्नी के थावच्चापुत्र नामक एक ही पुत्र होते हुए भी वह उसे सहर्ष आज्ञा प्रदान कर दीक्षा का सत्कार करती है।[45] यह माता का अपने पुत्र के प्रति अहोभाव है, उसके वात्सल्य का उत्कर्ष है।

राजा कनकरथ अपनी नवागन्तुक संतान को विकलांग कर देता था। एक बार जब उसकी पत्नी पद्मावती गर्भधारण करती है तब भविष्य की चिन्ता कर वह अमात्य तैतलिपुत्र के सहयोग से अपनी संतान को बचा लेती है और वही आगे चलकर राजा कनकरथ के बाद राजगद्दी पर आसीन होकर प्रजा का पालक बनता है।[46] इससे स्पष्ट होता है कि प्रत्येक माता अपनी संतान को स्वस्थ-सुन्दर, बलवान, रूपवान, उत्कर्षमय देखना चाहती है।

पति

हिन्दू संयुक्त परिवार में पति की विशेष प्रभुता थी।[47] स्त्री की आजीविका और उसकी आर्थिक स्थिति पति पर ही निर्भर करती थी, इसलिए पति को 'भर्ता' की संज्ञा भी दी गई।[48]

ज्ञाताधर्मकथांग में पति का व्यवहार पत्नी के प्रति सदैव सहृदयतापूर्ण, उदार और प्रशंसनीय रहा है। पत्नी कुटुम्ब की सम्मानित अंग थी, जो मानवीय, पूजनीय, अर्चनीय और गृह की शोभा थी।[49] संतान की उत्पत्ति परिपालन और सांसारिक जीवन में प्रीति पत्नी से ही होती थी।[50] मेघकुमार[51] और देवदत्त[52] के प्रसंग भी इसी बात की पुष्टि करते हैं।

प्राय: सभी धर्मशास्त्रकारों ने नारी को उच्च स्थान प्रदान करते हुए उसके साथ पति को सर्वोत्तम व्यवहार करने का निर्देश दिया है किन्तु व्यवहार में पति अपनी विशेष स्थिति के कारण पत्नी के प्रति कटु, कठोर और निरंकुश रहा है, अपने अधिकारों का दुरुपयोग करता रहा है, प्रभुत्व के मद में वह अपने वास्तविक कर्त्तव्यों से च्युत होता रहा है। ज्ञाताधर्मकथांग में कनकरथ राजा को भय था कि कहीं उसकी संतान बड़ी होकर उसे सत्ताच्युत नहीं कर दे, इस प्रकार सत्ता में आसक्त कनकरथ राजा अपने नवजात पुत्र को विकलांग बना देता था।[53] इसी प्रकार तैतलिपुत्र अपनी पत्नी पोट्टिला का नाम सुनना भी पसंद नहीं करता था- दर्शन और परिभोग की तो बात ही क्या ?[54] श्रेणिक का धारिणी के प्रति[55] और

धन्यसार्थवाह का भद्रा के प्रति[56] जैसा व्यवहार था वैसा व्यवहार करने वाला पति ही अपने दाम्पत्य जीवन को सरस, सुखमय और प्रेमपूर्ण बनाता है।

पत्नी

वैदिक युग में पत्नी परिवार की अनिवार्य अंग थी। पत्नी की परिवार में महिमा थी, वह घर की रानी थी। वास्तव में पत्नी ही घर की आत्मा और प्राण थी। पति के साथ मिलकर वह सामाजिक और धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करती थी। ज्ञाताधर्मकथांग में धन्य सार्थवाह की पत्नी भद्रा पुत्र की कामना के लिए देवताओं की पूजा धन्य सार्थवाह की अनुमति से ही करती है।[57]

श्रेष्ठ पत्नी वही होती है जो पति के अनुकूल, मृदुभाषी, दक्ष, स्वामिभक्त, साध्वी, आत्मगुप्ता, विनम्र और पति के चित्त की बात जानने वाली होती है। स्नेहशील, अदुष्टा और श्रेष्ठ आचरण करने वाली स्त्री ही पतिव्रता है। पत्नी न कभी उच्च स्वर में बोले, न कठोर स्वर से और न बहुत अधिक बोले। ये सभी गुण राजा श्रेणिक की पत्नी धारिणी रानी में श्रेणिक को स्वप्न सुनाते समय[58] और दोहद[59] की बात बताते समय देखे जा सकते हैं।

मनु और याज्ञवल्क्य जैसे स्मृतिकारों ने गुणी पत्नी के लिए कहा है कि वह सर्वदा हंसमुख रहे, गृह की समस्त वस्तुएँ सुन्दर ढंग से रखे, गृहकार्य को दक्षतापूर्वक करे, अपव्यय न करे, पति के प्रिय कार्यों को करे, सास-ससुर की सेवा करे तथा सच्चरित्र और संयमपूर्वक रहे।[60] जातक कथाओं में भी ऐसी पतिनिष्ठाओं के उदाहरण मिलते हैं जो अपने पति में अनुरक्त थी।[61]

पति के अनुचित कार्य से पत्नियाँ नाराज, कुपित भी हो जाया करती थी और वह अपने पति से बात नहीं करती थी। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि धन्य सार्थवाह की पत्नी भद्रा अपने पति से इसलिए नाराज हो जाती है कि धन्य सार्थवाह ने अपने पुत्रहन्ता विजयचोर को अपने भोजन में संभागिता दी।[62]

इस प्रकार पत्नी अपने धार्मिक और सामाजिक कार्यों द्वारा परिवार का विकास करती रही है और गृहिणी के रूप में उसका सामाजिक महत्व और सम्मान रहा है।

पुत्र

परिवार में पुत्र का बहुत अधिक महत्व रहा है क्योंकि उससे कुल और वंश का वर्द्धन और उत्कर्ष होता है। परिवार का प्रारम्भ विवाह से होता है और

विकास संतान से। नि:संतान दम्पत्ति अपने आपको अपूर्ण और अभागा मानते हैं। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि जब धन्य सार्थवाह की पत्नी भद्रा के कोई संतान नहीं हुई तो वह अपने आपको अपूर्ण और अभागिन मानने लगी और उन माताओं को धन्य मानती थी जो बच्चों को जन्म देती, उनका लालन-पालन करती।[63] संतान प्राप्ति की अभिलाषा से भद्रा ने अनेक देवी-देवीताओं की मनौती की, लेकिन भद्रा की यह विशेषता रही कि उसने संतान की तो कामना की लेकिन पुत्र ही हो ऐसा नहीं कहा, इससे सिद्ध होता है कि उसने पुत्र-पुत्री को समान समझा।[64]

तत्कालीन समय में पुत्र अपने माता-पिता का पूर्ण सम्मान और आदर करते थे। ज्ञाताधर्मकथांग में पुत्र का माता-पिता के प्रति स्वाभाविक सम्मान अभयकुमार[65], मेघकुमार[66], थावच्चापुत्र[67] और धन्य सार्थवाह के पुत्रों[68] के प्रसंगों में देखने को मिलता है। अभयकुमार माता धारिणी के दोहद प्रसंग से चिन्तित पिता श्रेणिक की चिन्ता दूर करने एवं माता का दोहदपूर्ण करने का संकल्प ही नहीं करता बल्कि पूर्ण प्रयास के द्वारा उसे पूरा भी करता है।[69] ज्ञाताधर्मकथांग के ही एक अन्य प्रसंग में धन्य सार्थवाह और उसके पुत्र सुंसुमा की खोज करते हुए भूख-प्यास से क्लान्त हो जाते हैं तब पिता के द्वारा अपने शरीर का उत्सर्ग कर उससे भूख-प्यास शान्त करने के लिए कहा जाता है, लेकिन पुत्र यह कहकर इन्कार कर देते हैं कि आप हमारे पूजनीय और देवतुल्य हैं, अत: आप इस कार्य के लिए हमारे शरीर का उपयोग करें।[70] इससे पुत्रों का अपने पिता के प्रति आदर और अहोभाव प्रकट होता है।

ज्ञाताधर्मकथांग में पुत्र को कुलकेतु, कुलदीप, कुलतिलक, कुलवृक्ष और कुल का आधार उसकी महिमा प्रकट की गई है।[71]

पुत्री

पुत्री अथवा कन्या हिन्दू संयुक्त परिवार में पुत्र की तुलना में उपेक्षित रही है, किन्तु ज्ञाताधर्मकथांग में दोनों (पुत्र और पुत्री) का समान महत्व अनेक प्रसंगों में देखने को मिलता है- भद्रा द्वारा देवपूजा में पुत्र या पुत्री कुछ भी होने पर उनकी (देवताओं) पूजा करने की प्रतिज्ञा की जाती है।[72] मल्ली का जन्माभिषेक देवताओं द्वारा करना भी लड़की के प्रति प्रीतिभाव दर्शाता है।[73] धन्य सार्थवाह अपनी पुत्री को उतना ही चाहता है जितना पुत्रों को, इसीलिए वह पुत्री का अपहरण हो जाने पर तथा उसका वध हो जाने पर चिन्तित और दु:खी ही नहीं

होता है बल्कि लड़की के अपहरण की फरियाद करते समय बहुमूल्य भेंट देते हुए कहता है कि- 'हे देवानुप्रियों! विपुल धन व कनक वापिस मिले वह समब तुम्हारा होगा और सुंसुमा दारिका मेरी होगी। (1/18/26)'

कवि बाण ने लिखा है कि पुत्री उत्पन्न होते ही पिता को चिन्ता में डाल देती है।[75] ज्ञाताधर्मकथांग में राजा द्रुपद अपनी पुत्री द्रौपदी के विवाह को लेकर चिन्तित होता है- किसी राजा अथवा युवराज की भार्यो के रूप में तुझे दूंगा तो कौन जाने वहाँ तुम सुखी रहोगी या दु:खी ? यदि दु:खी हुई तो मुझे जिन्दगी भर हृदय में दाह होगा।[76] पुत्री के दु:ख-दर्द को पिता द्वारा दूर करने का प्रयास किया जाता था। परित्यक्ता सुकुमालिका को पिता सागरदत्त कर्म की विचित्र गति को प्रेमपुर्वक समझाते हुए उसे चिन्ता मुक्त करता है तथा उसे धर्माभिमुख करने के लिए उसके लिए दानशाला की व्यवस्था करता है।[77] मल्लीकुमारी के कहने पर मोहनगृह, जालगृह, मणिमय पीठिका आदि का बनवाना[78] ही इस बात को स्पष्ट कर देता है कि पुत्री को भी अनेक सुविधाएँ और अधिकार प्राप्त थे। मल्लीकुमारी जब राजा कुंभ को जितशत्रु प्रभृति आदि छहों राजाओं के साथ युद्ध में हार जाने पर चिन्तित देखती है, तब वह कहती है कि- ''तात! आप चिन्ता मत कीजिए और उन छहों राजाओं के पास गुप्त रूप से अलग-अलग दूत भेजकर कहला दीजिए कि मैं अपनी कन्या तुम्हें देता हूँ।'' मल्लीकुमारी के कहने पर कुम्भ राजा ने ऐसा ही किया।[79] इससे स्पष्ट है कि पुत्री की बात को भी महत्व दिया जाता था।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि कहीं पुत्री की उपेक्षा अवहेलना है तो कहीं मान-प्रतिष्ठा और सम्मान भी, लेकिन यह बिल्कुल सत्य है कि पुत्री की उतनी ही आवश्यकता है जितनी पुत्र की, क्योंकि पुत्री-कन्या के अभाव में परिवार की परम्परा कायम नहीं रह सकेगी।

पुत्रवधू

परिवार में पुत्रवधू की भी अहं भूमिका होती है। ज्ञाताधर्मकथांग में धन्य सार्थवाह की चार पुत्रवधुएँ थी। धन्य सार्थवाह द्वारा परिवार-संचालन के लिए पुत्रों को नहीं चुनकर पुत्रवधुओं को चुनना बहू की महत्ता को उजागर करता है। इसके लिए धन्य सार्थवाह पाँच-पाँच शालिकण देकर उनकी परीक्षा करता है, परीक्षा में सबने अपनी बुद्धि एंव नामानुरूप प्रदर्शन किया और उन्हें उसी के अनुरूप कार्यभार सौंपा गया।[80]

मेघकुमार[81] और थावच्चापुत्र[82] ने जब दीक्षा की आज्ञा मांगी तब उनकी माताओं ने उनकी भार्याओं के लिए चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा- ''ये समान शरीर, वय, लावण्य, रूप, यौवन और गुणों से सम्पन्न तथा राजकुलों से लाई हुई हैं अतएव तुम्हें इनका ख्याल रखते हुए इनके साथ मनुष्य सम्बन्धी कामभोग भोगना चाहिए।''

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि पुत्रवधुओं को पुत्रों के समान महत्व, अधिकार एवं सम्मान प्राप्त था, जो होना भी चाहिए।

भाई-भाई का सम्बन्ध

ज्ञाताधर्मकथांग में भाई-भाई का मधुर सम्बन्ध अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है। भाई-भाई में प्रगाढ़ प्रेम होने के कारण ही माकन्दी पुत्र-जिनपालित और जिनरक्षित बारह बार समुद्र यात्रा साथ-साथ करते हैं।[83] अमरकंका (दोवई) कथा में तीन ब्राह्मण-बन्धु आपस में प्रीति होने के कारण प्रतिदिन बारी-बारी से एक-दूसरे के यहाँ भोजन करते हैं।[84] पुण्डरीक कथा में पुण्डरीक और कंडरीक दो भाई थे। पुण्डरीक राजा था, कंडरीक युवराज। कंडरीक ने दीक्षा ले ली। कुछ समय श्रमण पर्याय में रहने के बाद वह श्रमण धर्म के कठिन परीषहों से घबराकर गृहस्थ में आना चाहता था, इस पर पुंडरीक ने कंडरीक को राजपद सौंप दिया और स्वयं उसके स्थान पर दीक्षित होकर परीषहों को सहन करते हुए विचरने लगा।[85] इसी प्रकार धन्य सार्थवाह के पाँचों पुत्रों को एक-दूसरे के लिए प्राणोत्सर्ग करने हेतु तत्पर देखकर[86] कहा जा सकता है कि भाईयों के पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त प्रगाढ़ और मधुर थे।

भाई-बहन का सम्बन्ध

ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि जब सुंसुमा का अपहरण हुआ तो पाँचों भाईयों ने उसे चिलात चोर से छुड़वाने का भरसक प्रयास किया और जब चिलात ने सुंसुमा को मार दिया तब उन भाईयों में गहरा शोक-सा छा गया अर्थात् उन्हें अपनी बहन की मृत्यु असह्य लगी।[87]

अन्य सम्बन्धी और मित्र

ज्ञाताधर्मकथांग में विभिन्न स्थलों पर स्वजन व सम्बन्धियों आदि का उल्लेख मिलता है। जन्मोत्सव, विवाह व यात्रा आदि सभी कार्यक्रमों से मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन, संबंधी और परिजनों का आना, मिलना, बुलाना आदि देखा जाता है और उनके साथ मिलकर आनन्दोत्सव आदि मनाए जाते हैं।[88]

ज्ञाताधर्मकथांग के उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि पति-पत्नी के मधुर सम्बन्ध, माता-पिता और पुत्र का आदर्श सम्बन्ध, पिता-पुत्री का सम्बन्ध, भाई-भाई का सम्बन्ध, भाई-बहन का सम्बन्ध, श्वसुर-बहू का सम्बन्ध और अन्य पारिवारिक सम्बन्ध आदर्श रूप में परिलक्षित होते हैं।

आचार-व्यवहार (आदर-सत्कार)

आचार-व्यवहार भी किसी देश अथवा काल की संस्कृति को समझने का महत्वपूर्ण माध्यम है। ज्ञाताधर्मकथांगकालीन समाज को भी इसी आधार पर परखा जा सकता है। सभ्य-शिष्ट व्यवहार, मधुर संवाद, विनम्र-व्यवहार और उच्च शिष्टाचार उस युग की विशेषता थी।

सामाजिक शिष्टाचार में अतिथि-सत्कार को अत्यधिक महत्व दिया जाता था। मिथिला के राजा कुम्भ ने अनेक स्थानों पर भोजनशालाएँ बनवाईं, जहाँ आहार आदि की व्यवस्था से उस देश के पथिकों को संतुष्ट किया जाता था।[89] राजगृह के नंदमणियार ने भी एक बहुत बड़ी भोजनशाला बनवाई, वहाँ पर विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार बनता था, जिसका उपयोग ब्राह्मण, अतिथि, दरिद्र, श्रमण व भिखारी आदि करते थे। सभी को बड़े सत्कार के साथ भोजन करवाया जाता था।[90]

बड़ों का अभिवादन करना उस समय के शिष्टाचार का एक अंग था। ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसंधान के आधार पर कहा जा सकता है कि सिर झुकाकर विनयपूर्वक चरणों में नमस्कार करना[91], हाथ जोड़कर प्रणाम करना, मस्तक पर आवर्त करके, अंजलि करके सम्मान करना[92], चरणों में वंदना करना, जय-जयकार करना[93], खड़े होकर मान-मर्यादा करना[94], आसन आदि देकर सम्मान करना[95], पैरों में गिरना[96], वंदना करना, नमस्कार करना[97], जय-विजय शब्दों से अभिनन्दन करना-बधाना, मान-सम्मान के लिए आसन से उठना, सत्कार करना, बैठने के लिए अपना आसन देना[98], तीन प्रदक्षिणा देना[99] व दोनों हाथ जोड़कर दसों नखों को इकट्ठा करके मस्तक पर घुमाकर अंजलि जोड़कर विनयपूर्वक राजाज्ञा को स्वीकार करना[100] आदि सम्मान प्रकट करने की शैलियाँ थी।

आलिंगन करने की उस समय परम्परा थी। आलिंगन वास्तविक सौहार्द का प्रतीक माना जाता था, जिस समय धन्य सार्थवाह को कारागार से निजात

मिली उस समय उसके परिजन खुशी से झूम उठे और सभी ने धन्य सार्थवाह से गले मिलकर अपनी प्रसन्नता प्रकट की।[101]

लोग मिलने पर सबसे पहले एक-दूसरे की कुशलक्षेम पूछा करते थे। धन्य सार्थवाह से भी सभी ने कुशलक्षेम पूछी।[102] चोक्खा परिव्राजिका ने भी जितशत्रु राजा से राज्य सहित अन्तःपुर के कुशल समाचार पूछे।[103] इसी प्रकार कच्छुल्ल नारद ने भी पाण्डु राजा से अन्तःपुर सहित समस्त राज्य के कुशल समाचार पूछे।[104]

बड़े लोग छोटों को "हे जम्बू![105], हे मेघ![106], हे नन्द! हे भद्र! हे जगन्नन्द![107], हे पुत्र![108], हे देवानुप्रिय![109], हे पुत्री![110]" आदि सम्मानसूचक शब्दों से संबोधित करते थे।

इसी प्रकार बड़ों के लिए "हे तात![111], हे देवी![112], हे देव![113], हे नाथ! हे आर्य!, हे पितामह!, हे भ्रात!, हे मामा! हे भागिनेय![114] हे स्वामिन! हे पूज्य![115]" आदि सम्मानजनक सम्बोधनों से संबोधित करके बातचीत की जाती थी। छोटे-बड़े सभी विशेष रूप से 'देवानुप्रिय' शब्द का प्रयोग करते थे जो कि बहुत ही कर्ण प्रिय शब्द है।

बड़ों की आज्ञा मानना तथा उनके प्रति विनय का भाव रखना उस समय के शिष्टाचार का महत्वपूर्ण अंग था।

ज्ञाताधर्मकथांग में प्रायः प्रत्येक व्यक्ति को आज्ञा स्वीकार करते हुए एवं विनयशील देखा जा सकता है, चाहे वे राजा श्रेणिक के कौटुम्बिक पुरुष हों[116], चाहे श्रीकृष्ण के राजकर्मचारी हों[117], चाहे गुरु के शिष्य हों[118], पिता का पुत्र हो[119], पिता की पुत्री हो[120] और चाहे राजा का मंत्री हो[121], सभी को आज्ञापालन करते हुए देखा जा सकता है।

बड़ों को विदा करने के लिए कुछ दूर तक उनके साथ जाने की परिपाटी थी। नदी या तालाब तक पहुँचाना शुभ और परम्परानुकूल माना जाता था। जब अर्हन्नक व्यापार के लिए घर से रवाना हो रहा था तब उनके परिजन उसे समुद्र-किनारे तक पहुँचाने आए।[122] किसी महापुरुष या श्रमण के आने पर उनके दर्शनार्थ सभी लोग जाते थे। कच्छुल्ल नारद के आने पर राजा पाण्डु[123] और पद्मनाथ राजा[124] उनके सम्मान के लिए सात-आठ कदम आगे जाकर अगवानी करते हुए देखे जाते हैं। द्रौपदी के स्वयंवर में आए सभी राजाओं के सत्कार-

सम्मान के लिए राजा द्रुपद सामने जाते हैं[125] और इसी प्रकार पाण्डु राजा भी सभी राजाओं की ससम्मान अगवानी करते हैं।[126]

संस्कार

शरीर एवं वस्तुओं की सिद्धि और विकास के लिए समय-समय पर जो कर्म किए जाते हैं, उन्हें संस्कार कहते हैं। यह विशेष प्रकार का अदृष्ट फल उत्पन्न करने वाला कर्म होता है। शरीर के मुख्य सोलह संस्कार हैं।[127] जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त संस्कारों का विधान भारतीय संस्कृति में रहा है। ज्ञाताधर्मकथांग में संस्कारों से जुड़े उत्सवों का उल्लेख एकाधिक स्थानों पर मिलता है। जन्म, राज्याभिषेक, दीक्षा, विवाह व नामकरण आदि संस्कारों का विस्तृत विवेचन इस ग्रंथ में दृष्टिगोचर होता है--

1. गर्भाधान संस्कार

यह संस्कार स्त्रियों के गर्भधारण के समय गर्भ की शुद्धि के लिए किया जाता है। ज्ञाताधर्मकथांग में इस संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता है।

2. सीमनतोनयन संस्कार

इस संस्कार को गर्भाधान के बाद तीसरे महीने में सम्पादित किया जाता है। ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित धारिणीदेवी[128] और भद्रासार्थवाही[129] को गर्भाधान के तीसरे माह उत्पन्न होने वाले दोहद की तुलना इस संस्कार से कर सकते हैं, क्योंकि दोनों का उद्देश्य गर्भ संरक्षण और स्त्री को प्रसन्न रखना है।

3. जातकर्म संस्कार

हिन्दू संस्कारों के अनुसार ही ज्ञाताधर्मकथांग में जन्म के पहले दिन ही इस संस्कार को सम्पन्न करने का उल्लेख मिलता है। राजा श्रेणिक की पत्नी धारिणी देवी ने जब एक बालक को जन्म दिया तो जन्म के पहले दिन जातकर्म यानी नाल काटने का संस्कार सम्पादित किया गया।[130] दूसरे दिन जागरिका[131] (रात्रि जागरण) का आयोजन किया गया और तीसरे दिन सूर्य-चंद्र के दर्शन कराए गए।[132]

4. नामकरण संस्कार

संतान उत्पन्न होने के बारह दिनों के बाद नामकर्म संस्कार होता है। इस संस्कार की परम्परा प्राचीनकाल से चली आ रही है। मनु के अनुसार ब्राह्मण का नाम मंगलसूचक, क्षत्रिय का बलसूचक, वैश्य का धनसूचक, शूद्र का जुगुप्सा

सूचक होना चाहिए। गृह्य सूत्र के अनुसार नाम दो या चार अक्षरों का और व्यंजन से प्रारंभ होना चाहिए। बालकों के नाम में अक्षर सम और बालिकाओं के विषम संख्या आकारान्त में हों। यह नाम उच्चारण-सुखद और श्रुति-सुखद होना चाहिए।[133]

आगमकालीन नाम व्यक्तित्व के किसी विशेष अंश को उजागर करने वाले होते थे। नाम की सार्थकता का शुभ संकल्प आदर्श के रूप में भी सामने रहता था। ज्ञाताधर्मकथांग में सम्प्रयोजन नामकरण के विविध दृष्टांत उपलब्ध हैं-

दोहद के आधार पर- गर्भवती की प्रशस्त या अप्रशस्त पदार्थ विशेष की तीव्र इच्छा दोहद कहलाता है। अकाल मेघ सम्बन्धी माता धारिणी के दोहद के आधार पर मेघकुमार[134] और माता की फूलों की मालाओं की शय्या पर सोने की इच्छा के आधार पर मल्ली कुमारी[135] नामकरण किए गए।

देव द्वारा प्रदत्त पुत्र का नाम देवदत्त रखा गया।[136]

माता-पिता के नाम के आधार पर भी संतान का नाम रखा जाता था। यथा- थावच्चापुत्र[137], माकंदीपुत्र[138], कनकध्वज[139], द्रौपदी[140] आदि।

नगर के आधार पर भी नामकरण कर दिया जाता था, जैसे- तैतलिपुर नगर के नाम के आधार पर तैतलिपुत्र।[141]

गुणानुरूप नाम- गुण के अनुरूप नामसंयोजना ज्ञाताधर्मकथांग में मिलती है। यथा- उज्झिता, भोगवती, रक्षिता, रोहिणी[142], जितशत्रु, सुबुद्धि[143], धर्मरूचि अणगार[144]।

पूर्व जन्म पर आधारित नाम भी होते थे। जैसे- दर्दुर देव[145], पोट्टिल देव।[146]

आदर्श के आधार पर- इस दृष्टि से नाम निर्धारण में आदर्श का संयोजन किया गया है जैसे- धनपाल, धनदेव, धनगोप, धनरक्षित[147], जिनपालित, जिनरक्षित[148]।

इस प्रकार अलग-अलग दृष्टियों से अलग-अलग नामों का उल्लेख ज्ञाताधर्मकथांग में देखा जा सकता है।

5. बहिर्यान या निष्क्रमण संस्कार

संतान का जन्म के दो-चार माह बाद किसी दिन शुभवेला में पहली बार प्रसूतिगृह से बाहर ले जाने का नियम है, इसे बहिर्यान क्रिया कहते हैं। आजकल इसे मासवां कहा जाता है, जिसके अनुसार संतानोत्पत्ति के एक महीने या 40

दिनों बाद बच्चे को घर से बाहर ले जाते हैं। ज्ञाताधर्मकथांग में इस संस्कार का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं है, लेकिन पाँच धायों के द्वारा मेघकुमार को ग्रहण कर उसका लालन-पालन किया जाता है[149], उसे इस संस्कार में समाहित कर सकते हैं। महापुराण में भी इस क्रिया का उल्लेख मिलता है।[150]

6. पालने में शयन का संस्कार[151]

ज्ञाताधर्मकथांग में इस संस्कार का नामोल्लेख ही मिलता है।

7. पैरों से चलने का संस्कार[152]

इस संस्कार का भी ज्ञाताधर्मकथांग में नामोल्लेख मात्र ही मिलता है, विस्तृत विवेचन नहीं।

8. चूड़ाकर्म संस्कार

चूड़ाकर्म संस्कार का अभिप्राय मुण्डन से है। यह संस्कार जन्म के प्रथम, तीसरे, पाँचवें या नवें वर्ष में सम्पन्न होता है। ज्ञाताधर्मकथांग में मेघकुमार के चोटी रखने यानी मुण्डन संस्कार को बड़ी ऋद्धि और सत्कारपूर्वक सम्पन्न करने का उल्लेख मिलता है।[153]

9. विद्यारम्भ संस्कार

अनेक शास्त्राचार्यों ने इस संस्कार को विद्यारम्भ, अक्षराम्भ, अक्षरस्वीकरण व अक्षरलेखन आदि नामों से सम्बोधित किया है।[154] ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि मेघकुमार जब आठ वर्ष का हुआ तो उसे विद्याध्ययन के लिए कलाचार्य के पास भेजा गया।[155]

10. केशान्त (गोदान) संस्कार

इस संस्कार में सोलहवें वर्ष में ब्रह्मचारी के सिर, दाढ़ी एवं मूंछ के बालों का क्षरण किया जाता था। इस संस्कार में ब्रह्मचारी गुरु को गौ का दान करता था। ज्ञाताधर्मकथांग में गाय न देकर कलाचार्य को सत्कार-सम्मान के साथ बहुत-सा प्रीतिदान देने का उल्लेख मिलता है[156], जो इस संस्कार के अनुरूप ही कहा जा सकता है।

11. समावर्तन संस्कार

वेदाध्ययन के उपरान्त स्नान-कर्म तथा गुरु-गृह से लौटने के समय में संस्कार को स्नान या समावर्तन कहा जाता है। यह संस्कार विद्यार्थी-जीवन यानी ब्रह्मचर्य-जीवन की समाप्ति का सूचक है। ज्ञाताधर्मकथांग में भी उल्लेख मिलता है

कि जब मेघकुमार कलाचार्य से बहत्तर कलाएँ सीखकर लौटा तो उसके माता-पिता ने उसे विवाह योग्य जानकर उसका विवाह करने का निश्चय किया।[157]

12. पाणिग्रहण संस्कार

भारतीय संस्कृति में विवाह को एक धार्मिक संस्कार मानते हुए अनिवार्य माना गया है। जैन पुराणों के अनुसार भोगभूमिकाल में स्त्री-पुरुषों का युगल साथ-साथ उत्पन्न होता था, साथ-साथ भोग भोगने के उपरान्त एक युगल को जन्म देकर साथ-साथ मृत्यु को प्राप्त करता था।[158]

'विवाह' शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'वह्' धातु एवं 'धञ' प्रत्यय से निष्पन्न होता है।[159] इसका अर्थ है- गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यों का विशेष रूप से वहन करना, जिम्मेदारी निभाना। इसका पर्यायवाीच शब्द लग्न है। जिसका तात्पर्य है- पति-पत्नी दोनों का एक-दूसरे से संलग्न होना, मिलना, लीन होना। पति और पत्नी अर्थात् दम्पत्ति के प्रेममय मिलन का नाम ही 'लग्न' है। (आदर्श ग्रहस्थाश्रम, पृ. 13)

विवाह का सम्बन्ध स्थापित करने में वर-वधू के कुल का निर्धारण सबसे पहले किया जाता था। उत्तमकुल और परिवार का होना वर-वधू के निर्वाचन में आवश्यक माना जाता था। ज्ञाताधर्मकथांग में मेघकुमार के माता-पिता द्वारा मेघकुमार के युवा होने पर अपने कुल के समान श्रेष्ठ राजकुलों की आठ कन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण संस्कार करवाने का उल्लेख मिलता है।[160] इसी प्रकार थावच्चापुत्र का विवाह भी इभ्य कुल की बत्तीस कन्याओं के साथ होने का उल्लेख मिलता है।[161]

इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि समाज में कुल और कुटुम्ब का महत्व निरन्तर बढ़ता गया, वस्तुतः कुल का निर्धारण प्रजनन के आधार पर होता था और यह माना जाता था कि सन्तानोत्पत्ति कुल और वंश के अनुरूप होती है।

ज्ञाताधर्मकथांग में वर-वधू का विवाह यौवन प्राप्ति के बाद यानी युवा होने और अध्ययन पूर्ण होने पर एवं मन से एक-दूसरे की इच्छा कर सकने में समर्थ होने पर ही किया जाता था।[162]

प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रों में विवाह के आठ प्रकारों का उल्लेख मिलता है, जो किसी न किसी रूप में समाज में प्रचलित रहे हैं, जैसे- ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्रजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस एवं पैशाच विवाह आदि।[163]

ज्ञाताधर्मकथांग में विभिन्न प्रकार के विवाहों के दृष्टान्त मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं-

i. तैतलिपुत्र कलाद मूषिकादारक की पुत्री को पसन्द करता है और अपने अभ्यन्तर स्थानीय पुरुषों को वहाँ भेजकर कन्या की मांग उसके माता-पिता से करता है[164] इसी प्रकार जिनदत्त सार्थवाह सुकुमालिका को पसन्द करके अपने पुत्र सागरदत्त के लिए उसकी मंगनी करता है।[165] इन दोनों अवसरों पर कन्या के लिए शुल्क देने की बात भी पूछी जाती है। इस प्रकार ये दोनों विवाह आर्ष विवाह कहे जा सकते हैं।

ii. ज्ञाताधर्मकथांग में सुंसुमा का चिलात पुत्र द्वारा बलपूर्वक अपहरण करने का उल्लेख मिलता है।[166] हालांकि वह उससे विवाह नहीं कर सका, लेकिन इस प्रकार का विवाह राक्षस विवाह कहा जाता है।

iii. पूर्व संगतिक देव द्वारा द्रौपदी का अपहरण कर राजा पद्मनाथ के समक्ष भोग के लिए प्रस्तुत करना[167], पैशाच विवाह का उदाहरण कहा जा सकता है।

iv. अपने ही वर्ण, जाति, समूह, प्रजाति और धर्म में विवाह करना, अन्तर्विवाह कहा जाता है। मेघकुमार[168], थावच्चापुत्र[169] द्रौपदी[170] की शादी इसी विवाह के अंतर्गत आते हैं।

v. ऊँचे वर्ण के पुरुष और निम्न वर्ण की स्त्री का विवाह अनुलोम विवाह कहा जाता है। तैतलिपुत्र अमात्य का स्वर्णकार की पुत्री पोट्टिला के साथ विवाह[171] अनुलोम विवाह का प्रतीत है।

vi. ऊँचे वर्ण की कन्या का निम्न वर्ण के वर के साथ विवाह प्रतिलोम विवाह कहलाता है। सागरदत्त अपनी पुत्री सुकुमालिका का पुनःर्विवाह एक भिखारी के साथ करता है[172], जो इस विवाह के अंतर्गत आता है।

vii. ज्ञाताधर्मकथांग में धन्य सार्थवाह की भद्रानामक एक ही पत्नी थी।[173], धनपाल, धनदेव, धनगोप और धनरक्षित की भी एक-एक पत्नी ही थी।[174] ऐसा विवाह 'एक-विवाह' यानी 'एक पत्नी-एक पति विवाह' कहलाता है।

viii. द्रौपदी पाँच पाण्डवों का वरण करती है[175], इसे बहुपति विवाह कहा जाता है।

ix. मेघकुमार[176], थावच्चापुत्र[177], श्रेणिक राजा[178] और कृष्ण वासुदेव[179] के एकाधिक पत्नियाँ थी, जो बहुपत्नी विवाह के उदाहरण हैं।

x. द्रौपदी द्वारा स्वयंवर में पाँच पाण्डवों का वरण[180] स्वयंवर विवाह का उदाहरण है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि ज्ञाताधर्मकथांग काल में पाणिग्रहण संस्कार की विभिन्न प्रणालियाँ विद्यमान थी।

13. राज्याभिषेक संस्कार

इस संस्कार में राजा अपने राज्य को पुत्र को सौंपकर स्वयं राजकार्य से निवृत्त हो जाता है। ज्ञाताधर्मकथांग में राजा श्रेणिक मेघकुमार को दीक्षा से पूर्व एक दिन के लिए राजगद्दी सौंपते हैं।[181] इसी प्रकार महापद्मराजा अपने पुत्र पुण्डरीक को राज्य सौंपकर स्वयं दीक्षा अंगीकार कर लेते है।[182]

14. अभिनिष्क्रमण संस्कार

प्रव्रजित होने के लिए घर से प्रस्थान को अभिनिष्क्रमण कहा जाता है। प्रव्रज्या से पूर्व इस संस्कार को धूमधाम से मनाए जाने की परम्परा रही है। विशिष्ट चित्रों से चित्रित और हजार पुरुषों द्वारा वहन की जाने वाली शिविका पर दीक्षार्थी को बैठाकर अभिनिष्क्रमण क्रिया सम्पन्न की जाती है। ज्ञाताधर्मकथांग में मेघकुमार ने भगवान महावीर के पास[183], थावच्चापुत्र ने अरिष्टनेमि के पास[184], जितशत्रु आदि छहों राजाओं ने तीर्थंकर मल्ली के पास[185], पाँच पाण्डवों ने धर्मघोष स्थविर के पास[186], द्रौपदी से सुव्रता आर्या के पास[187], महापद्मराजा और कुंडरीक ने भी धर्मघोष स्थविर के पास[188] प्रव्रज्या अंगीकार की।

15. प्रव्रज्या संस्कार

असंयम से विरत हो संयमी जीवन का प्रारम्भ प्रव्रज्या संस्कार से होता है। जैन प्रव्रज्या संस्कार में पंचमुष्टि लुंचन, वंदना-नमस्कारपूर्वक भगवान से प्रव्रज्या की प्रार्थनोपरान्त प्रव्रज्या का अभिलाषी निवेदन करता है- भंते! आप मुझे प्रव्रजित करें। मेरा लोच करें। प्रतिलेखन आदि सिखावें। सूत्र और अर्थ प्रदान कर शिक्षा दें। ज्ञान आदि आचार एवं विनय आदि धर्म बताएँ। भगवान स्वयं प्रार्थी को प्रव्रजित कर संयमी जीवन की शिक्षा प्रदान करते हैं।[189]

तीर्थंकर स्वयं ही तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं। अतः सिद्धों को वंदना करते हुए वे स्वयं ही लोचकर प्रव्रज्या का संकल्प स्वीकार करते हैं। लुंचित केशों को

देवेन्द्र अपने वस्त्रों में ग्रहण कर क्षीरसागर में प्रक्षिप्त कर देते हैं।[190]

16. अंतिम संस्कार

यह मानव जीवन का अंतिम संस्कार है, इसे एक व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र या निकट सम्बन्धी पूरा करते हैं।

इस शरीर को त्यागकर जो तीर्थंकर सिद्धावस्था में अवस्थित हो गए, उनके शरीर का अंतिम संस्कार, शक्रेन्द्र की आज्ञा से होता है। अग्निकुमार देव अग्नि की विकुर्वणा और वायुकुमार देव वायु की विकुर्वणा करते हैं। चिता पर शरीर भस्म होने पर मेघकुमार देव उसे क्षीर सागर के जल से शान्त कर देते हैं।

अंतिम स्मृति चिह्न के रूप में शक्रेन्द्र, ईशानेन्द्र द्वारा क्रमशः दायीं-बांयी ऊपर की दाढ़, चमरेन्द्र, बलीन्द्र द्वारा क्रमशः दायीं-बांयी नीचे की दाढ़ और अन्य देवों द्वारा अन्यान्य अंगोपांग की अस्थियाँ ग्रहण करने की परम्परा थी। तीर्थंकर मल्ली[191], राजा जितशत्रु, अमात्य सुबुद्धि एवं तैतलिपुत्र, द्रौपदी व सभी साध्वियाँ जो पर्वत पर संथारा नहीं करते हैं उनका अंतिम (दाह) संस्कार होता है, अरिष्टनेमि[194] के अंतिम संस्कार का इसी रूप में वर्णन मिलता है। मेघकुमार, पाण्डव आदि ने दो पहाड़ों पर जाकर संथारा किया अतः उनका अंतिम संस्कार नहीं किया जाता है।

धन्य सार्थवाह अपने पुत्र देवदत्त के मृत शरीर को अग्नि संस्कार के लिए श्मशान घाट ले जाता है।[197] इसी प्रकार मृत दारिका के पीछे राजा कनकरथ[198] और धन्य सार्थवाह[199] मृतक के पीछे किए जाने वाले अनेक लौकिक कार्य संपादित करते हैं। इन लौकिक कार्यों का विस्तृत विवेचन ज्ञाताधर्मकथांग में नहीं मिलता है।

संयमी अवस्था में शरीर साधना का साधन था, निष्प्राण होने के बाद शेष सब साधु परिनिर्वाण प्राप्त मुनि की स्मृति में माध्यस्थ भाव की पुष्टि के लिए कायोत्सर्ग करते हैं। अन्तर्मुहुर्त बाद उस देह को शेष साधु गृहस्थों को सौंप देते हैं। गृहस्थ लोक परम्परा के अनुरूप ही अंतिम संस्कार करते हैं। उसके निश्रा में जितने भी पात्र-उपकरण आदि होते हैं, शेष साधु इन्हें ग्रहण कर गुरु के सामने उपस्थित हो जाते हैं। संयमी की स्मृति में प्रमोदभाव के साथ उसके गुणों का स्मरण किया जाता है। ज्ञाताधर्मकथांग में मुनिमेघ[200], आर्या पोट्टिला[201], धर्मरूचि अणगार[202], द्रौपदी[203] व पुण्डरीक के प्रसंग इसी तथ्य को पुष्ट करते हैं।

नारी की स्थिति

जीवन रथ के दो पहियों- स्त्री और पुरुष के समन्वय से ही जीवन आनन्दमय बनता है।

ज्ञाताधर्मकथांग की परिधि में आबद्ध नारी विविध रूपों में हमारे समक्ष उपस्थित होती है।

माता के रूप में वह अत्यन्त सम्माननीय थी। तीर्थंकर की माता का देवता भी सम्मान करते हैं।[205] माता अपने पुत्र से अत्यन्त स्नेह करती थी। माता धारिणी पुत्र मेघकुमार की दीक्षा की बात सुनकर मूर्छित हो गई।[206]

ज्ञाताधर्मकथांग में विमाता के प्रति भी सौम्य व्यवहार का आदर्श रूप सामने आता है। अपनी विमाता धारिणी की इच्छापूर्ति के लिए पुत्र अभय देवताओं से प्रार्थना करता है।[207]

बहुपत्नी विवाह के कारण पत्नी का जीवन अपेक्षाकृत कम सुखमय था। पति यदा-कदा पत्नी से रूष्ट भी हो जाया करता था, लेकिन पत्नी सदैव उससे स्नेहपूर्ण व्यवहार किया करती थी। पति का प्रेम पुनः प्राप्त करने के लिए वह जादू-टोने का आश्रय भी लेती थी।[208]

पति अपनी पत्नी की हर इच्छा को यथासंभव पूर्ण करना अपना कर्त्तव्य समझता था। श्रेणिक ने धारिणी[209] और धन्य सार्थवाह ने भद्रासार्थवाही[210] की इच्छा पूर्ण की। गर्भिणी नारी की सम्पूर्ण कामनाओं को पति द्वारा पूरा किया जाता था।[211]

उस समय पुरुष दीक्षा ग्रहण करते समय अपने माता-पिता की आज्ञा लेना आवश्यक समझते थे, लेकिन पत्नी से आज्ञा लेना अथवा मंतव्य जानना उनके लिए आवश्यक नहीं था। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि मेघकुमार, धन्य सार्थवाह और थावच्चापुत्र ने अपनी-अपनी पत्नियों से आज्ञा लेना तो दूर उन्हें सूचित करना भी उचित नहीं समझा।[212]

पति के प्रभाव में नारी अपने श्वसुरगृह में रहती थी। वहाँ पर श्वसुर का पूर्ण नियंत्रण रहता था। योग्य वधू को वय में छोटी होने पर भी परीक्षण पर खरा उतरने पर गृहस्वामिनी बनाना नारी की प्रतिष्ठा का परिचायक है। धन्य सार्थवाह ने अपनी छोटी पुत्रवधू रोहिणी को गृहस्वामिनी पद पर प्रतिष्ठित किया।[213]

कन्या के रूप में नारी माता-पिता, भाई व सभी परिजनों के स्नेह की पात्र

थी। कन्या का जन्म माता-पिता के लिए अभिशाप न होकर प्रीति का कारण होता था। ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित है कि माता-पिता अपनी कन्याओं का लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा पुत्रों के समान ही किया करते थे। मल्ली भगवती[214], सुकुमालिका[215], द्रौपदी[216] और सुंसुमा[217] का लालन-पालन इस बात को पुष्ट करता है।

कन्या के विवाह योग्य होने पर माता-पिता को उसके विवाह की चिन्ता सताने लगती थी।[218] युवावस्था में कन्या का विवाह पिता उसके योग्य वर से करता था।[219] इसके अतिरिक्त कन्याओं द्वारा स्वयंवर का चयन करने की स्वयंवर-पद्धति भी प्रचलित थी।[220] कन्या के विवाह के समय ससुराल पक्ष और मातृपक्ष दोनों ही कन्या की सुख-सुविधा के लिए उसे प्रीतिदान देते थे।[221] कन्याओं के लिए पृथक् अंत:पुर होता था।[222] वह दासियों के साथ[223] और स्वतंत्रता पूर्वक अकेली[224] भी गेंद आदि से खेलकर अपना मनोरंजन करती थी। युद्ध जैसी भीषण स्थिति में भी कुम्भ राजा द्वारा अपनी पुत्री की सलाह को न टालना[225] परिवार में कन्या की महत्ता का परिचायक है।

सम्पन्न कुलों में निजी सेवा या बालक का पालन-पोषण करने के लिए धाय रखने की परम्परा भी प्रचलित थी। मेघकुमार[226], द्रौपदी[227] तथा मल्ली का लालन-पालन पाँच धायों के द्वारा हुआ। धाय का स्थान अन्य परिचारिकाओं से अधिक सम्मानपूर्ण था। द्रौपदी के स्वयंवर में साथ जाने वाली धाय पढ़ी-लिखी थी[228], इससे स्पष्ट होता है कि उस समय की धाएं भी पढ़ी-लिखी और होशियार थी।

उस समय नारी का एक रूप 'दासी' भी प्रचलन में था। दासियाँ सदैव अपने स्वामी की सेवा में के लिए तत्पर रहती थी।[229] दासियाँ भेंट अथवा दहेज में भी जाती थी। मेघकुमार की पत्नियों[230] और द्रौपदी[231] को दासियाँ दहेज में दी गई।

रानियों के लिए दासियों का प्रावधान था, जो उनकी सेवा में रत रहती थी और संग परिचारिकाएँ शरीर मर्दन करती थी। रानी के उदास होने पर राजा को उसकी मन:स्थिति से अवगत भी कराती थी।[232]

स्वदेशी के साथ-साथ विदेशी दासियों का प्रचलन भी था।[233] राजा को पुत्र प्राप्ति की सूचना देने वाली दासी को दासत्व से मुक्त करने का उल्लेख भी मिलता है। इस अवसर पर दासी को पुरस्कार स्वरूप विपुल धन-सम्पदा भी

प्रदान की जाती थी।[234]

ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार जाति, वर्ण, लिंग आदि का भेदभाव दीक्षा के लिए किंचित भी नहीं था। द्रौपदी[235], मल्लीभगवती[236] (क्षत्रिय), काली (वैश्य)[237] और शूद्र आदि विभिन्न जातियों की स्त्रियाँ बिना किसी भेदभाव के दीक्षित हुईं। स्वर्णकार की कन्या पोट्टिला ने भी दीक्षा ग्रहण की।[238]

कन्या[239] और विवाहिता स्त्री[240] को दीक्षा के लिए क्रमशः अपने माता-पिता या पति से आज्ञा लेनी पड़ती थी।

कभी नारी शक्ति आश्चर्य के रूप में उभर कर सामने आती है। ऐसा ही एक आश्चर्य मल्ली भगवती (19वें तीर्थंकर) का है। मल्ली भगवती द्वारा अन्य तीर्थंकरों के समान स्वयं दीक्षित होकर अन्य पुरुषों और नारियों को दीक्षित करने का उल्लेख ज्ञाताधर्मकथांग में मिलता है।[241]

जहाँ नारी पवित्रता के कारण आदर्श की प्रतिमूर्ति थी और जनसामान्य की आराध्य थी, वहाँ वह अपनी उदरपूर्ति के लिए कामुकता का प्रदर्शन करके भी आजीविका चलाती थी। उसके स्वरूप को 'गणिका' की संज्ञा दी गई। पालि-अंग्रेजी शब्दकोश में गणिका शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि गणमान्य व्यक्तियों द्वारा भोगी जानी वाली गणिका है तथा सामान्य वर्ग द्वारा भोगी जाने वाली नारी वैश्या कहलाती है।[242] ज्ञाताधर्मकथांग में देवदत्ता नामक गणिका के विषय में कहा गया है कि वह धन सम्पन्न थी और कोई भी उसको तिरस्कृत करने का साहस नहीं कर सकता था। वह चौंसठ कलाओं की ज्ञाता थी। वह कामशास्त्र में प्रवीण थी। वह अत्यन्त सुन्दर थी। वह एक हजार रूपए शुल्क स्वरूप लेती थी। राजा ने उसे छत्र-चामर आदि प्रदान किए थे। वह एक हजार गणिकाओं की अधिपति थी।[243] गणिका के साथ रथ पर आसीन हो नगर भ्रमण करना भी सम्मानसूचक माना जाता था।[244]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित नारी जहाँ एक ओर अपनी शीलाचार और सतीत्व के कारण पुरुष तो क्या देवताओं तक की आराध्या है, लेकिन दूसरी तरफ वह व्यभिचारिणी स्त्री के रूप में भी प्रकट हुई है। वह साध्वी के रूप में मानव मात्र को आत्मकल्याण के पथ पर उन्मुख करती है तो गणिका के रूप में जनमानस के बीच कला की उपासिका बनकर उभरती है। नारी अपने विविध वांछनीय-अवांछनीय रूपों में ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित है।

खानपान

जीवन के लिए भोजन (आहार) प्राथमिक आवश्यकता है। जैन दर्शन में आहार को परिभाषित करते हुए आचार्यों ने कहा है- "औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर और छहों पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों के ग्रहण को आहार कहते हैं।[245]"

ज्ञाताधर्मकथांग के विविध प्रसंगों में अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य भोजन की चर्चा हुई है।[246] असणं, पाणं आहार में आने वाली कुछेक खाद्य वस्तुओं के नाम भी मिलते हैं- ककड़ी, फूटककड़ी (मालूक)[247], सरिसवया (सरसों)[248], कुलथ नामक धान्य[249], धान्यमास (उड़द)[250], अरस (हींग आदि संस्कार से रहित)[251], शालि-अक्षत (चावल)[252], तंदुल (चावल), आटा, गोरस[253], घी, तेल, गुड, खांड।[254]

रस

ज्ञाताधर्मकथांग में रस को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। कटुरस, तिक्त रस, कषाय, अम्ल व मीठा-मधुर रस का उल्लेख मिलता है।[255] अरस (हींग आदि संस्कार से रहित) और विरस (स्वादहीन) का उल्लेख भी आया है।

पेय

ज्ञाताधर्मकथांग में अनेक प्रकार के पानी (पेय पदार्थों) का उल्लेख मिलता है। यथा-सज्जी के खार का पानी[257], गुड़ का पानी, खांड का पानी, पोर (ईख) का पानी आदि[258] द्रौपदी के स्वयंवर में अनेक प्रकार की मदिरा भी राजाओं के खाने-पीने की सामग्री के साथ रखी गई थी, यथा- सुरा, मद्य, सीधु और प्रसन्ना आदि- ये मदिरा की ही जातियाँ हैं।[259] सुबुद्धि अमात्य और जितशत्रु के प्रसंग के आधार पर कहा जा सकता है कि उस समय नाली के गंदे पानी को स्वच्छ बनाने की वैज्ञानिक विधि प्रचलित थी।[260]

शर्करा

ज्ञाताधर्मकथांग में खांड, गुड़, शक्कर, मत्संडिका (विशिष्ट प्रकार की शक्कर), पुष्पोत्तर एवं पद्मोत्तर जाति की शर्करा[261] आदि का उल्लेख इस बात की ओर इंगित करता है कि उस समय मिष्टान्न का भी खूब प्रचलन था।

तेल-मसाले

ज्ञाताधर्मकथांग में शाक-सब्जी बनाने के लिए तेल और मसाले[262] प्रयुक्त

किए जाने का उल्लेख भी मिलता है किन्तु मसालों में आने वाले पदार्थों का उल्लेख नहीं मिलता है।

प्रातःराश

ज्ञाताधर्मकथांग के एक प्रसंग से यह भी स्पष्ट होता है कि उस समय सुबह के नाश्ते का प्रचलन था। धन्य सार्थवाह जब सामुद्रिक यात्रा के लिए जाता है तो सब सहयात्रियों के साथ सुबह का नाश्ता करता है।[263]

भोजन रखने का पात्र

ज्ञाताधर्मकथांग में एक स्थान पर भोजन रखने के पिटक-पात्र (बांस की छाबड़ी) का तथा घड़े का उल्लेख मिलता है।[264] अन्य किसी भी पात्र का उल्लेख ज्ञाताधर्मकथांग में नहीं मिलता है।

ल्हावणी बांटना

ज्ञाताधर्मकथांग के एक प्रसंग से यह प्रकट होता है कि उस समय भी ल्हावणी बांटने की प्रथा थी। त्यौहार आदि विशेष प्रसंगों पर स्वजनों के घर जो मिठाई बांटी जाती है, उसे ल्हावणी बांटना कहा जाता है।[265] आज भी ल्हावणी बांटने की प्रथा समाज में प्रचलित है।

गर्भवती का आहार

आहार की सामान्य वर्जनाओं के साथ कुछ विशेष अवस्थाओं में किए जाने वाले आहार का निर्देश भी ज्ञाताधर्मकथांग में मिलता है।[266] गर्भवती को अति शीत, उष्ण, तीखा, कटुक, कषैला, खट्टा और मधुर आहार नहीं करना चाहिए।[267] देश-कालानुसार गर्भ के लिए हित, मित एवं पथ्यकार[268] तथा गर्भपोषक आहार करना चाहिए।[269]

सामूहिक भोजन

ज्ञाताधर्मकथांग में सामूहिक भोजन का प्रचलन भी देखा जाता है। सोम, सोमदत्त और सोमभूमि ब्राह्मण आपस में विचार-विमर्श कर प्रतिदिन बारी-बारी से प्रत्येक के घर एक साथ बैठककर भोजन करने का निर्णय करते हैं।[270] इससे प्रतीत होता है कि उस समय सामूहिक भोजन करने की व्यवस्था प्रचलित थी।

भोजनशालाएँ

ज्ञाताधर्मकथांग में भोजन बनाने के स्थान के रूप में भोजनशालाओं का उल्लेख मिलता है। भोजनशाला (महानसशाला) सैंकड़ों खंभों वाली एवं अत्यन्त

भव्य थी और यहाँ पर अनेक प्रकार के अशन, पान, खादिम और स्वादिम अर्थात् पकवान बनते थे।[271] भोजन बनाने के लिए पाक स्थान (चूल्हा) का प्रयोग होता था।[272]

वेशभूषा

किसी भी व्यक्ति का प्रथम परिचय उसकी वेशभूषा है। ज्ञाताधर्मकथांग में विविध वर्गों से जुड़े पात्र हैं- उसी के अनुरूप उनकी वेशभूषा में भी विविधता के दर्शन होते हैं। उनकी वेशभूषा का विश्लेषण-निदर्शन तीन बिन्दुओं- 1. वस्त्र, 2. आभूषण और 3. प्रसाधन के आधार पर प्रस्तुत है-

वस्त्र

ज्ञाताधर्मकथांग में पात्रानुरूप अग्रांकित वस्त्रों का उल्लेख मिलता है-

i. **क्षौम**- यह अत्यन्त महीन और सुन्दर वस्त्र था, जो अलसी की छाल तन्तु से निर्मित होता था। क्षौम काशी और पुण्ड्रदेश का प्रसिद्ध था।[273] ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि कसीदा काढ़ा हुआ क्षौम दुकूल का चद्दर धारिणी रानी के उत्तम भवन में लगा हुआ था।[274]

ii. **प्रावरण**- इसका अर्थ ओढ़ने के वस्त्र से है।[275]

iii. **कम्बल**- ज्ञाताधर्मकथांग में कंबल, रत्न कंबल का उल्लेख मिलता है।[276] अमरकोश में भी कम्बल शब्द का प्रयोग हुआ है और उसे रल्लक भी कहा है।[277]

iv. **दूष्य वस्त्र**- यह मूल्यवान रेशमी वस्त्र है।[278] ठाणांग सूत्र में देवदूष्य वस्त्र का उल्लेख मिलता है, जिसे भगवान महावीर ने धारण किया था।[279]

v. **दुकूल**- ज्ञाताधर्मकथांग में चद्दर के रूप में इसका प्रयोग हुआ है।[280]

vi. **उत्तरीय**- इसका उपयोग दुपट्टे के रूप में होता था। इसे कंधे पर धारण करते थे।[281] ज्ञाताधर्मकथांग में इसे ओढ़ने का वस्त्र बताया है।[282]

vii. **वल्कल**- ये वस्त्र वृक्षों की छाल से बने होते थे। ज्ञाताधर्मकथांग में कच्छुल्ल नारद ने वल्कल वस्त्र धारण कर रखे थे।[283]

viii. **अंशुक (अंसुयं)**- ज्ञाताधर्मकथांग में धारिणी देवी ने आकाश और स्फटिकमणि के समान प्रभा वाले वस्त्रों को धारण किया, जिनके लिए 'अंसुयं' शब्द का प्रयोग किया गया है।[284]

ix. **तौलिया**- राजा श्रेणिक ने अपने शरीर को कोमल, सुगंधित और कषाय रंग से रंगे हुए वस्त्र (तौलिया) से पोंछा।[285] इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर प्रतिमा को पोंछने का भी उल्लेख मिलता है।[286] इससे स्पष्ट है कि उस समय शरीर आदि पोंछने के लिए तौलिया काम में लिया जाता था।

x. **साड़ी**- ज्ञाताधर्मकथांग में मल्ली भगवती की माता प्रभावती ने हंस के चिह्न वाली साड़ी पहन रखी थी, जिसमें उन्होंने मल्ली अरहंत द्वारा त्यागे गए आभरणों को ग्रहण किया।[287] इससे स्पष्ट होता है कि साड़ी पहनने का रिवाज था और संभवत: साड़ी के साथ पहने जाने वाले अन्य वस्त्रों का भी प्रचलन था।

xi. **अन्य वस्त्र**- ज्ञाताधर्मकथांग में एक स्थान पर ऐसे वस्त्र का उल्लेख है जो नासिका के नि:श्वास से उड़ जाता था और घोड़े के मुख से निकलने वाले फेन से भी अधिक कोमल और हल्का था।[288] सागरदत्त सार्थवाह ने सुकुमालिका के साथ द्रमक के विवाह के अवसर पर उसे हंसलक्षण वाले श्वेत वस्त्रों से सज्जित किया।[289] निर्ग्रन्थ श्रमणियाँ जिस वस्त्र को उपयोग में लेती थी उसे 'संघाटी' कहा जाता था।[290] भिखारी गली में पड़े चिथड़ों को पहनते थे, जिन्हें चीरिक कहते थे और कुछेक चमड़े का टुकड़ा पहनकर भी अपना जीवन निर्वाह करते थे, जिसे चर्मखंडिक कहा जाता था।[291] धारिणी देवी की शय्या मलक, नवत, कुशक्त, लिम्ब और सिंहकेसर नामक आस्तरणों से आच्छादित थी। उस पर लगी मसहरी का स्पर्श आजिनक (चर्म का वस्त्र), रूई, बूर नामक वनस्पति और मक्खन के समान नरम था।[292] कोयतक (रूई या ऊन से बना), मसग (चमड़े से मढ़ा) और हंसगर्भ नामक श्वेत वस्त्रों का भी प्रचलन था।[293] उपप्रधान (गद्दा), तकिया, आस्तरक (खोल)[294], भद्रासन[295] व जवनिका (पर्दा)[296] आदि का उल्लेख भी मिलता है। युद्ध में जाते समय राजा कवच धारण करते थे।[297]

आभूषण

शारीरिक सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए स्त्री और पुरुष दोनों ही आभूषणों का प्रयोग करते थे। मनुष्य के अलग-अलग अंग के लिए अलग-अलग आभूषण थे। ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित आभूषणों का विवरण इस प्रकार है-

1. **मुकुट**- मुकुट राजाओं के राजत्व का द्योतक था। ज्ञाताधर्मकथांग में राजा

श्रेणिक[298], मेघकुमार[299] व थावच्चापुत्र[300] द्वारा मुकुट धारण करने का उल्लेख मिलता है।

2. **चूड़ामणि**- चूड़ामणि प्राय: स्वर्ण की खोल में जटित पद्मराग (लालमणि) होती थी। इसे मुकुट, साफे और नंगे सिर वाले भी पहनते थे।[301] ज्ञाताधर्मकथांग में राजपुत्र मेघकुमार ने चूड़ामणि धारण की।[302]

3. **कर्णाभूषण**- ज्ञाताधर्मकथांग में कर्णाभूषण के रूप में अनेक स्थलों पर 'कुण्डल'[303] शब्द का ही प्रयोग हुआ है। अर्हन्नक द्वारा प्राप्त दिव्य कुण्डल राजा कुंभ ने मल्ली राजकुमारी को दिए।[304]

4. **कण्ठाभूषण**- ज्ञाताधर्मकथांग में गले में पहने जाने वाले विभिन्न आभूषणों का उल्लेख मिलता है, जिसका प्रसंगवार ब्यौरा इस प्रकार है-

   i. **माला**- ज्ञाताधर्मकथांग में चार प्रकार की मालाओं- सूत से गुंथी हुई, पुष्प से बेढ़ी हुई, बांस की सलाई से बनाई हुई और वस्तु के योग से परस्पर संघात की हुई, का उल्लेख मिलता है।[305] दोहदपूर्ति[306], राज्याभिषेक[307], दीक्षा महोत्सव[308] व स्वयंवर[309] आदि विशेष अवसरों पर माला पहनने-पहनाने का प्रचलन था।

   ii. **मुक्तावली**- राजपुत्र मेघकुमार ने गले में मुक्तावली पहनी।[310]

   iii. **रत्नावली**- रत्नावली नाना प्रकार के रत्न, सुवर्ण, मणि, मोती एवं माणिक्य से निर्मित माला को कहा गया है।[311] मेघकुमार ने रत्नावली धारण की।[312]

   iv. **एकावली**- अमरकोश में मोतियों की एक लड़ी की माला को एकावली की संज्ञा प्रदान की गई है।[313] ज्ञाताधर्मकथांग में एकावली का नामोल्लेख मात्र मिलता है।[314]

   v. **कनकावली**- सोने से बने हार को कनकावली कहा गया है। दीक्षा से पूर्व मेघकुमार को कनकावली धारण करवाई गई।[315]

   vi. **हार**- ज्ञाताधर्मकथांग में विभिन्न प्रकार के हारों का उल्लेख मिलता है। राजा श्रेणिक ने अठारह लड़ों के हार, नौ लड़ों के अर्द्धहार, तीन लड़ों के छोटे हार आदि धारण किए।[316] इसी प्रकार मेघकुमार को दीक्षा से पूर्व प्रालंब (कंठी) और पदा प्रलम्ब (पैरों तक लटकने वाला आभूषण) धारण करवाए गए।[317]

5. **कराभूषण**- ज्ञाताधर्मकथांग कालीन समाज में प्रचलित कराभूषणों का वर्णन इस प्रकार है-

   i. **अंगद-केयरू-बाजूबंद**- ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार इन्हें स्त्री-पुरुष दोनों पहनते थे। राजा श्रेणिक प्रतिदिन स्नानादि करके सभी आभूषणों को धारण करता था, उनमें यह भी एक था।[318] रानी धारिणी ने तैयार होकर उत्तम प्रकार के बाजूबंद धारण किए।[319] राजकुमार मेघ को भी दीक्षा से पूर्व सभी अलंकारों के साथ केयुर-अंगद को भी धारण करते हुए बतलाया गया है।[320] ये स्वर्ण, मणि और रत्नजड़ित होते थे।[321]

   ii. **कटक/तुटिक (कड़ा)**- ज्ञाताधर्मकथांग में स्वर्ण और मणियुक्त कड़ों का उल्लेख है।[322] राजघराने में इन्हें पहनने का प्रचलन अधिक था। विशेष प्रसंगों पर स्त्री-पुरुष दोनों सभी आभूषण पहनकर निकलते थे।[323]

   iii. **वीरवलय**- यह भी हाथों में पहना जाने वाला विशेष आभूषण था, जो संभवतः राजा आदि विशिष्ट लोगों द्वारा ही धारण किया जाता था। ज्ञाताधर्मकथांग में श्रेणिक द्वारा नाना भांति की मणियों, सुवर्ण और रत्नों से निर्मित महामूल्यवान, सुरचित और प्रशस्त वीरवलय धारण करने का उल्लेख मिलता है।[324]

   iv. **मुद्रिका**- ज्ञाताधर्मकथांग में स्त्री-पुरुष दोनों के द्वारा दसों अंगुलियों में मुद्रिका (अंगूठी) धारण करने का उल्लेख मिलता है।[325]

6. **कटि आभूषण**- ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित कटि आभूषण अग्रांकित हैं-

   i. **कटिसूत्र**- राजा श्रेणिक[326] और मेघकुमार[327] द्वारा कटिसूत्र अर्थात् कंदोरा धारण किए जाने का उल्लेख ज्ञाताधर्मकथांग में मिलता है।

   ii. **मेखला**- ज्ञाताधर्मकथांग की धारिणी रानी ने मणिजटित[328] और कच्छुल्ल नारद में मूंज[329] की मेखला यानी करधनी धारण कर रखी थी।

7. **पदाभूषण**- पैरों के आभूषण के रूप में ज्ञाताधर्मकथांग में एकमात्र नूपुर का उल्लेख हुआ है।[330] धारिणी रानी उत्तम वस्त्र धारणकर पैरों में उत्तम नूपुर सहित सभी अलंकार धारण कर दोहदपूर्ति के लिए गई।[331] स्वयंवर

में जाते समय द्रौपदी ने भी श्रेष्ठ नूपुर धारण कर रखे थे।[332]

पहनने के इन आभूषणों के अलावा सोने-चांदी के कलश[333], रत्न निर्मित मूल्यवान डिब्बियाँ[334], मूल्यवान सारभूत द्रव्य के रूप में हिरण्य, कनक, रत्न, मणि, मुक्ता, शंख, शिला, प्रवाल, लाल रत्न व मूंगा आदि का उल्लेख भी ज्ञाताधर्मकथांग में मिलता है।[335] इन द्रव्यों को रखने के लिए मंजूषा का उपयोग किया जाता था।[336]

ज्ञाताधर्मकथांग में सुवर्णकारों का उल्लेख हुआ है, जो सभी प्रकार के आभूषण बनाने में कुशल थे।[337] इससे स्पष्ट होता है कि उस समय सुवर्णकारों की श्रेणी होती थी, जिनसे आभूषण बनवाए जाते थे।

प्रसाधन- ज्ञाताधर्मकथांग में प्रसाधन सामग्री और उसके प्रयोग का वर्णन मिलता है। स्त्री और पुरुष दोनों ही प्रसाधन प्रिय थे। ज्ञाताधर्मकथांग में प्रसाधन-श्रृंगार से पूर्व मर्दन, उन्मर्दन, मज्जन और लेपन आदि का उल्लेख भी प्राप्त होता है-

i. **मर्दन (संबाधन)**- मर्दन का अर्थ मालिश करने से है। राजा श्रेणिक ने शतपाक तथा सहस्रपाक आदि श्रेष्ठ सुगंधित तेल और चार प्रकार के संबाधना (अस्थियों को सुखकारी, मांस को सुखकारी, त्वचा को सुखकारी एवं रोमों को सुखकारी) से मालिश करवाई।[338] इसी प्रकार एक भिखारी की मालिश करने का उल्लेख भी आया है।[339]

ii. **उन्मर्दन**- ज्ञाताधर्मकथांग में सुवासित गंध द्रव्य से शरीर पर उबटन करने का उल्लेख भी मिलता है।[340] इससे शरीर का मैल दूर होता है।

iii. **मज्जन**- मज्जन यानी स्नान करना। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि स्नान करने के लिए अनेक प्रकार के जल का प्रयोग होता था। स्नान के लिए शुभ जल, पुष्प मिश्रित जल, सुगंध मिश्रित जल, शुद्ध जल[341], उष्णोदक, गंधोदक, शीतोदक[342] प्रयुक्त होते थे। स्नान सामान्य तालाब आदि में जलक्रीड़ा करते हुए भी किया जाता था[343] और विशिष्ट स्नानागार, जो मनोहर जालियों, चित्रों, विचित्र मणियों और रत्नों के फर्श वाले थे, में भी शुभ या सुखजनक सुगंधित जल से उत्तम मांगलिक विधि से भी किए जाने का उल्लेख मिलता है।[344]

iv. **लेपन**- शरीर को सुगंधित एवं सौन्दर्यपूर्ण बनाने के लिए अनेक प्रकार के विशिष्ट द्रव्यों का उपयोग होता था। ज्ञाताधर्मकथांग में गोशीर्ष चन्दन व केसर आदि से लेपन करने का उल्लेख मिलता है।[345]

v. **शेखर**- ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि देवदत्ता गणिका के मस्तक पर पुष्पों का शेखर रचा गया अर्थात् जूड़ा बांधा गया।[346]

vi. **महावर**- यह पैरों को रंगने की एक प्रसाधन सामग्री है। इसे अलात भी कहते हैं। ज्ञाताधर्मकथांग में देवदत्ता गणिका के पैरों में महावर लगाने का उल्लेख आया है।[347]

vii. **पुष्पमाला**- ज्ञाताधर्मकथांग में प्रसाधन के लिए पुष्पमालाओं को धारण करने का उल्लेख एकाधिक स्थानों पर मिलता है।[348]

viii. **अंजन/काजल**- ज्ञाताधर्मकथांग में अंजन या काजल शब्द का उपमा के रूप में प्रयोग हुआ है।[349] इससे प्रतीत होता है कि उस समय अंजन का प्रचलन था।

ix. **कौतुक**- ज्ञाताधर्मकथांग में कौतुक करने का संकेत भी मिलता है। स्नान करने के पश्चात् बलिकर्म आदि करके स्त्री-पुरुष दोनों ही कौतुक (प्रायश्चित) करते थे।[350]

x. **दर्पण**- ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि जब द्रौपदी स्वयंवर में गई तो उसके साथ चलने वाली धाय के हाथ में एक दर्पण था, जो स्वाभाविक घर्षण से युक्त और तरूणजनों में उत्सुकता उत्पन्न करने वाला था और उसकी मूठ विचित्र मणिरत्नों से जटित थी।[351] इस प्रसंग से अनुमान लगाया जा सकता है कि लोग प्रसाधन से निखरे रूप को निहारने के लिए दर्पण काम में लेते थे।

xi. **अलंकार सभा**- ज्ञाताधर्मकथांग में शरीर-शृंगार हेतु नाई की दुकान -अलंकार सभा का वर्णन मिलता है, जहाँ हजामत बनवाना, नाखून कटवाना आदि प्रसाधन कार्य होते थे।[352]

प्राचीनकाल से लेकर आज तक अलंकार सभा प्रचलन में है, हालांकि आधुनिक युग में ये ब्यूटी पॉर्लर के रूप में सामने आ रहे हैं।

ज्ञाताधर्मकथांग में केवल शरीर की ही नहीं अपितु वातावरण की साज-सज्जा पर्यावरण शुद्धि के प्रति भी लोगों की पूर्ण जागरूकता देखी जाती है। कपूर, लौंग, गोशीर्ष-चंदन, सरस, रक्तवंदन, सुगंधित फूल, काले अगर, श्रेष्ठ कुन्दरूक, तुरूष्क (लोभान) आदि से बने धूप, सुगंधित पुष्प व श्रेष्ठ सुगंध के चूर्ण से वातावरण को सौरभयुक्त किया जाता था।[353]

इस प्रकार स्पष्ट है कि उस समय प्रसाधन की परम्परा थी और प्रसाधन का मुख्य उद्देश्य शरीर की कमनीयता एवं पर्यावरण शुद्धि में वृद्धि करना था।

मनोरंजन

मनोरंजन यानी मन का रंजन। ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित मनोरंजन के साधनों को दो भागों में बांटा जा सकता है- (i) क्रीड़ा या खेल (ii) उत्सव-महोत्सव।

ज्ञाताधर्मकथांग में मनोरंजन के इन दोनों रूपों के विविध प्रसंग आते हैं, जिनका संक्षिप्त निदर्शन इस प्रकार है-

I. **क्रीड़ा** - ज्ञाताधर्मकथांग में अधोलिखित क्रीड़ाओं के प्रसंग आते हैं-

जलक्रीड़ा

ज्ञाताधर्मकथांग में जलक्रीड़ा का उल्लेख एकाधिक स्थानों पर मिलता है। स्त्री और पुरुष दोनों इस क्रीड़ा द्वारा मनोरंजन करते थे।

धारिणी देवी अपने दोहद की चिन्ता में जलक्रीड़ा का परित्याग करती है।[354] भद्रा सार्थवाही अपने दोहद की पूर्ति हेतु पुष्करिणी में जलक्रीड़ा करती हुई अपने मनोरथ को पूर्ण करती है।[355] नन्दापुष्करिणी में राजगृह के लोग जलक्रीड़ा करते थे।[356]

वनक्रीड़ा

राजा एवं अन्य धनाढ्य व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ प्रकृति का आनन्द लेने एवं मनोरथों को पूर्ण करने के लिए वन/उद्यान में जाया करते थे।[357] सार्थवाह पुत्रों का देवदत्ता गणिका के साथ सुभूमिभाग में बने आलि नामक वृक्षों के गृहों, कदली गृहों, लता गृहों, आसन-गृहों, प्रेक्षण गृहों, मंडन गृहों, मोहन

(मैथुन) गृहों, सालवृक्षों के गृहों, जालीवाले गृहों और पुष्पगृहों में क्रीड़ा करने के प्रसंग वनक्रीड़ा के स्वरूप को अभिव्यक्त करते हैं।[358]

द्यूतक्रीड़ा

ज्ञाताधर्मकथांग में द्यूतक्रीड़ा में आसक्त रहने वाले विजयचोर[359] और दासचेटक चिलात[360] का उल्लेख मिलता है।

कन्दुकक्रीड़ा

प्राचीनकाल में कन्दुकक्रीड़ा का विशेष प्रचलन था, जो आज भी कायम है। (फुटबॉल दुनिया का सबसे ज्यादा लोकप्रिय खेल है, सर्वाधिक लोगों द्वारा खेला जाता है) इस क्रीड़ा में छोटे और बड़े दोनों प्रकार के कन्दुक (गेंद) प्रयोग में लाए जाते थे। ज्ञाताधर्मकथांग में आडोलिया (गेंद) और तेंदुसए (बड़ी गेंद, दड़ा) का उल्लेख मिलता है।[361] इसके अलावा बच्चे कौडियों और वर्तक (लाख के गोले) से भी खेला करते थे।[362] पोट्टिला दारिका सोने की गेंद से खेल रही थी।[363]

पर्वतारोहण क्रीड़ा

प्राचीन समय में लोग पर्वतारोहण के प्रेमी होते थे। तीर्थस्थलों का पर्वतों पर होना इस मनोरंजन की महत्ता का परिचायक है। ज्ञाताधर्मकथांग में धारिणी रानी अपनी दोहद पूर्ति के लिए वैभारगिरि की तलहटी में जाती है। वहाँ पर क्रीडांचल बने हुए थे।[364]

युद्ध क्रीड़ा

ज्ञाताधर्मकथांग में उत्सव-महोत्सव के अवसरों पर मल्लयुद्ध, मुष्टियुद्ध आदि क्रीड़ाओं का प्रदर्शन किए जाने का उल्लेख मिलता है।[365] मुष्टियुद्ध की तुलना वर्तमान में प्रचलित 'बॉक्सिंग' से की जा सकती है।

घुड़सवारी

घुड़दौड़ और घुड़सवारी भी मनोरंजन का एक साधन या प्रकार था। ज्ञाताधर्मकथांग में राजा जितशत्रु भटों-सुभटों के साथ घुड़सवारी के लिए निकलता है।[366] राजा कनककेतु कालिक द्वीप के अश्वों को मंगवाकर अश्वमर्दकों के द्वारा प्रशिक्षित एवं विनीत करवाता है।[367]

वेश्यागमन

ज्ञाताधर्मकथांग में वेश्या के स्थान पर गणिका शब्द आया है। उस समय

गणिकाएँ भी मनोरंजन का साधन थी। सार्थवाह पुत्र गणिका देवदत्ता के साथ विपुल काम-भोग भोगते हैं।[368] विजयचोर[369] और दासचेटक[378] वेश्यागमन करते हैं। कौमुदी भेरी की आवाज सुनकर कृष्णवासुदेव के दरबार में हजारों गणिकाएँ उपस्थित हो जाती हैं।[371]

नृत्य, गीत व नाटक

ज्ञाताधर्मकथांग में जन्मोत्सव, विवाहोत्सव व राज्याभिषेक आदि के अवसर पर अप्सराओं के नृत्य तथा गंधर्वों के सुमधुर गीत आयोजित किए जाने का उल्लेख मिलता है।[372] नंदमणिकार ने अपनी चित्रसभा में नृत्यकारों को लोगों के मनोरंजनार्थ वेतन पर रखा था।[373]

राजा श्रेणिक ने मेघकुमार के जन्मोत्सव एवं राज्याभिषेक के अवसर पर अनेक नाटक करवाए।[374] नंदमणिकार की चित्रसभा में भी नाटक करने वाले रखे हुए थे। ऊँचे बाँस पर चढ़कर खेल दिखाने वाले नट भी लोगों का मनोरंजन किया करते थे।[375]

अन्य

उपर्युक्त मनोरंजक क्रीड़ाओं या साधनों के अलावा विडंवक (विदूषक), कथाकार, पलवक (तैराक), वाद्य बजाने वाले, तालियाँ पीटने वाले[376], चारणमुनि व विद्याधर[377] व रासलीला दिखाने वाले अथवा भांडों[378] का उल्लेख भी ज्ञाताधर्मकथांग में मिलता है।

अलौकिक क्रीड़ाएँ

उपर्युक्त लौकिक क्रीड़ाओं के अलावा एकाधिक अलौकिक क्रीड़ाओं का उल्लेख भी ज्ञाताधर्मकथांग में मिलता है। कच्छुल्ल नामक नारद आकाशगमन, संचरणी (चलने की), आवरणी (ढंकने की), अवतरणी (नीचे उतरने की), उत्पतनी (ऊँचे उड़ने की), श्लेषणी (चिपट जाने की)- ऐसी विद्या कि जिसके प्रभाव से सामने वाला आदमी अपने आसने हिलने-डूलने न पावे। (अर्द्धमागधी कोश भाग 4, पृ. 292), संक्रामणी (दूसरे के शरीर में प्रवेश करने की)- एक प्रकार की विद्या जिससे रूपान्तर किया जा सके (अर्द्धमागधी कोश भाग 4, पृ. 577), अभियोगिनी (सोना-चांदी आदि बनाने की), प्रज्ञप्ति (परोक्ष वृत्तान्त को बतला देने की), गमनी (दुर्गम स्थान में भी जा सकने की) और स्तंभिनी (स्तब्ध कर देने की)- स्तंभन विद्या (अर्द्धमागधी कोश भाग 3, पृ. 92) आदि बहुत से अलौकिक विद्याओं का जानका था।[379] पूर्वसंगतिक देव अवस्वापिनी

विद्या द्वारा द्रौपदी को नींद में सुलाकर उसे अपहृत कर अमरकंका ले गया।[380]

II. **उत्सव/महोत्सव** - उत्सवों से जीवन की एकरसता विनष्ट होती है और आंतरिक आनन्दानुभूति से नवोल्लास का संचार होने से जीवन में नवीनता आती है। ज्ञाताधर्मकथांग में जन्मोत्सव, विवाहोत्सव व पंचकल्याणक महोत्सव आदि एकाधिक महोत्सवों का उल्लेख हुआ है, जिनका निदर्शन दो भागों- (i) धार्मिक उत्सव और (ii) सामाजिक उत्सव में बांटकर करना अधिक युक्तिसंगत होगा।

(i) **धार्मिक उत्सव**

ज्ञाताधर्मकथांग में अग्रांकित धार्मिक उत्सवों का उल्लेख मिलता है-

गर्भकल्याणक महोत्सव

ज्ञाताधर्मकथांग में गर्भ महोत्सव का उल्लेख नहीं मिलता है लेकिन सभी तीर्थंकरों के पंचकल्याणक महोत्सव एक समान होने के कारण तीर्थंकर मल्ली का गर्भकल्याणक जैन पुराणों में वर्णित ऋषभदेव के गर्भकल्याणक के समान माना जा सकता है।

पद्मपुराण में कहा गया है कि भगवान ऋषभ के गर्भावस्था में आने पर माता मरुदेवी की सेवा में देवकन्याएँ तत्पर रहती थी। वे उनसे आज्ञा प्राप्त करना, गुणगान करना, गीत गाना, पाँव दबाना, ताम्बूल देना, चंवर डुलाना, वस्त्राभूषण देना, शय्या बिछाना व लेप करना आदि कार्य इन्द्र के आदेश से सम्पन्न करती थी।[381]

जन्मकल्याणक महोत्सव

देवों ने मल्ली का जन्माभिषेक करने नन्दीश्वर द्वीप में जाकर (अट्ठाई) महोत्सव किया।[382]

दीक्षाकल्याणक महोत्सव

ज्ञाताधर्मकथांग में भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों द्वारा मल्ली का दीक्षा महोत्सव करने का उल्लेख मिलता है।[383]

केवलज्ञान कल्याणक महोत्सव

भगवान मल्ली को जब केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हुआ उस समय सब देवों के आसन चलायमान हुए। वे सब देव वहाँ पर आए, सबने धर्मोपदेश श्रवण किया और अपने-अपने स्थानों पर लौट गए।[384]

निर्वाण कल्याणक महोत्सव

मल्ली भगवान के निर्वाण प्राप्ति पर इन्द्रादि देवता उपस्थित होकर निर्वाण कल्याणक महोत्सव सम्पन्न करते हैं- जिसमें अग्नि संस्कार करने और अस्थियाँ आदि ग्रहण करना प्रमुख है।[385]

अष्टाह्निक महोत्सव

तीर्थंकरों के प्रत्येक कल्याणक महोत्सव के बाद देवताओं द्वारा नन्दीश्वर द्वीप में जाकर अष्टाह्निक महोत्सव मनाने का उल्लेख ज्ञाताधर्मकथांग में मिलता है।[386]

(ii) सामाजिक उत्सव

आधुनिक सभ्य समाज में जिस प्रकार सामाजिक उत्सवों का आयोजन होता है, उसी प्रकार प्राचीनकाल में भी सामाजिक उत्सवों का महत्वपूर्ण स्थान था। ज्ञाताधर्मकथांग में कुछेक सामाजिक उत्सवों का उल्लेख मिलता है, जिनका दिग्दर्शन प्रस्तुत है-

जन्मोत्सव

प्राचीन भारत में पुत्र जन्म का बड़ा उत्सव मनाया जाता था, क्योंकि साधारण से साधारण व्यक्ति को पुत्र जन्म से प्रसन्नता उत्पन्न होती है। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख है कि मेघकुमार के जन्म का समाचार अंग परिचारिकाओं ने राजा श्रेणिक को दिया तब उसने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्हें मधुर वचनों, पुष्प, गंध, माल्य और अलंकार प्रदान किए और अपने सिर के मुकुट को छोड़कर सभी अलंकार उन्हें भेंट स्वरूप दे दिए। राजा ने उन्हें दासत्व से मुक्त कर दिया। राजा ने सभी कैदियों को मुक्त करने का आदेश दिया। नगर को पुष्प और मालाओं से सज्जित किया गया। वस्तुओं के दाम घटा दिए गए और 18 श्रेणी-प्रश्रेणी को दस दिन तक स्थितिपतिका उत्सव मनाने का आदेश दिया। नगर को शुल्क रहित और कर रहित करने की घोषणा कर दी गई और सर्वत्र मृदंगों की ध्वनि के साथ अनेक स्थानों पर गणिकाओं आदि के सुन्दर नृत्य होने लगे।[387] पुत्र जन्मोत्सव की खुशी में विशाल भोज का आयोजन भी किया जाता था।[388]

जन्मगांठ

ज्ञाताधर्मकथांग में राजकुमारी मल्ली की जन्मगांठ मनाने का उल्लेख मिलता है। उस समय जन्मदिन मनाने को संवत्सवर प्रतिलेखन उत्सव कहा जाता था।[389]

विवाहोत्सव

सामाजिक व्यवस्था को सुव्यवस्थित रखने के लिए विवाह अनिवार्य माना जाता है। ज्ञाताधर्मकथांग में विवाहोत्सवों की भव्यता का विवरण एकाधिक स्थानों पर मिलता है। सुहागिन स्त्रियों द्वारा किए गए मंगलगान और दधि-अक्षत आदि मांगलिक पदार्थों के प्रयोग द्वारा मेघकुमार का पाणिग्रहण करवाया गया।[390] विवाहोत्सव के अवसर पर अभ्यंतर एवं स्थानीय पुरुषों का विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम और पुष्प, वस्त्र, गंध, माला और अलंकार से सत्कार और सम्मान किया जाता था।[391]

राज्याभिषेक उत्सव

ज्ञाताधर्मकथांग में मेघकुमार का राज्याभिषेक हर्षोल्लास एवं सर्वसमृद्धि से करने का उल्लेख मिलता है।[392]

दीक्षा महोत्सव

दीक्षा से पूर्व उत्सव आयोजित करने की परम्परा थी और दीक्षा को महोत्सव माना जाता था। मेघकुमार[393], थावच्चापुत्र[394] और राजपुत्र कण्डरीक[395], मल्ली अरहन्त (1/8/185), पाण्डवों का (1/16/219) व दूसरे श्रुतस्कन्ध में लगभग सभी दीक्षा महोत्सव का उल्लेख मिलता है।

इन्द्र महोत्सव

ज्ञाताधर्मकथांग में इस उत्सव का नामोल्लेख मात्र मिलता है।[396] हरिवंशपुराण में इसे माघ कृष्णा द्वादशी को मनाने का उल्लेख हुआ है। इस उत्सव में इन्द्र के प्रतीक के रूप में इन्द्र ध्वज बनाया जाता था, जिसे देखने दूर-दूर से लोग आते थे। नगर की स्त्रियाँ भी इन्द्रध्वज की पूजा-वंदना के लिए वाहनों से जाती थी।[397]

कार्तिकेय महोत्सव

कार्तिक पूर्णमासी के दिन मनाया जाने वाला त्यौहार कार्तिकेय महोत्सव कहलाता है। ज्ञाताधर्मकथांग में इसका नामोल्लेख मात्र ही आया है।[398] इसे कौमुदी पर्व[399] भी कहा जाता है।

मदन त्रयोदशी

ज्ञाताधर्मकथांग में मदनोत्सव का विशेष वर्णन तो नहीं मिलता लेकिन विजयचोर के प्रसंग में इस उत्सव का नामोल्लेख मिलता है।[400]

मज्जन महोत्सव

ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार यह भी एक उत्सव था, जिसे चातुर्मासिक स्नान (जलक्रीड़ा) का उत्सव कहा जाता था। इस उत्सव पर रूक्मिराजा ने राजमार्ग के मध्य में जल और थल में उत्पन्न होने वाले पांच वर्णों के फूल लाने और श्रीदामकाण्ड (सुशोभित और सुरभित मालाओं का समूह) छत में लटकाने का आदेश अपने कौटुम्बिक पुरुषों को दिया।[401] इसी प्रकार से मल्ली के स्नान महोत्सव का संकेत भी मिलता है।[402]

कल्याणकरण महोत्सव

ज्ञाताधर्मकथांग में प्रसंग आता है कि जब द्रौपदी पांडवों से विवाह कर अपने पिता के घर से विदा होकर पाण्डुराजा के घर पहुंची तब पाण्डुराजा ने हस्तिनापुर में पाँच पाण्डवों और द्रौपदी का कल्याणकरण महोत्सव (मांगलिक क्रिया) का आयोजन किया।[403] यह उत्सव संभवतया शादी होने के पश्चात् जब कन्या अपने ससुराल जाती थी तब ससुराल वाले बहु आने की खुशी में करते थे, जिसे आजकल के 'बहुभोज' या 'रिसेप्शन' के समकक्ष कहा जा सकता है।

अन्य उत्सव

सामाजिक उत्सवों में इन्द्र पूजा, स्कन्द पूजा, रूद्र, शिव, वैश्रवण, नाग, यक्ष, भूत, नदी, तालाब, वृक्ष, चैत्य व पर्वत आदि की पूजा का भी विशिष्ट स्थान रहा है।[404]

लोक विश्वास

ज्ञाताधर्मकथांग में विभिन्न लोक विश्वासों का उल्लेख मिलता है, जिनका विश्लेषण-संश्लेषण अग्रांकित बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है-

शुभाशुभ शकुन

ज्ञाताधर्मकथांग में भद्रासार्थवाही ने आर्द्र वस्त्रों से युक्त होकर नाग आदि देवताओं की पूजा अर्चना करने को भी शकुन माना है।[405] विशेष शुभ अवसरों पर वीणा[406], भेरी[407] व शंख[408] आदि की ध्वनि को शुभ शकुन के रूप में माना गया है। 14 महास्वप्नों को भी शुभ शकुन माना गया है तथा स्वप्न दर्शन के बाद जागरण को महत्व दिया गया।[409] बारहवीं बार समुद्र यात्रा करने को अशुभ माना गया है।[410]

देव आराधना

मनोरथ की सिद्धि के लिए मनौती मानने की परम्परा रही है। नाग व शिव आदि देवायतनों पर जाकर पूजा की जाती थी।[411] नागधर के संदर्भ में विश्वास था कि यहाँ जो भी कामना की जाती है, वह पूरी होती है।[412]

वृक्ष-विश्वास

चैत्यवृक्ष, शाल, पीपल व अशोक के वृक्ष ज्ञान के प्रतीक व साधना के योग्य माने जाते थे। अरिष्टनेमि बारवती नगरी में अशोक वृक्ष के नीचे ठहरे।[413] दीक्षार्थ जाते समय मल्ली की शिविका को भी अशोक वृक्ष के नीचे ठहराया गया।[414] मल्ली भगवती को अशोक वृक्ष के नीचे केवलज्ञान हुआ।[415]

दिशाओं से जुड़े विश्वास

प्रत्येक दिशा-विदिशा का अपना विशेष महत्व होता है। ज्ञाताधर्मकथांग में विविध प्रसंगों के साथ विविध दिशाओं का चयन भी किया गया है। दिशाओं से जुड़े कुछेक प्रसंग इस प्रकार हैं- चैत्य आदि का निर्माण नगर के बाहर ईशानकोण में किया गया।[416] देव भी वैक्रिय समुद्घात के लिए ईशानकोण का चयन करते हैं।[417] उत्तर वैक्रिय की विकुर्वणा करने शैलक यक्ष भी ईशानकोण में गया।[418] ईशानकोण में निर्मित नागगृह सबकी मनोकामना पूर्ण करने वाला था।[419] प्रव्रज्या का संकल्प और स्वीकरण भी ईशानकोण में होता हुआ देखा जाता है।[420] कुल मिलाकर ईशान कोण का महत्व जैनागमों में अधिक माना है जैनेत्तर आगमों में नहीं। नंदमणिकार ने बावड़ी आदि का निर्माण वास्तुशास्त्रियों द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर करवाया।[421]

विशिष्ट विचारों के पुद्गलों के आकर्षण के लिए पूर्व दिशा का आलंबन लिए जाने का उल्लेख ज्ञाताधर्मकथांग में मिलता है। धारिणी देवी के दोहदपूर्ति सम्बन्धी उपाय की खोज के लिए चिन्तन हेतु राजा श्रेणिक पूर्वाभिमुख बैठा। उपस्थानशाला में श्रेणिक ने[422], शिविकारूढ मेघ ने[423], अनशन के लिए भी मेघ ने पूर्वाभिमुखकता[424] स्वीकार की। राजा रूक्मी पुष्पमण्डप में[425] और मल्ली सिंहासन पर[426] पूर्वाभिमुख बैठे।

लक्षण और व्यंजन से जुड़े विश्वास

ज्ञाताधर्मकथांग में लक्षण और व्यंजन से जुड़े विश्वास भी देखे जाते हैं। जो शरीर के साथ उत्पन्न हो वे लक्षण और जो बाद में उत्पन्न हो वे व्यंजन

कहलाते हैं। शरीर की शुभ-अशुभ स्थिति को शरीरगत स्वस्तिक, चक्र आदि चिह्न रूप लक्षणों और मष, तिल आदि व्यंजनों से भी जाना जाता है। शरीर के मान-उन्मान, प्रमाण आदि भी लक्षण है। धारिणी के शरीर के लक्षण, व्यंजन के गुणों से युक्त व मान-उन्मान, प्रमाण से युक्त बताया गया है।[427] श्रेणिकपुत्र अभय को भी उक्त लक्षणों से युक्त बताया गया है।[428]

मंगल संबंधी विश्वास

मंगल के निमित्त अष्टमंगल प्रचलित थे। स्वस्तिक, श्रीवत्स, नंदावर्त्त, वर्धमान, भद्रासन, कलश, मत्स्य व दर्पण अष्टमंगल माने गए हैं। दीक्षार्थ जाते हुए मेघ की शिविका से आगे इन अष्टमंगलों को रखा गया।[429] स्वप्न पाठकों के लिए राजा श्रेणिक के द्वारा श्वेत वस्त्राच्छादित सरसों के मांगलिक उपचार से शांतिकर्म किए गए और आठ भद्रासन मंगल के रूप में लगाए गए।[430] धारिणी देवी और प्रभावती देवी द्वारा क्रमशः मेघ[431] और मल्ली[432] के बालों को श्वेत हंस चिह्न युक्त वस्त्र में ग्रहण करना भी मंगल का सूचक माना गया है। अर्हन्नक आदि सायांत्रिकों ने भी मंगल के लिए नौका में पुष्पबलि, सरस रक्तचंदन का छापा लगाया, धूप किया, समुद्र की वायु की पूजा की, श्वेत पताकाएँ फहराई, वाद्यों की मधुर ध्वनि की, इस प्रकार विजयकारक सभी शकुन हो जाने पर उन्होंने यात्रा प्रारम्भ की।[433]

ग्रह-नक्षत्र से जुड़े विश्वास

समस्त ग्रहों का उच्च स्थान पर होना, सभी दिशाओं का सौम्य-उत्पात से रहित, अंधकार से रहित, विशुद्ध-धूल आदि से रहित व अश्विनी नक्षत्र का चन्द्र के साथ योग होना ग्रह नक्षत्र की दृष्टि से शुभ माना गया है। ऐसे समय में ही मल्ली का जीव देवभव त्यागकर प्रभावती देवी के गर्भ में अवतरित हुआ। उस समय काक आदि पक्षियों के शब्द रूप शकुन भी विजयकारक थे। सुगन्धित, धनधान्य-युक्त वातावरण हृदय को शांत व मन को प्रफुल्लित करने वाला था। दक्षिणावर्त होकर बहती हवा सुरभित, मंद और शीतल होने से अनुकूल मानी गई है। ऐसे शुभ संकेतों के साथ आने वाला जीव निश्चित रूप से अति भाग्यशाली होगा, ऐसा लोकविश्वास था।[434]

तंत्र-मंत्र से जुड़े विश्वास

ज्ञाताधर्मकथांग में एकाधिक ऐसे प्रसंग मिलते हैं, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि उस समय के लोगों का तंत्र-मंत्र में विश्वास था। जब

तैतलिपुत्र को पोट्टिला अप्रिय लगने लगी तब पोट्टिला ने सुव्रता आर्या से कहा कि आपके पास कोई चूर्णयोग (स्तंभन आदि करने वाला), मंत्र योग, कामणयोग, हृदयोड्डायन (हृदय को हरने वाला), काया का आकर्षण करने वाला, आभियोगिक (पराभव करने वाला), वशीकरण, कौतुक कर्म, सौभाग्य प्रदान करने वाला स्नान, भूतिकर्म (मंत्रित की हुई भभूत का प्रयोग), कोई सेल, कंद, छाल, वेल, शिलिका (एक प्रकार की घास), गोली, औषध या भेषज आदि हो जिससे मैं तैतलिपुत्र को फिर से प्राप्त कर सकूं।[435] इसी प्रकार की बात सुकुमालिका दारिका ने सागरदारक को पुनः प्राप्त करने के लिए गोपालिका नामक बहुश्रुत आर्या से कही।[436]

अन्य विश्वास

ज्ञाताधर्मकथांग में उपुर्यक्त लौकिक विश्वासों के अलावा बलिकर्म (स्नान आदि के पश्चात् कुलदेवता की पूजा करना), कौतुक (काजल का टीका आदि लगाना) और मंगल (सरसों, दही, अक्षत और दूर्वा आदि का उपयोग) आदि के प्रसंग भी दृष्टिगोचर होते हैं।

सामान्यतया ये सभी क्रियाएँ स्नान के बाद की जाती थीं। राजा श्रेणिक स्वप्न पाठकों को बुलाने से पूर्व[437], स्वप्न पाठक अपने घर से निकलने से पूर्व[438], दोहदपूर्ति के लिए जाती हुई धारिणी रानी[439], धन्य सार्थवाह जेल से मुक्त होने[440] और स्थविर के दर्शनार्थ जाते हुए[441], सार्थवाह पुत्र गणिका के यहाँ जाने से पूर्व[442] और मल्ली राजकुमारी छहों राजाओं को सबक सिखाने से पूर्व ये सभी क्रियाएँ करती हैं।[443] इसी प्रकार भोजन से पूर्व राजा जितशत्रु[444], दीक्षा के लिए जाते हुए पोट्टिला[445], राजसभा में जाते हुए तैतलिपुत्र[446], द्रौपदी के पास जाने से पूर्व पद्मनाभ[447], दिग्भ्रान्त होने पर नौकावणिक[448] एवं चोरी के लिए जाने से पूर्व चिलात चोर[449] द्वारा भी इन क्रियाओं को करने का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार भुजा पर त्रुटित पहनने के पीछे भी दृष्टिदोष के निवारण का विश्वास था।[450]

सामाजिक कुरीतियाँ और बुराइयाँ

आगमकालीन समाज में जहाँ अनेक अच्छाइयाँ थीं वहीं अनेक कुरीतियाँ भी विद्यमान थीं, जो समाज में विकृति उत्पन्न कर रही थी। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी कुरीतियों का उल्लेख यत्र-तत्र देखने को मिलता है, जो इस प्रकार है-

- **बहुपत्नीवाद**- समाज में एक पुरुष द्वारा पत्नी रूप में अनेक स्त्रियों को रखने की कुरीति प्रचलित थी। राजा श्रेणिक[451], मेघकुमार[452], थावच्चापुत्र[453], श्रीकृष्ण[454] व पद्मनाथ राजा[455] आदि प्रत्येक के एक से अधिक पत्नियाँ थीं।
- **वेश्यावृत्ति**- उस समय समाज में वेश्यावृत्ति प्रचलित थी। वेश्या को गणिका कहा जाता था। देवदत्ता गणिका चौंसठ कलाओं में निष्णात थी[456], ऐसा उल्लेख मिलता है।
- **दासप्रथा**[457]- उस समय दासप्रथा का प्रचलन बहुत ज्यादा था। राजाओं के राज में अनेक प्रकार के दास-दासी रहते थे और इनके अलग-अलग कार्य होते थे।[458] राजा को शुभ सूचना देने वाले दासों को दासत्व से मुक्त कर दिया जाता था।[459] मेघकुमार के जन्म की सूचना लेकर जब दासियाँ श्रेणिक के पास पहुँची तो राजा ने उन्हें अपना मुकुट छोड़कर शेष सभी अलंकार भेंट किए और दासत्व से मुक्त कर दिया।[460]
- **दहेज प्रथा**- राजकन्याओं व श्रेष्ठी कन्याओं के विवाह में घोड़े, हाथी व धन आदि दहेज में दिए जाते थे।[461] द्रुपद राजा ने द्रौपदी को बहुत-सा दहेज दिया जो सात पीढ़ियों तक खत्म नहीं होने वाला था।[462]
- **तंत्र-मंत्र-ढोंग**[463] **तथा आडम्बर**[464]- समाज पर तंत्र-मंत्र तथा ढोंग आडम्बर का प्रभाव था।[465] लोग स्वप्न और उसके फलों पर विश्वास करते थे।[466] शकुन-अपशकुन की सत्यता पर विश्वास के प्रसंग भी प्राप्त होते हैं।[467] भद्रा सार्थवाही को पुत्र प्राप्ति के लिए अनेक देवी-देवताओं के पास मनौती मांगते देखा जाता है[468] और उसके लिए वह अनेक प्रकार का आडम्बर करती है।[469]
- **अपहरण**[470]- आलोच्य ग्रन्थ में अपहरण के भी प्रसंग मिलते हैं। अपहृता छोटे बच्चों तथा कन्याओं का अपहरण कर दूर भगा ले जाते थे। उनके गहने/अलंकार छीन लेते थे और उन्हें प्राणरहित तक भी कर देते थे।
- **चोरी-लूट**- ज्ञाताधर्मकथांग में चोर, डाकू व तस्कर आदि का उल्लेख मिलता है।[471] पाँच-पाँच सौ चोर एक साथ रहते थे। चोरों के रहने के स्थान का चोरपल्ली कहा है।[472] विजय चोर सार्थवाह पुत्र देवदत्त के सभी गहने लूट लेता है[473] और चिलात चोर आदि धन्य सार्थवाह का घर लूट

लेते हैं।[474]

- **निर्धनता एवं बेकारी भिक्षावृत्ति**- ज्ञाताधर्मकथांग के कुछेक संदर्भों से समाज में व्याप्त निर्धनता का स्पष्ट आभास होता है। निर्धनता की मार से मलिन, गंदे, मैले-कुचैले चीथड़े पहने हुए एवं हाथ में सिकारे एवं घड़े का टुकड़ा लिए हुए एक भिखारी का उल्लेख मिलता है।[475] लोग याचकों को दान देते थे और दानशालाएँ खुलवाते थे, जहाँ उन्हें भोजनादि दिए जाते थे।[476]
- **मद्यपान**- अनेक प्रसंगों में मद्यपान का प्रचलन सूचित होता है। सुरा, मद्य, सीधु और प्रसन्ना आदि नाना प्रकार के मद्यों का उल्लेख है।[477] मदन त्रयोदशी आदि अनेक उत्सवों पर लोग मद्यपान करते थे।[478] द्रौपदी के स्वयंवर में आए राजाओं के लिए भोजन व्यवस्था के साथ-साथ मद्यपान की व्यवस्था का भी उल्लेख मिलता है।[479] धन्य सार्थवाह का चिलात दास चेटक भी मदिरापान में आसक्त रहता था।[480] चिल्लात चोर अपने अन्य चोर साथियों के साथ बहुत अधिक मदिरा का सेवन करता था।[481]
- **द्यूत**[482]- नगरों में द्यूत क्रीड़ा अर्थात् जुआ खेला जाता था। दास चेटक[483] और चिलात चोर[484] जुआ खेलने में आसक्त हो गए थे।
- **अज्ञानता एवं अभिमान**- उस समय समाज में अज्ञानता एवं उसके कारण दंभ विद्यमान था। राजा कनकरथ अपनी सत्ता में इतना अधिक आसक्त था कि उसकी सत्ता कोई छीन न ले इसलिए वह अपने सभी पुत्रों को उत्पन्न होते ही अवयवविकल (विकलांग) कर देता था। यह करनकरथ राजा की अज्ञानता व अभिमान ही था।[485] शायद वह नहीं जानता था कि इस संसार में कोई शाश्वत रहने वाला नहीं है, सभी को एक दिन यहाँ से जाना है।
- **मांस भक्षण-परस्त्रीगमन**- उस समय समाज में मांस को बहुत शौक से खाया जाता था। भले-बुरे सभी लोग समय-समय पर मांस भक्षण करते थे। विशेष उत्सवों एवं प्रसंगों पर इसका प्रचलन अधिक देखा जाता है।[486] धन्य सार्थवाह और उसके पाँचों पुत्र मृत सुंसुमा का मांस खाकर अपने जीवन की रक्षा करते हैं।[487] चोर आदि व्यभिचारी पुरुष परस्त्रीगमन भी करते थे।[488]
- **झूठ-छल-कपट एवं छद्मवेश**- समाज में झूठ बोलने वाले लोग भी

थे। झूठ बोलकर अपना प्रभाव जमाने की कोशिश करते थे। विजय चोर दूसरों को ठगने, धोखा देने, माया/कपट करने, तौल-नाप को कम-ज्यादा करने और वेष और भाषा को बदलने में अति निपुण था।[489] महाबल कपटपूर्ण तपस्या करने के कारण ही स्त्री गोत्र का बंध करते हैं।[490] जो लोग बालघातक, विश्वासघातक, जुआरी, खण्डरक्षक, मनुष्यों के हाथ-पैर आदि अवयवों को छेदन-भेदन करते थे उन लोगों को चोर सेनापति विजय शरण देता था अर्थात् प्रोत्साहित करता था।[491] ज्ञाताधर्मकथांग से यह भी ज्ञात होता है कि चोर विद्याएँ प्रचलित थी और सिखाई भी जाती थी।[492]

- **अन्याय-अत्याचार**- उस समय समाज में अन्याय-अत्याचार आदि भी खूब प्रचलन में थे। अनेक प्रकार के अत्याचारों का बोलबाला था। अत्याचारी लोग सेंध लगाते, खात खोदते, ऋण लेने के बाद पुनः न लौटाते, लोगों के साथ विश्वासघात करते एवं अवयव विच्छेद और पशुघात करने में नहीं सकुचाते थे।[493]

इस प्रकार उस समय समाज में अनेक सामाजिक विकृतियाँ थी।

वर्ण व्यवस्था

जैन पुराणों से स्पष्ट होता है कि आदिकाल में वर्ण व्यवस्था नहीं थी। पद्मपुराण[494] और हरिवंशपुराण[495] में वर्णित है कि ऋषभदेव ने सुख-समृद्धि के लिए समाज में सुव्यवस्था लाने की चेष्टा की थी और इस व्यवस्था के फलस्वरूप क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र- ये तीन वर्ण उत्पन्न हुए। ऋषभदेव ने जिन पुरुषों को विपत्तिग्रस्त मनुष्यों के रक्षार्थ नियुक्त किया, वे अपने गुणों के कारण लोक में 'क्षत्रिय' नाम से प्रसिद्ध हुए। जिनको वाणिज्य, खेती एवं पशुपालन आदि के व्यवसाय में लगाया गया था, वे लोक में 'वैश्य' कहलाए। जो नीच कर्म करते थे और शास्त्र से दूर भागते थे, उन्हें 'शूद्र' की संज्ञा प्रदान की गई।

प्रज्ञापना सूत्र में आर्यों की नौ जातियाँ बताई गई हैं- क्षेत्र आर्य, जाति आर्य, कुल आर्य, कर्म आर्य, शिल्पार्य, भाषार्य, दर्शनार्य और चारित्रार्य[496]

जैन आगमों में वर्णों का उल्लेख अवश्य हुआ है लेकिन उन वर्णों का व्यवस्थागत उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। इनमें बंभण (माहण), खत्तिय, वाइस्स

और सुद्ध नाम के चार वर्णों का उल्लेख मिलता है। ज्ञाताधर्मकथांग के संदर्भ में इनका दिग्दर्शन इस प्रकार है-

ब्राह्मण

जैन आगमों में ब्राह्मण के लिए 'माहण' शब्द का प्रयोग हुआ है। ज्ञाताधर्मकथांग में एकाधिक बार 'माहण'[497] शब्द प्रयुक्त हुआ है।

'माहण' शब्द का अर्थ माहन, ब्राह्मण, हिंसा से निवृत्त, अहिंसक-मुनि, साधु, ऋषि, श्रावक, जैन उपासक से है।[498]

ब्राह्मण का कर्म

ब्राह्मण वेद तथा अन्य ब्राह्मणशास्त्रों (शिक्षा, व्याकरण, निरूक्त, छंद, ज्योतिष, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र आदि) में प्रवीण थे।[499] राजा श्रेणिक ने अष्टांग महानिमित्त (ज्योतिष के सूत्र और अर्थ के पाठक) तथा कुशल स्वप्न पाठकों को धारिणी के स्वप्नफल बताने के लिए आमंत्रित किया[500] और उन्हें प्रीतिदान देकर ससम्मान विदा किया।[501] यात्रा प्रारंभ करने से पूर्व भी ब्राह्मणों से तिथि, करण, नक्षत्र और मुहूर्त पूछा जाता था।[502]

क्षत्रिय

जैन आगमों में क्षत्रिय के लिए 'खत्तिए' शब्द का प्रयोग हुआ है।[503]

क्षत्रिय का कर्म

प्राणियों की रक्षा करना, शस्त्र द्वारा आजीविका करना, सज्जनों का उपकार करना, दीनों का उपकार करना और युद्ध से विमुख से नहीं होना- ये क्षत्रियों के कर्म हैं।[504] ज्ञाताधर्मकथांग में कच्छुल्ल नारद द्वारा द्रौपदी का अपहरण करके पद्मनाथ राजा के पास पहुँचा देने पर द्रौपदी की रक्षा कर पुनः लाने के लिए कृष्ण महाराज ने क्षत्रिय धर्म का पालन करते हुए पद्मनाथ राजा से युद्ध किया।[505]

वैश्य

ज्ञाताधर्मकथांग में वैश्यों के लिए सार्थवाह, श्रेष्ठी और गाथापति शब्दों का प्रयोग बहुलता से हुआ है।[506]

वैश्यों का कर्म

ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार सार्थवाह व्यापारार्थ एक नगर से दूसरे नगर तक तो जाते ही थे, लेकिन कई बार अर्थात् सामुद्रिक यात्रा भी करते थे।[507] धन्य सार्थवाह की पुत्रवधू रोहिणी द्वारा चावलों की खेती करवाने का उल्लेख भी

मिलता है।[508] ये समाज सेवा में भी बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेते थे। नन्दमणियार श्रेष्ठी ने बहुत-सा धन व्यय करके पुष्करिणी, वनखण्डों, चित्रसभा, महानसशाला, चिकित्सा केन्द्र और अलंकार सभा का निर्माण करवाया, इनमें अनेक बेरोजगारों को रोजगार मिला।[509]

शूद्र और उनका कर्म

तीन वर्णों और भिक्षुओं की सेवा शुश्रूषा करना एवं उनके आश्रय से आजीविका चलाना, बढ़ईगिरी आदि कार्य करना, नृत्य गान आदि करना एवं शिल्पकर्म ही इनके मुख्य कार्य हैं।[510]

ज्ञाताधर्मकथांग में कुंभकार आदि अट्ठारह जातियाँ, नट, नर्तक, जल्ल, मल्ल, मौष्टिक, विंडवक, कथाकार, प्लवक, नृत्यकर्ता, चित्रपट दिखाने वाले, तूण-वीणा बजाने वाले, तालियाँ पीटने वाले, तालाचार[511], प्रेक्षणकारि, पेषणकारिणी[512], नापित[513], मयूर पोषक[514], खिवैया (नौका चलाने वाले)[515], सुवर्णकार[516], चित्रकार[517], कुब्जा आदि दासियाँ[518], वास्तुशास्त्र (शिल्प) के ज्ञाता[519], करोटिका (कावड़ उठाने वाले), घसियारे, लकड़हारे[520] आदि शूद्र कर्म वाली जातियों का उल्लेख मिलता है।

आश्रम व्यवस्था

वैदिक परम्परानुसार जैन आगमों में आश्रम व्यवस्था का उल्लेख तो नहीं मिलता लेकिन प्रकारान्तर से इन आश्रमों का महत्व जीवन के विराम स्थल तक उत्तरोत्तर अधिक विशुद्धि प्राप्त करने के रूप में परिलक्षित हो ही जाता है। ज्ञाताधर्मकथांग के विशेष संदर्भ में आश्रम व्यवस्था का निदर्शन इस प्रकार है-

ब्रह्मचर्य आश्रम

इस आश्रम में ज्ञान की उपासना की जाती है। ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार आठ वर्ष की अवस्था में राजकुमारों को जीवनोपयोगी कलाएँ सीखने के लिए आचार्य के पास भेजा जाता था।[521] आचार्य लेखन, गणित, अर्थ संबंधी ज्ञान, अन्नपान विधि, पशु-पक्षियों संबंधी ज्ञान, ज्योतिष, अस्त्र-शस्त्र का ज्ञान, युद्ध, व्यूह रचना आदि के साथ-साथ ललित कलाओं का ज्ञान अपने शिष्य को करवाते थे।[522]

गृहस्थाश्रम

मनुस्मृति में सभी आश्रमों में इस आश्रम को श्रेष्ठ कहा गया है क्योंकि

व्यक्ति यहाँ तीनों आश्रमों का पालनकर्ता होता है।[523] गृहस्थाश्रम में प्रवेश का प्रथम सोपान विवाह है। ज्ञाताधर्मकथांग में विद्याध्ययन के बाद मेघकुमार[524] और थावच्चापुत्र[525] का गृहस्थाश्रम में प्रवेश देखा जाता है।

वानप्रस्थाश्रम

वैदिक परम्परा की तरह गृहत्याग करके पत्नी के साथ वन में चले जाने की परम्परा तो जैन धर्म में नहीं मिलती, किन्तु व्रती श्रावक गृहस्थाश्रम में रहकर बारह व्रतों का पालन करता हुआ आत्मविकास के पथ पर धीरे-धीरे अग्रसर होता था और फिर कठिन अभिग्रह और तपस्या करता हुआ ग्यारह प्रतिमाओं के पालन द्वारा गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी भिक्षु जैसा जीवनयापन करता था। ज्ञाताधर्मकथांग में ऐसे व्रती श्रावकों का उल्लेख मिलता है- जितशत्रुराजा[526], नन्दमणियार[527] और कनकध्वज राजा[528] ने श्रावक व्रत अंगीकार किए।

संन्यासाश्रम

जैन परम्परानुसार श्रमणाचार ही संन्यास आश्रम है, जिसमें साधक पाँच महाव्रतों का आजीवन पालन करता हुआ क्रमशः आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होता जाता है। ज्ञाताधर्मकथांग में राजा, महाराजा एवं सम्पन्न लोग शुभ तिथि, मुहूर्त देखकर, दान, महादान, पूजा आदि करने के बाद दीक्षा लेते हुए अर्थात् संन्यास आश्रम में प्रवेश करते हुए देखे जाते हैं।[529]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि ज्ञाताधर्मकथांग में चारों आश्रमों का प्रत्यक्ष उल्लेख तो नहीं मिलता लेकिन विभिन्न प्रसंगों के आधार पर आश्रम व्यवस्था के अस्तित्व को स्वीकार किया जा सकता है।

ज्ञाताधर्मकथांग का सामाजिक दृष्टिकोण से सिंहावलोकन करने से उस समय की सांस्कृतिक उत्कृष्टता परिलक्षित होती है। परिवार, पारिवारिक सम्बन्ध, विवाहादि संस्कार, वेशभूषा, खानपान, मनोरंजन व लोक विश्वास आदि का समृद्ध रूप हमारे सामने आता है। हालांकि समाज में व्याप्त विभिन्न कुरीतियों और बुराईयों को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है, फिर भी अप्रत्यक्षरूप से वर्ण व्यवस्था पर आधारित सामाजिक प्राणी ब्रह्मचर्य (विद्याध्ययन), गृहस्थ, वानप्रस्थ (श्रावक) आदि जीवन की क्रमागत अवस्थाओं से गुजरता हुआ अपने परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति की दिशा में संलग्न था। इसी पवित्र लक्ष्य के कारण सामाजिक जीवन सुखी और समृद्ध था।

संदर्भ-

1. अर्थशास्त्र 2/1/19/34, पृ. 93
2. वृहत्कल्पभाष्य- 4/5147
3. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 589
4. सोसायटी, पृ. 240-241
5. ज्ञाताधर्मकथांग 1/2/11
6. वही 1/5/6
7. वही 1/1/26, 1/7/10, 1/8/47
8. वही 1/9/6
9. वही 1/9/7
10. वही 1/1/87, 102, 159, 210
11. ऋग्वेद 10/85/42, पृ. 1726
12. वही 10/85/46
13. जातक- 3, पृ. 150-180, 321-340
14. एव सह वसेमुवी पृथग्वा धर्माकाम्यया। पृथक विवर्धते धर्मस्तस्याद्धर्म्मा पृथक्क्रिया:।।
    -मनुस्मृति, 9/111, पृ. 249-250
15. ज्ञाताधर्मकथांग 1/7/3
16. वही 1/9/3
17. वही 1/16/3
18. वही 1/7/2-3
19. वही 1/7/6
20. वही 1/7/20, 22, 26, 30
21. वही 1/1/90-93
22. वही 1/7/5-6
23. वही 1/16/129
24. वही 1/7/4
25. वही 1/9/4-5
26. वही 1/7/20, 22, 26, 30
27. वही 1/9/63-65
28. वही 1/19/5
29. प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद भरणादपि। स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतव:।।
    -रघुवंश 1/24, पृ. 10
30. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/121-126
31. वही 1/1/133-135
32. वही 1/5/6
33. मातृदेवो भव:। - तैतीरीय उपनिषद् (एकादश अनुवादक पृ.70-71, 11/2 सानुवाद शांकरभाष्यसहित)
34. दशवै तु सुदाऽऽचार्य: श्रोत्रियानतिरिच्यते दशाचार्यनुपाध्याय उपाध्यायन् पिता दश।। पितृन दश तु मातैका सर्वा वा पृथिवीमपि। गुरुत्वेनाभिभवति नास्ति मातृसमो गुरु:।।
    -महाभारत (शांतिपर्व), 109/15-16
35. नास्ति मातृसमा छायानास्ति मातृसमा गति:। नास्ति मातृसमं ऋणं नास्ति मातृसमा प्रिया।।
    -महाभारत, 12/258/29, पृ. 1370
36. (i) उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणांशतं पिता। सहस्त्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते।।
    -मनुस्मृति 2/145 पृ. 35
    (ii) एभ्योमाता गरीयसी।
    -याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/35, पृ. 66
37. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/120-130
38. वही 1/1/119
39. वही 1/1/131-132
40. वही 1/2/11
41. वही 1/2/15-16
42. वही 1/2/21-23
43. वही 1/18/25, 30
44. वही 1/2/40-41
45. वही 1/5/13-16
46. वही 1/14/17-22
47. ''उपपन्ना हि दारेषु प्रभुतासर्वतोमुखी''
    -अभिज्ञानशाकुंतलम् 5/26, पृ. 177
48. तमुत्सृष्टं तदागर्भं राधाभर्ता महायशा:।
    -महाभारत 1/104/14, पृ. 576
49. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/20-21, 55-57
50. वही 1/1/87, 96, 1/2/45, 1/8/29
51. वही 1/1/88-90
52. वही 1/2/19-20
53. वही 1/14/15
54. वही 1/14/26

55. वही 1/1/56-57
56. वही 1/2/47
57. वही 1/2/14-15
58. वही 1/1/18-19
59. वही 1/1/56
60. (i) सदाप्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृततोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया।।
-मनुस्मृति 5/150 पृ. 138
(ii) संयतापस्करा दशाहृस्टा व्यपराङ्मुखी।
कुर्याच्छवशुरयोः पादवन्दनं भर्तृतत्परा।।
पतिप्रियहिते युक्ता स्वचारासंयतेन्द्रिया।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्यचानुपमं सुखम्।।
-याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/83, 87, पृ. 107-109
61. (i) जातक सं. 239, पृ. 466 (द्वितीय खण्ड)
(ii) जातक सं. 267, पृ. 65-66 (तृतीय खण्ड)
62. ज्ञाताधर्मकथांग 1/2/41
63. वही 1/2/11
64. वही 1/1/15
65. वही 1/1/60
66. वही 1/1/118
67. वही 1/5/13
68. वही 1/18/37
69. वही 1/1/61-74
70. वही 1/18/37
71. वही 1/1/21
72. वही 1/2/15
73. वही 1/8/30
74. वही 1/18/33-34
75. उद्वेगमहावर्ते पातयति पयोधरोन्नयन काले।
सरिदिव तटमनुवर्ष विवर्धमाना सुता पितरम्।।
-हर्षचरित 4/3/39 पृ. 296
76. ज्ञाताधर्मकथांग 1/16/85
77. वही 1/16/66
78. वही 1/8/34
79. वही 1/8/36-37
80. वही 1/7/5, 10, 16-26
81. वही 1/1/23
82. वही 1/5/13
83. वही 1/9/4
84. वही 1/16/4-5
85. वही 1/19/9, 21-23
86. वही 1/18/38
87. वही 1/18/29, 30, 34
88. वही 1/1/93, 133, 12/20, 1/7/5
89. वही 1/8/160
90. वही 1/13/16, 1/14/27
91. वही 1/1/58, 1/8/134
92. वही 1/1/60, 1/13/32
93. वही 1/1/60
94. वही 1/2/43
95. वही 1/1/60
96. वही 1/2/43
97. वही 1/2/51
98. वही 1/8/117, 1/16/139
99. वही 1/1/113, 1/13/32
100. वही 1/1/32
101. वही 1/2/44, 47
102. वही 1/2/43, 47
103. वही 1/8/118
104. वही 1/16/141, 146
105. वही 1/1/9
106. वही 1/1/163
107. वही 1/1/135
108. वही 1/1/136
109. वही 1/1/71, 1/16/147, 1/16/39
110. वही 1/16/58, 85, 1/8/135
111. वही 1/1/76
112. वही 1/1/22
113. वही 1/1/32
114. वही 1/8/56
115. वही 1/1/36, 38, 1/12/20
116. वही 1/1/32, 1/1/77-78, 90
117. वही 1/5/11-12, 21

118. वही 1/1/160, 1/1/7, 1/1/190
119. वही 1/1/58, 60, 132
120. वही 1/8/136
121. वही 1/12/21-24, 1/14/17, 20, 21
122. वही 1/8/56
123. वही 1/16/140
124. वही 1/16/145
125. वही 1/16/110
126. वही 1/16/134
127. हिन्दू धर्मकोश पृ. 645
128. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/82
129. वही 1/2/17-18
130. वही 1/1/93
131. वही 1/1/93
132. वही 1/1/93
133. भारतीय संस्कृति कोश, पृ. 486
134. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/95
135. वही 1/8/31
136. वही 1/2/20
137. वही 1/5/6
138. वही 1/9/5
139. वही 1/14/25
140. वही 1/16/82
141. वही 1/14/3
142. वही 1/7/3
143. वही 1/12/2
144. वही 1/16/10
145. वही 1/13/33
146. वही 1/14/50
147. वही 1/7/3
148. वही 1/9/3
149. वही 1/1/96
150. महापुराण 38/87-89
151. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/97
152. वही 1/1/97
153. वही 1/1/97
154. हिन्दू संस्कार, पृ. 137
155. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/98
156. वही 1/1/100
157. वही 1/1/101-102
158. युग्ममुत्पद्यते तत्र पल्यानां त्रयमायुषा।
प्रेमबंधनबद्धं च म्रियते युगलं समं।।
-पद्मपुराण 3/51 (प्रथम खण्ड), पृ. 34
159. संस्कृति हिन्दी कोश, पृ. 954
160. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/104
161. वही 1/5/6
162. वही 1/1/101, 1/5/6, 1/16/85
163. (i) अष्टावेव समासेन विवाहा धर्मत:
स्मृता।। ब्राह्मोदैवस्तथैवार्ष:
प्राजापत्यस्तथासुर:।।
-महाभारत 1/67/8-9
(ii) ब्राह्मो दैवस्तथैवार्ष
प्रजापत्यस्तथासुर:। गांधर्वराक्षसौ चान्यो
पैशाचाष्टमो मत:।।
-विष्णु पुराण 3/10/24
164. ज्ञाताधर्मकथांग 1/14/9
165. वही 1/16/41-42
166. वही 1/18/21, 25
167. वही 1/16/151-152
168. वही 1/1/105
169. वही 1/5/6
170. वही 1/16/124
171. वही 1/14/12
172. वही 1/16/59, 64
173. वही 1/2/6
174. वही 1/7/3
175. वही 1/16/124
176. वही 1/1/104
177. वही 1/5/6
178. वही 1/1/14, 16
179. वही 1/16/168
180. वही 1/16/124
181. वही 1/1/134
182. वही 1/19/5
183. वही 1/1/144, 159
184. वही 1/5/22, 24

185. वही 1/8/175, 190
186. वही 1/16/217, 219
187. वही 1/16/20
188. वही 1/19/5-10
189. वही 1/1/149
190. वही 1/8/181
191. वही 1/8/195
192. वही 1/12/29
193. वही 1/14/58
194. वही 1/16/224
195. वही 1/16/227
196. वही 1/19/5
197. वही 1/2/31
198. वही 1/14/24
199. वही 1/18/41
200. वही 1/1/210-211
201. वही 1/14/37
202. वही 1/16/20
203. वही 1/16/228
204. वही 1/19/29
205. वही 1/8/28
206. वही 1/1/119
207. वही 1/1/66-70
208. वही 1/14/30, 1/16/67
209. वही 1/1/82
210. वही 1/2/17-18
211. वही 1/1/82, 1/2/17-18, 1/8/27-28
212. वही 1/1/115, 1/5/13
213. वही 1/7/30
214. वही 1/8/34
215. वही 1/16/36
216. वही 1/16/83
217. वही 1/18/27
218. वही 1/16/85
219. वही 1/14/12, 1/16/45
220. वही 1/16/86
221. वही 1/16/84
222. वही 1/16/84
223. वही 1/2/21
224. वही 1/14/7, 1/16/38
225. वही 1/8/136
226. वही 1/1/96
227. वही 1/16/83
228. वही 1/16/119-122
229. वही 1/1/50
230. वही 1/1/105-106
231. वही 1/16/128
232. वही 1/1/46-51
233. वही 1/16/38, 52, 1/1/96
234. वही 1/1/105
235. वही 1/16/220
236. वही 1/8/183
237. वही 2/1/23
238. वही 1/14/35
239. वही 1/8/166, 2/1/20
240. वही 1/14/35
241. वही 1/8/183
242. पालि- अंग्रेजी कोश, पृ. 241
243. ज्ञाताधर्मकथांग 1/3/6
244. वही 1/3/12
245. सवार्थसिद्धि- 2/30, पृ. 136
246. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/93, 1/2/33, 1/7/4, 1/8/35, 1/12/4, 1/14/10
247. वही 1/2/5
248. वही 1/5/47
249. वही 1/5/48
250. वही 1/5/49
251. वही 1/5/59
252. वही 1/7/4
253. वही 1/8/55, 1/17/16
254. वही 1/8/55, 1/15/4
255. वही 1/17/30
256. वही 1/5/59
257. वही 1/5/38
258. वही 1/17/20
259. वही 1/16/112

260. वही 1/12/16-18
261. वही 1/17/15
262. वही 1/16/6
263. वही 1/15/8
264. वही 1/2/33
265. वही 1/7/22
266. वही 1/5/59
267. वही 1/5/62
268. वही 1/18/39
269. वही 1/1/86
270. वही 1/16/4-5
271. वही 1/8/160, 1/13/16, 1/16/11
272. वही 1/5/38
273. प्राचीन भारतीय वेशभूषा- पृ. 5, 9
274. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/17
275. वही 1/17/15
276. वही 1/17/15
277. अमरकोश (पं. विश्वनाथ झा)- 2/6/116, पृ. 157
278. ज्ञाताधर्मकथांग 1/7/26
279. ठाणांग सूत्र (युवाचार्य श्री मधुकर मुनि) - 9/62, पृ. 678
280. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/17
281. जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 150
282. ज्ञाताधर्मकथांग 1/2/23
283. वही 1/16/139
284. वही 1/1/80
285. वही 1/1/30, 1/16/63
286. वही 1/2/15
287. वही 1/8/180
288. वही 1/1/44
289. वही 1/16/63
290. वही 1/16/70
291. वही 1/15/5
292. वही 1/1/17
293. वही 1/17/15
294. वही 1/1/17
295. वही 1/1/31
296. वही 1/1/31
297. वही 1/8/128
298. वही 1/1/30
299. वही 1/1/142
300. वही 1/5/15
301. पद्मचरित और उसमें प्रतिपादित संस्कृति, पृ. 78
302. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/142
303. वही 1/1/30, 142, 1/2/6, 1/16/119
304. वही 1/8/73
305. वही 1/1/143
306. वही 1/1/80
307. वही 1/1/134
308. वही 1/1/142
309. वही 1/16/124
310. वही 1/1/142
311. आदिपुराण 16/50 (आचार्य जिनसेन कृत), पृ. 350
312. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/142
313. अमरकोश 2/6/106, पृ. 153
314. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/142
315. वही 1/1/142
316. वही 1/1/30
317. वही 1/1/142
318. वही 1/1/30
319. वही 1/1/80
320. वही 1/1/142
321. वही 1/1/30
322. वही 1/1/30
323. वही 1/1/80, 142, 1/16/119
324. वही 1/1/30
325. वही 1/1/30, 80, 142, 1/16/119
326. वही 1/1/30
327. वही 1/1/142
328. वही 1/1/80
329. वही 1/16/139
330. वही 1/2/6

331. वही 1/1/80
332. वही 1/16/119
333. वही 1/1/142, 1/8/83
334. वही 1/1/141
335. वही 1/7/26, 1/16/128, 1/18/21
336. वही 1/1/141
337. वही 1/8/81
338. वही 1/1/29
339. वही 1/16/63
340. वही 1/16/63
341. वही 1/1/30
342. वही 1/16/63
343. वही 1/2/15, 1/13/10
344. वही 1/1/30, 80, 1/16/94
345. वही 1/1/30, 142
346. वही 1/16/73
347. वही 1/16/73
348. वही 1/1/30, 142, 1/8/139
349. वही 1/1/44, 1/2/5, 1/8/62, 1/9/26
350. वही 1/2/47
351. वही 1/16/122
352. वही 1/2/42, 1/13/18, 1/16/63
353. वही 1/1/90, 1/3/8, 1/16/115
354. वही 1/1/145
355. वही 1/2/15
356. वही 1/13/19
357. वही 1/1/82
358. वही 1/3/13
359. वही 1/2/9
360. वही 1/18/9
361. वही 1/18/4
362. वही 1/14/7
363. वही 1/14/7
364. वही 1/1/82
365. वही 1/1/90, 1/13/15
366. वही 1/12/10
367. वही 1/17/27
368. वही 1/3/12
369. वही 1/2/9
370. वही 1/18/9
371. वही 1/5/11
372. वही 1/1/90, 134, 1/16/111-113
373. वही 1/13/15/
374. वही 1/1/90, 134
375. वही 1/13/15
376. वही 1/1/90
377. वही 1/5/3
378. वही 1/13/15
379. वही 1/16/139
380. वही 1/16/152
381. पद्मपुराण 3/112-120, पृ. 39-40
382. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/30
383. वही 1/8/185
384. वही 1/8/186-187
385. वही 1/8/195
386. वही 1/8/25, 30, 185, 187, 195
387. वही 1/1/88-91
388. वही 1/1/94-95, 1/2/20, 1/14/25
389. वही 1/8/48
390. वही 1/1/104
391. वही 1/14/10, 13, 1/16/47, 128, 136
392. वही 1/1/133-134
393. वही 1/1/151-159
394. वही 1/5/23-24
395. वही 1/19/10
396. वही 1/1/110
397. हरिवंशपुराण 24/41-45, पृ. 347
398. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/110
399. वही 1/2/9
400. वही 1/2/9
401. वही 1/8/80
402. वही 1/8/84
403. वही 1/16/129
404. वही 1/2/15, 1/8/45
405. वही 1/2/15
406. वही 1/1/90

407. वही 1/5/11
408. वही 1/16/195
409. वही 1/1/25, 36, 1/8/26
410. वही 1/9/5
411. वही 1/2/15, 1/8/64
412. वही 1/8/37
413. वही 1/5/7
414. वही 1/8/180
415. वही 1/8/186
416. वही 1/1/2, 1/2/2
417. वही 1/1/68
418. वही 1/9/41
419. वही 1/8/37
420. वही 1/5/23, 1/14/37
421. वही 1/13/12
422. वही 1/1/57
423. वही 1/1/145
424. वही 1/1/207
425. वही 1/8/82
426. वही 1/8/170
427. वही 1/1/116
428. वही 1/1/15
429. वही 1/1/153
430. वही 1/1/31
431. वही 1/1/158
432. वही 1/8/180
433. वही 1/8/57
434. वही 1/8/25, 29
435. वही 1/14/30
436. वही 1/16/67
437. वही 1/1/30
438. वही 1/1/33
439. वही 1/1/80
440. वही 1/2/42
441. वही 1/2/51
442. वही 1/3/10
443. वही 1/8/139
444. वही 1/12/4
445. वही 1/14/36
446. वही 1/14/44
447. वही 1/16/154
448. वही 1/17/6
449. वही 1/18/20
450. नायाधम्मकहाओ (टिप्पण-112), पृ. 83
451. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/14, 16
452. वही 1/1/104
453. वही 1/5/6
454. वही 1/5/5
455. वही 1/16/144
456. वही 1/3/6, 11-12, 1/16/94
457. वही 1/1/105, 1/5/6, 1/16/119, 120
458. वही 1/1/89
459. वही 1/1/34
460. वही 1/16/138
461. वही 1/2/32
462. वही 1/2/23
463. वही 1/16/11-18
464. वही 1/18/30
465. वही 1/18/12-15
466. वही 1/1/19-25, 31-35, 1/8/26
467. वही 1/1/36, 1/2/15
468. वही 1/2/12-15
469. वही 1/14/48
470. वही 1/2/23-24, 1/18/25-26
471. वही 1/2/24, 1/18/13
472. वही 1/18/10-11
473. वही 1/2/23
474. वही 1/18/25-26
475. वही 1/16/59
476. वही 1/8/159, 1/14/27, 1/15/5
477. वही 1/16/112
478. वही 1/2/9
479. वही 1/16/112
480. वही 1/18/9
481. वही 1/18/20
482. वही 1/5/64

483. वही 1/2/9
484. वही 1/18/9
485. वही 1/14/15
486. वही 1/2/9, 1/18/9
487. वही 1/18/40
488. वही 1/2/9, 1/18/9
489. वही 1/2/9, 1/18/11
490. वही 1/8/13-14
491. वही 1/18/12
492. वही 1/18/16
493. वही 1/18/11-12
494. पद्मपुराण 3/256-258, पृ. 50
495. हरिवंशपुराण 9/39, पृ. 168
496. प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम खण्ड- 1/101-138, प्रथम पद, पृ. 89-103
497. ज्ञाताधर्मकथांग 1/13/16, 1/14/27
498. पाइअसद्दमहण्णवो (प्राकृत-शब्द-महार्णव), पृ. 687
499. ज्ञाताधर्मकथांग 1/16/3
500. वही 1/1/31
501. वही 1/1/40
502. वही 1/8/54
503. (i) भगवती सूत्र 1/9/25
(ii) उवासंग दशांग- 7/37
(iii) अंगसुत्ताणि, भाग-3 पृ. 499
504. वर्ण, जाति और धर्म, पृ. 177
505. ज्ञाताधर्मकथांग 1/16/173
506. वही 1/2/6, 1/3/6, 1/5/6, 1/7/2
507. वही 1/8/53, 1/9/8, 1/15/4-7
508. वही 1/7/10-15
509. वही 1/13/13-19
510. (i) वर्ण, जाति और धर्म, पृ. 177
(ii) याज्ञवल्क्य स्मृति: 1/120, पृ. 162
511. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/90-91
512. वही 1/1/105
513. वही 1/1/138, 1/2/42
514. वही 1/3/22
515. वही 1/8/58
516. वही 1/8/87
517. वही 1/8/96
518. वही 1/8/134
519. वही 1/13/12
520. वही 1/13/19
521. वही 1/1/98, 1/5/6
522. वही 1/1/99
523. मनुस्मृति- 6/88-89
524. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/104
525. (i) वही 1/5/6
(ii) वही 1/5/29, 39
526. वही 1/12/24
527. वही 1/13/8
528. वही 1/14/57
529. वही 1/1/159, 1/2/52, 1/5/24, 1/14/54, 1/16/219, 1/19/5, 2/1/24

पंचम परिवर्त

ज्ञाताधर्मकथांग में आर्थिक जीवन

सामाजिक जीवन की धुरी है- आर्थिक सम्पन्नता। अर्थ जीवनरक्त के समान है, इसके बिना सांस्कृतिक अभ्युत्थान की कल्पना नहीं की जा सकती। अर्थाभाव के कारण मानव-जीवन अभिशाप बन जाता है। आवश्यकता (मांग) और उत्पादन (पूर्ति) के सामंजस्य-संतुलन पर टिकी है आर्थिक समृद्धि की नींव।

आगमकालीन भारतवर्ष आर्थिक दृष्टि से समुन्नत था। कृषि, उद्योग, व्यापार, पशुपालन, शिल्पकर्म में भी यह आर्यक्षेत्र प्रचुर प्रगति कर चुका था। इससे स्पष्ट है कि निवृत्तिमूलक जैन दर्शन के प्रतिपादक मनीषियों व चिन्तकों ने भी सद्कार्यार्थ अर्थार्जन पर बल दिया है। आलोच्य-ग्रंथ ज्ञाताधर्मकथांग में उपलब्ध अर्थव्यवस्था विषयक विवरण का निदर्शन इस प्रकार है-

कृषि

कृषि सम्पूर्ण अर्थ जगत के लिए आधार स्तम्भ है। इससे मनुष्यों और पशुओं के लिए भोजन और उद्योगों के लिए कच्चा माल उपलब्ध होता है। यही कारण है कि कृषि प्राचीनकाल से उत्पादन के प्रमुख स्रोत के रूप में प्रतिष्ठित रही है। अहिंसा प्रधान जैन धर्म में भी कृषिकर्म निन्द्य नहीं है। स्थानांग में कम्पाजीवे अर्थात् कृषि आदि से आजीविका चलाने वाले को भी आजीवक के रूप में स्वीकार किया गया है।[1] पाणिनि ने खेती की भूमि, जो अलग-अलग खण्डों में विभक्त रहती थी, को खेत कहा है।[2]

सिंचाई-व्यवस्था

अच्छी फसल प्राप्त करने के लिए सिंचाई-व्यवस्था का विकसित होना आवश्यक है। तत्कालीन समय में किसान सिंचाई के लिए वर्षा पर अधिक निर्भर थे फिर भी कृत्रिम सिंचाई के लिए पुष्करिणी, बावड़ी, कुंआ, तालाब, सरोवर आदि निर्मित किए जाते थे।[3] नन्दमणियार सेठ द्वारा नगर के बाहर एक बड़ी पुष्करिणी बनवाने का उल्लेख ज्ञाताधर्मकथांग में मिलता है।[4]

कृषि उपकरण

प्रश्नव्याकरण सूत्र से ज्ञात होता है कि उत्तम फसल के लिए कृषि के विविध उपकरणों का प्रयोग किया जाता था। इनमें हल, कुलिय, कुदाल, कैंची,

सूप, पाटा, मेढ़ी आदि प्रमुख हैं।[5]

खेतों की सुरक्षा

जानवरों से फसलों की सुरक्षा के लिए भांति-भांति के उपाय किए जाते थे। खेतों के चारों ओर कांटेदार बाड़ लगाई जाती थी। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि रोहिणी ने कौटुम्बिक पुरुषों को खेती को सुरक्षा के लिए उसके चारों ओर बाड़ लगाने का आदेश दिया।[6]

प्रमुख उपज

ज्ञाताधर्मकथांग में शालि[7] (चावल), सरिसवया[8] (सरसों), धान्यमाष (उड़द), अरस (हींग), चना[9], अनेक प्रकार के फल[10] (नामोल्लेख नहीं है), मालुक[11] (ककड़ी), तंडुल[12], आम, किंशुक, कर्णिकार (कनेर), बकुल[13], नारियल, नन्दीफल[14], कड़वा तुम्बा[15], मीठा तुम्बा[16], शाक, मसाले[17] आदि फसलों का उल्लेख मिलता है।

आचारांग में शाक-सब्जी के खेत, बीज प्रधान खेत और शालि, ब्रीहि, माष, मूंग, कुलत्थ आदि धान्यों की खेती का उल्लेख मिलता है।[18] सूत्रकृतांग में शालि, ब्रीहि, कोद्रव, कंगु, परक, राल आदि धान्यों की खेती का उल्लेख आया है।[19]

उपज की कटाई

जब धान्य पक जाता था तो उसे काटने का प्रबन्ध किया जाता था। ज्ञाताधर्मकथांग में फसल काटने के कार्य को 'लुणेंति' कहा गया है।[20] प्राय: कृषक फसल काटने का कार्य स्वयं ही करते थे। वे बड़ी सावधानी से धान्य को पकड़कर तीक्ष्ण धारवाली असियएहिं (द्रांति, हंसिया) से काटते थे।[21] काटने के बाद धान्य को खलिहान में, जिसे 'खलवाड़ा' (कोठार, पल्य) कहते थे, एकत्र करते थे।[22] पंक्तिबद्ध बैलों से धान्य की मड़ाई की जाती थी[23], जिसे 'मलन' कहा जाता था। धान्य को भूसे से अलग करने के लिए सूप से फटका जाता था[24] अथवा वायु की दिशा को देखते हुए धान्य को ऊपर से नीचे गिराया जाता, जिससे धान्य और भूसा अलग-अलग हो जाते। (धान्य की अल्प मात्रा को ही सूप से फटका जाता है अधिक मात्रा होने पर हवा की दिशा में उपरोक्तानुसार उफणा जाता है आज ये सभी कार्य थ्रेसर या ट्रेसर से एक साथ हो जाते हैं।)

धान्य-भण्डारण

जैन आगमों में धान्य के वैज्ञानिक भण्डारण का उल्लेख मिलता है। इस विधि से धान्य दीर्घकाल तक सुरक्षित रखा जा सकता था। व्याख्याप्रज्ञप्ति से ज्ञात होता है कि शालि, व्रीहि, गोधूम, यव, कलाय, मसूर, तिल, मूंग, माष, कुलत्थ, आलिसदंक, तुअर, अलसी, कुसुम्भ, कोद्रव आदि धान्यों को बांस के छबड़े, मचान या पात्र विशेष में रखकर उसका मुख गोबर से लीप दिया जाता था, फिर उन्हें मुद्रित और चिह्नित करके रखा जाता था। इससे धान्यों की अंकुरण शक्ति दीर्घकाल तक बनी रहती थी।[25] ज्ञाताधर्मकथांग में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है कि रोहिणी के कौटुम्बिक जनों ने शालि-अक्षतों को नवीन घड़े में भरा। भरकर उसके मुख पर मिट्टी का लेप कर दिया। लेप करके उसे लांछित-मुद्रित कर सील लगा दी और उन्हें कोठार में रख दिया।[26] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी ऐसे भण्डारण का उल्लेख है। ये ऊँचे स्थानों पर बनाए जाते थे और इतने दृढ़ होते थे कि वर्षा और आंधी से भी अप्रभावित रहते थे।[27]

उपवन-उद्यान-वाटिका

कृषि के सहकारी धन्धे के रूप में फल-फूलों के उपवनों का उद्योग भी प्रचलित था। उस समय के लोग उद्यानों के वर्धन और पोषण में प्रवीण थे। ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि राजगृही का गुणशील नामक उद्यान[28] ऐसे वृक्षों से युक्त था जो सभी ऋतुओं के फल-फूलों से लदे रहते थे।[29] नन्दमणिकार सेठ ने भी राजगृह के बाहर एक नन्दा पुष्करिणी खुदवाई थी, जिसके चारों ओर वनखण्ड (भिन्न-भिन्न जाति के वृक्षों वाला स्थान) और उद्यान (जिसमें एक ही जाति के वृक्षों की प्रधानता हो - अर्द्धमागधी कोष भाग-4, पृ. 333) बने हुए थे। उद्यानों में विभिन्न प्रकार के फल-फूलों के वृक्ष थे।[30]

आलोच्यग्रंथ से यह भी ज्ञात होता है कि तत्कालीन जीवन में उपवनों व उद्यानों का विशेष महत्व था। उपवनों में विशेष उत्सव मनाए जाते थे। जहाँ पर नागरिक नृत्य आदि के द्वारा अपना मनोरंजन करते थे।[31] जनसामान्य के लिए नगर के बाहर सार्वजनिक उज्जाण (उद्यान) होते थे, जहाँ पर वे घूमते-फिरते, मनोरंजन एवं क्रीड़ा करते हुए विचरते थे।[32] उद्यानों में भ्रमण के लिए आने वाले व्यक्तियों के लिए विश्रामगृहों की भी व्यवस्था होती थी।[33] जब मेघकुमार गर्भ में था तब उसकी माँ धारिणी को राजगृह की सीमा पर बने उद्यान में भ्रमण का

दोहद उत्पन्न हुआ।[34] उद्यानों में विभिन्न प्रकार की लताएँ और फूल लगाए जाते थे, जिनमें चम्पा के फूल, सन के फूल, कोरंट के फूल, कमल, शिरीष कुसुम, कुन्द पुष्प[35], पाटला, मालती (Spanish Jasmine), चम्पा, अशोक, पुनांग, मरुआ, दमनक[36] (आर्टिमिसिया इंडिका) एवं विभिन्न जाति के कमल[37] (कुमुद, नलिन, सुभग, सौगंधिक, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, सहस्रपत्र), प्रियंगुलता[38], अशोकवृक्ष, अशोकलता[39], वनलता, पद्मलता[40] आदि का उल्लेख है। कोई भी उत्सव या समारोह पुष्पों के बिना संभव नहीं था। पाँच वर्णों की पुष्पमाला प्रसिद्ध थी। प्रजानन उत्सवों पर फूलों के आभूषण, विलेपन, अंगराग और मालाओं का उपयोग करते देखे जाते हैं।[41] विशेष उत्सवों पर राजमार्गों सहित सभी मार्गों को पुष्पजलों, सुगंधित जलों एवं पुष्पों से सजाया जाता था।[42] राज्योद्यान के मालियों का समाज में विशेष स्थान था। वे दिव्य एवं विशिष्ट माला बनाने में निपुण होते थे। ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञाता होता है कि 'श्रीदामकांड' माला विशिष्ट और दिव्य होती थी।[43]

अन्तकृदशांग से ज्ञात होता है कि अर्जुन राजगृह का एक प्रतिष्ठित तथा सम्पन्न माली थी। उसने अपनी विशिष्ट पुष्पवाटिका में पाँच रंग के पुष्प लगा रखे थे। प्रात:काल वह अपनी पुष्वाटिका से पुष्प-चयन हेतु जाता और वहाँ से पुष्प-चयन करके पुष्पों से भरी टोकरियाँ, बाजारों, हाटों में बेचकर धन अर्जित करता था।[44]

जैन आगमों में गाँवों और नगरों के निकट ऐसे वनों, उपवनों के उल्लेख मिलते हैं, जिनमें विभिन्न प्रकार के स्वास्थ्यवर्द्धक औषधयुक्त फल होते थे। इन उपवनों में आम, शाल, जम्बूफल, पोलू, शेलू, अखरोट, सल्लकी, मालूक, बकुल, करंज, पलाश, मोचकी, सीसम, अरिष्ट, बहेड़ा, हरड़, भिलवा, अशोक, दाडिम, लूकच, शिरीष, मातुलिंग, चन्दन, अर्जुन, कदम्ब आदि के वृक्ष होते थे।[45] ज्ञाताधर्मकथांग में सहस्रावन[46] और आम्रशालवन[47] का उल्लेख है। आलोच्यग्रंथ से यह भी स्पष्ट होता है कि उस समय उद्यान-उपवनों की रक्षा एवं देखभाल के लिए मालियों को रखा जाता था, जिन्हें वेतन भी दिया जाता था।[48]

पशु-पालन

समाज में दूसरा प्राथमिक उद्योग पशुपालन था। आर्थिक दृष्टि से पशुओं का महत्वपूर्ण स्थान था। कृषि तथा यातायात मुख्य रूप से पशुओं पर ही

आधारित थे। पशुओं को सम्पत्ति के रूप में स्वीकार किया गया था।[49] जिस व्यक्ति या परिवार के पास जितने अधिक पशु होते वह उतना ही अधिक धनवान और सम्पन्न समझा जाता था। उपासकदशांग के दसों श्रावकों के पास हजारों पशु थे, जिनमें गोधन प्रमुख था।[50] पशुपालन ग्रामीण क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं था, नगरों में भी उनका आधिक्य था। राजगृह नगर में रहने वाले धन्यसार्थवाह और द्वारका नगरी में रहने वाली थावच्या गाथापत्नी के पास बहुसंख्यक पशु थे।[51]

पशुपालन कृषि, दूध, यातायात, चमड़े और मांस के लिए किया जाता था। कृषि में पशुओं का बहुविध उपयोग किया जाता था। बैल हल चलाने, रहट चलाने, कोल्हू चलाने तथा शकट व रथ[52] खींचने के उपयोग में आते थे।[53] दूध से दधि, नवनीत, तक्र और घी की प्राप्ति होती थी, इन्हें गोरस कहा जाता था, जो पौष्टिक माना जाता था। व्यापारार्थ जाते समय अर्हन्नक गोरस आदि पौष्टिक पदार्थों को भी अपने साथ लेकर गया।[54]

जैन आगमों में यातायात के लिए भी पशुओं का बड़ा महत्व बताया गया है। माल और सवारी वहन करने के लिए हाथी, घोड़े और बैल के प्रयोग का उल्लेख ज्ञाताधर्मकथांग में मिलता है।[55] कालिक द्वीप के घोड़े बहुत प्रसिद्ध थे। वे जातिमान घोड़े के समान आकीर्ण, विनीत, प्रशिक्षित व सहनशील तथा विविध रंगों के थे।[56] पशुओं के चारे के लिए गाँव की बाह्य सीमा पर चारागाह थे।[57]

कुक्कुट-मयूरपालन

आलोच्यग्रंथ में कुक्कुट व मयूरपालन का व्यवसाय के रूप में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। जिनदत्त व सागरदत्त ने मयूरी के अंडों को मुर्गी के अंडों के साथ रखा[58], तत्पश्चात् मयूरी के बच्चे को नृत्य आदि कला में पारंगत करने के लिए मयूर पोषकों को दे दिया[59], इससे स्पष्ट है कि कुक्कुट व मयूरी-पालन एक व्यवसाय के रूप में प्रचलित थे।

पूंजी का लेन-देन (ब्याज पर लेन-देन)

उद्योग और व्यवसाय को प्रारंभ करने और उसका सफलतापूर्वक संचालन करने के लिए पूंजी की प्रचुरता अनिवार्य है। ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन-धान्य, द्विपद, चतुष्पद, दास-दासी, कुप्य (गृह सम्बन्धी उपकरण), धातु, पशु आदि मनुष्य की सम्पत्ति माने जाते थे।[60] अन्तकृदशांग में पूंजी के आधार पर धनवान लोगों का वर्गीकरण किया गया है।[61] भगवतीसूत्र से

ज्ञात होता है कि तुंगिया नगरी के श्रमणोपासक वृद्धि के लिए धन को ब्याज पर देते थे।[62] ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि राजगृह नगरी में धन्य सार्थवाह पूँजी के लेन-देन का बड़े पैमाने पर व्यवसाय करता था।[63] द्वारका नगरी में थावच्चा गाथापत्नी भी लेन-देन का व्यवसाय करती थी।[64]

शिल्प-कर्म

जैनागमों में शिल्पकर्म का उल्लेख विभिन्न स्थानों पर मिलता है। दशवैकालिक चूर्णि में शिल्पकर्म से अर्थोपार्जन का उल्लेख है।[65] आवश्यक चूर्णि में कहा गया है कि जब भोगयुग के बाद कर्मयुग का प्रारम्भ हुआ तो ऋषभदेव ने अपनी प्रजा को विभिन्न प्रकार के शिल्प सिखाए। उन्होंने सर्वप्रथम कुम्भकार का कर्म सिखाया। उसके बाद पटकार-कर्म और वर्धकीकर्म (वास्तुशिल्प) सिखाया, तत्पश्चात् चित्रकर्म, फिर रोम, नख वृद्धि होने पर नापितकर्म आदि सिखाए।[66] कल्पसूत्र से ज्ञात होता है कि नगर उद्योगों के केन्द्र थे। राजा सिद्धार्थ के यहाँ नगरशिल्पियों द्वारा निर्मित सुन्दर और बहुमूल्य वस्तुओं का बाहुल्य था।[67] शिल्पकलाओं में निपुणता प्राप्त करने हेतु लोग शिल्पाचार्य के पास जाते थे।[68] जातक कथा से ज्ञात होता है कि राजा ब्रह्मदत्त का पुत्र एक हजार मुद्रा लेकर गुरु के पास शिल्प सीखने गया था।[69]

प्राय: सभी प्रकार के शिल्पी अपने-अपने व्यवसाय के संरक्षण और संवर्धन के प्रति सचेष्ट थे। इसी कारण वे निगम, संघ, श्रेणी, पूरा और निकाय जैसे संगठनों में संगठित थे।[70]

ज्ञाताधर्मकथांग में कुम्भकार आदि अट्ठारह श्रेणियों और उपश्रेणियों का उल्लेख मात्र हुआ है, लेकिन वे 18 श्रेणियाँ-उपश्रेणियाँ कौनसी हैं, इसका विस्तृत उल्लेख नहीं मिलता। केवल यही उल्लेख मिलता है कि राजकीय उत्सवों पर राजा इन श्रेणियों का सम्मान किया करते थे। राजा श्रेणिक ने पुत्रजन्म के अवसर पर 18 श्रेणियों और उपश्रेणियों को आमंत्रित कर सम्मानित किया था।[71] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में शिल्पियों की 18 श्रेणियों का उल्लेख मिलता है[72]-

1. कुम्भकार- (कुम्हार- मिट्टी के बर्तन बनाने वाले)
2. पटइल्ला- (तंतुवाय, पटेला-रेशम बनाने वाले)
3. सुवण्णकारा- (स्वर्णकार- सोने का काम करने वाले)
4. सूवकारा- (रसोइया)

5. गन्धवा- (गन्धर्व गायक)
6. कासवगा- (नाई)
7. मालाकारा- (माला बनाने वाले)
8. कच्छकारा- (माली)
9. तम्बोलिया- (ताम्बूल- पान बेचने वाला)
10. चम्मरू- (चर्मकार)
11. जंतपीलग- (कोल्हू आदि चलाने वाले)
12. गंछिय- (अंगोछे बनाने वाले)
13. छिपाय- (कपड़े छापने वाले)
14. कंसवारे- (ठठेरे- बर्तन बनाने वाले)
15. सीवग- (दर्जी)
16. गुआर- गोपाल (ग्वाले)
17. भिल्ला- (व्याघ्र, शिकारी)
18. धीवर- (मछुआरे)

-देखें जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र 2/37

ज्ञाताधर्मकथांग में इनके अतिरिक्त नट, नर्तक, रस्सी पर खेल करने वाले बाजीगर, मल्लयुद्ध करने वाले, मुष्टियुद्ध करने वाले, विदुषक, भांड, कथावाचक, रास गायक, वैद्य आदि पेशेवर कलाकारों का भी उल्लेख हुआ है, जो लोगों का मनोरंजन करके अपनी आजीविका चलाते थे।[73]

-देखें जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र 1/1/153

विशेष शिल्पों अथवा व्यवसायों में लगे हुए लोगों के अलग गाँव ही बस जाते थे, यथा-वाणिज्यग्राम, निषादग्राम, कुम्हारग्राम, ब्राह्मणग्राम, क्षत्रियग्राम।[74]

जीविका की खोज में ये शिल्पी ग्रामानुग्राम घूमते रहते थे। सुवर्णकारों की श्रेणियाँ आवश्यकतानुसार न्याय की मांग के लिए राजसभाओं में भी जाती थी।[75] ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि जब युवराज मल्लदिन ने क्रोधित होकर एक चित्रकार को मृत्युदण्ड दिया तो श्रेणी उसे समुचित न्याय दिलाने हेतु राजसभा में गई फलतः राजा ने मृत्युदण्ड के स्थान पर चित्रकार का संडासक (अंगूठा व उसके पास की अंगुली) काटकर उसे राज्य से निर्वासित कर दिया।[76] अपने के अनुरूप कार्य न करने वाली श्रेणी को दण्ड भी मिलता था।

राजा कुम्भ ने कुण्डल युगल की जोड़ (संधि) सांधने में असमर्थ सुवर्णकार श्रेणी को निर्वासित कर दण्डित किया था।[77]

उद्योगशालाएँ

उद्योगों के लिए भूमि का कोई अभाव नहीं था। नगरों और गाँवों के बाहर पर्याप्त भूमि थी, जहाँ शिल्पशालाएँ अथवा कर्मशालाएँ बनाई जाती थीं और वहाँ शिल्पी अपना कार्य करते थे।[78] नन्दमणियार सेठ ने भी नगर के बाहर चित्रसभा, महानसशाला, चिकित्साशाला और अलंकार सभा का निर्माण करवाया।[79] नगर का वातावरण दूषित न हो इसलिए उद्योगशालाएँ नगर के बाहर हुआ करती थी।[80] इससे स्पष्ट है कि लोग पर्यावरण प्रदूषण के प्रति सजग थे।

वस्त्र-उद्योग

ज्ञाताधर्मकथांग में यद्यपि वस्त्र उद्योग का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, लेकिन विभिन्न प्रकार के वस्त्रों के उल्लेख के आधार पर कहा जा सकता है कि तत्कालीन समय में वस्त्र उद्योग अत्यन्त उन्नतावस्था में था। धारिणी देवी के शयनकक्ष में कसीदा काढ़े हुए क्षौम-दुकूल का चद्दर बिछा हुआ था। वह आस्तरक, मलय, नवत, कुशक्त, लिम्ब और सिंहकेसर नामक आस्तरणों से आच्छादित था। उस पर लगी मसहरी का स्पर्श आजिनक (चर्म का वस्त्र), रुई, बूर नामक वनस्पति और मक्खन के समान नरम था।[81] श्रेणिक राजा ने पक्षी के पंख के समान अत्यन्त कोमल, सुगन्धित और कषाय (कषैले) रंग के रंगे हुए वस्त्र से शरीर का पोंछा।[82] धारिणी देवी ने चिन्तन किया कि वे माताएँ धन्य हैं जिन्होंने ऐसा वस्त्र पहना हो जो नासिका के निश्वास की वायु से भी उड़ जाए अर्थात् अत्यन्त बारीक हो, उत्तम वर्ण और स्पर्श वाला हो, घोड़े के मुख से निकलने वाले फेन से भी कोमल और हल्का हो, जिसकी किनारियाँ सुवर्ण के तारों से बुनी गई हों तथा स्फटिक के समान उज्जवल हो।[83] ऐसा ही वस्त्र मेघकुमार ने अपनी दीक्षा से पूर्व धारण किया।[84]

मेघकुमार की माता धारिणी थावच्चा सार्थवाही और प्रभावती रानी ने क्रमशः अपने पुत्र व पुत्री के आभरण हंस के चिह्नवाली साड़ी के ग्रहण किए।[85] कनककेतु के कौटुम्बिक पुरुष आकीर्ण अश्व लेने के लिए कालिक द्वीप जाते समय अपने साथ कोयतक (रुई के बने वस्त्र) , कम्बल (रत्न कम्बल), प्रावरण (ओढ़ने के वस्त्र), नवत-जीन, मलय (मलय देश के बने वस्त्र),

मसग (चर्म से मढ़े वस्त्र) लेकर गए।[86] काली आर्या के देव के रूप में उत्पन्न होने के सदंर्भ में देवदूष्य वस्त्र का उल्लेख मिलता है।[87] बहत्तर कलाओं के संदर्भ में नवीन वस्त्र बनाने, रंगने, सीने एवं पहनने का उल्लेख मिलता है।[88]

धातु-उद्योग

कालिक द्वीप में सोना, चाँदी, रत्न और हीरों की खानें थी[89], इससे पता चलता है कि खनन द्वारा धातु निकाले जाते थे और धातु उद्योग विकसित अवस्था में था। निशीथ चूर्णि के अनुसार खान खोदने वाले श्रमिक "क्षिति खनक" कहे जाते थे।[90] कृषि के उपकरण[91], हल-कुदाल, फरसा, द्रांतियाँ, हंसिया, युद्ध के उपकरण[92]- भाला, बर्छी, तलवार आदि एवं गृहोपयोगी वस्तुएँ[93]- सुई, कैंची, नखछेदनी आदि का उल्लेख ज्ञाताधर्मकथांग में मिलता है। ज्ञाताधर्मकथांग में धातु निर्माण को एक कला के रूप में स्वीकार किया गया है।[94] पीतल और कांसे के बर्तनों के उल्लेख से टीन और जस्ते के प्रयोग का संकेत मिलता है।[95]

ज्ञाताधर्मकथांग में सोने-चाँदी और मणियों के विविध कलापूर्ण आभूषणों तथा विभिन्न आकार-प्रकार के मणिरत्नों के एकाधिक बार आए उल्लेख इस बात के प्रमाण हैं कि स्वर्णकारों का व्यवसाय उत्कर्ष पर था। राजा श्रेणिक और दीक्षा से पूर्व मेघकुमार ने हार, अर्थहार, एकावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली, त्रुटित, केयूर, बाजूबंद, अंगद, मुद्रिकाएँ, कटिसूत्र, कुंडल, चूडामणि, मुकुट आदि आभूषणों को धारण किया।[96] महिलाओं के आभूषणों में नूपुर (पायल) का भी नाम आता है। स्वर्णकारों ने उन्नीसवें तीर्थंकर 'मल्ली' की अत्यन्त जीवन्त स्वर्ण-प्रतिमा निर्मित की थी।[97] इसी प्रकार एक बार मल्लीकुमारी का एक दिव्य कुंडल टूट गया। उसके पिता कुम्भ ने स्वर्णकारों को जोड़ने का आदेश दिया।[98]

राजाओं ने आसन, यान, पीठ, भवन, शय्या आदि सोने-चाँदी के बनाए जाते थे और उन्हें मणिजटित किया जाता था। मेघकुमार का महल[99] तथा धारिणी देवी की शय्या[100] सोने-चाँदी से निर्मित थे और उनमें मणियाँ जड़ी हुई थी।

अश्वों और हाथियों को भी सोने-चाँदी के आभूषणों से सजाया जाता था।[101] सार्थवाहपुत्रों द्वारा बैलों को स्वर्णाभूषणों से सज्जित करवाने का उल्लेख ज्ञाताधर्मकथांग में मिलता है।[102]

ज्ञाताधर्मकथांग में विभिन्न प्रकार के रत्नों का उल्लेख मिलता है।[103] स्फटिक के उल्लेख से प्रतीत होता है कि स्फटिक उद्योग भी प्रचलित था।[104]

भाण्ड-बर्तन उद्योग

तत्कालीन समय में मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग बहुतायत से होता था। ज्ञाताधर्मकथांग में विभिन्न स्थानों पर इसके स्पष्ट संकेत मिलते हैं। मेघकुमार के जन्मोत्सव के अवसर पर राजा श्रेणिक ने कुंभकार आदि अट्ठारह श्रेणियों को आमंत्रित किया।[105] सुबुद्धि अमात्य ने जल को विशुद्ध करने के लिए कुंभकार की दुकान से घड़े मंगवाए।[106] मेघकुमार को राज्याभिषेक से पूर्व 864 कलशों में जल भरकर स्नान करवाया गया, जिनमें 108 कलश मिट्टी के थे।[107] मल्ली की अभिषेक सामग्री में 1008 मिट्टी के कलशों का उल्लेख मिलता है।[108] कुम्हार का कर्म स्थान कुर्मारशाला था। भगवान महावीर सकडाल की कुम्हारशाला में रूके थे।[109]

काष्ठ-उद्योग

ज्ञाताधर्मकथांग में काष्ठकर्म के लिए 'कट्ठकम्म'[110] शब्द का उल्लेख मिलता है, इससे काष्ठ उद्योग के प्रचलन का अनुमान लगाया जा सकता है। भद्रा ने अपने पति धन्यसार्थवाह के लिए भोजन 'पिडयं' अर्थात् बांस की छाबड़ी में रखकर कारावास में भिजवाया।[111]

चित्र-उद्योग

चित्रकार भी एक प्रकार के शिल्पी थे। वे अपनी चित्रकारी का प्रदर्शन भवनों, वस्त्रों, रथों और बर्तनों आदि पर किया करते थे। ज्ञाताधर्मकथांग में चित्रकला के अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं। धारिणी देव के 'शयनागार' की छत लताओं, पुष्पावलियों तथा उत्तम चित्रों से अलंकृत थी।[112] श्रेणिक की सभा में लगी यवनिका (पर्दा) में भी अनेक प्रकार की चित्रकारी की हुई थी।[113] मल्लदिन्नकुमार ने अपने प्रमदवन में एक चित्रसभा बनवाई और उसमें चित्रकार श्रेणी को बुलवाकर चित्रांकन का आदेश दिया। चित्रकार तूलिका और रंग लाकर चित्र रचना में प्रवृत्त हो गए, उन्होंने भित्तियों का विभाजन किया, भूमि को लेपों से सजाया और नाना प्रकार के चित्र बनाने लगे।[114] इन चित्रकारों की श्रेणी में एक चित्रकार इतना प्रवीण था कि किसी व्यक्ति के एक अंगमात्र को देखकर ही वह वैसी की वैसी प्रतिकृति बना सकता था।[115] श्रेष्ठी नन्दमणियार ने भी एक चित्रसभा बनवाई जिसे विभिन्न प्रकार के चित्रों से सजाया गया। वहाँ सैंकड़ों चित्रकार वेतनभोगी के रूप में कार्यरत थे।[116]

चर्म-उद्योग

आगमकाल में चर्म तथा उससे निर्मित वस्तुओं का प्रचलन था।

ज्ञाताधर्मकथांग में एक स्थान पर जूतों का उल्लेख आया है। धन्य सार्थवाह अहिच्छत्रानगरी व्यापारार्थ जाने से पूर्व यह घोषणा करवाता है कि जिसके पास जो वस्तु नहीं होगी उसको वह वस्तुएँ दिलवाएगा, जिनमें जूते भी शामिल थे।[117] चमड़े से बने विविध वाद्यों का उल्लेख भी मिलता है। धारिणी देवी को मृदंग, झालर, पटह आदि का दोहद उत्पन्न हुआ।[118] चोर सेनापति चिलात ने चमड़े से बनी मशक से पानी पिया।[119] चमड़े से चाबुक बनाए जाते थे। विजय चोर को चाबुक से पीटा गया।[120] प्रज्ञापना में चम्मकार (चमार) का उल्लेख मिलता है।[121]

वास्तु-उद्योग[122]

ज्ञाताधर्मकथांग में सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर (शृंगाटक-त्रिक-चौक-चौराह) आदि का वर्णन मिलता है।[123] इससे स्पष्ट होता है कि उस समय नगर-निर्माण योजनाबद्ध रूप से वास्तुशास्त्र के अनुसार किया जाता था।[124] नन्दमणियार ने वास्तुशास्त्र विशेषज्ञों की सलाह के अनुसार पुष्करिणी, महानसशाला, चिकित्साशाला, चित्रसभा आदि का निर्माण करवाया।[125] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वास्तुकला भी एक उद्योग के रूप में प्रचलित थी।

प्रसाधन-उद्योग

शृंगारप्रियता और विलासप्रियता प्रसाधन उद्योग की उन्नति के परिचायक हैं। ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि उस समय बाल, नाखून आदि कटवाने के लिए अलंकारसभा होती थी, जहाँ पर नापित (नाई) बाल काटने, हजामत बनाने, मालिश करने आदि का काम करते थे।[126]

नन्दमणियार की अलंकारसभा में बहुत से आलंकारिक पुरुष जीविका, भोजन और वेतन पर रखे हुए थे।[127] केसर आदि सुगंधित पदार्थों से लेप किया जाता था।[128] विशेष उत्सवों पर राजमार्गों को सुगंधित बनाया जाता था।[129] अलंकार सभा को हम आधुनिक ब्यूटीपार्लर कह सकते हैं।

खांड-उद्योग

उस समय खांड उद्योग अत्यन्त महत्वपूर्ण उद्योग था। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख है कि कनककेतु राजा के कौटुम्बिक पुरुष 'कालिक द्वीप' जाते समय अन्य वस्तुओं (माल) के साथ चीनी, गुड़, शक्कर आदि भी लेकर गए।[130] धन्य सार्थवाह भी विपुल मात्रा में खांड, गुड़ आदि लेकर व्यापारार्थ अहिच्छत्रानगरी गया था।[131] पुष्पोत्तर और पदमोत्तर जाति की विशिष्ट शर्करा होती थी।[132]

तेल-उद्योग

ज्ञाताधर्मकथांग में तेल के उपयोग शाक बनाने[133], औषधि के रूप मे[134], लेपन, विलेपन और मालिश[135] के रूप में करने का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि तेल उद्योग भी विकसित अवस्था में था।

कुटीर-उद्योग

उपर्युक्त उद्योगों के अतिरिक्त कुछ कुटीर उद्योग भी प्रचलित थे। ज्ञाताधर्मकथांग में बांस की छाबड़ी[136], सूप[137], फूलमालाएँ (मालाकार)[138], विविध प्रकार के पंखों[139] आदि का उल्लेख मिलता है, जो कुटीर उद्योगों की विद्यमानता के प्रमाण हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कृषि के साथ-साथ औद्योगिक विकास भी चरम पर था तथा इसके साए में कुटीर उद्योग भी पनप रहे थे।

व्यापार-विनिमय

विनिमय आर्थिक जगत का केन्द्र बिन्दु है। लेन-देन, आदान-प्रदान अथवा एक वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु लेना विनिमय कहा जाता है।

वस्तु विनिमय में कई प्रकार की व्यावहारिक कठिनाइयाँ आती थी, परिणामस्वरूप क्रय-विक्रय पद्धति अपनाई गई, जो व्यापार के रूप में प्रसिद्ध हो गई।

आगमकाल में कृषि के साथ-साथ व्यापार-विनिमय भी उन्नत अवस्था में था।

व्यापारी

व्यापारियों को मुख्यत: दो भागों में बाँटा जा सकता है- (i) स्थानीय व्यापारी (ii) सार्थवाह।[140] स्थानीय व्यापारियों की तीन कोटियाँ थी- वणिक[141], गाथापति[142] और श्रेष्ठी।[143] ये गाँवों व नगरों में व्यापार करते थे। ये व्यापार के साथ-साथ धन के लेन-देन का व्यवसाय भी करते थे।[144]

असुरक्षित मार्गों की कठिनाइयों के कारण अकेले यात्रा करना संभव नहीं था, अत: 'सार्थ' बनाकर चलते थे। मिलकर यात्रा करने वाले समूह को 'सार्थ' कहा जाता था और 'सार्थ' का नेतृत्व करने वाला 'सार्थवाह' कहलाता था।[145] ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि सार्थवाह यात्रा पर जाते समय अपना माल गाड़ी-गाड़े यानी छकड़ा-छकड़ी में भरकर ले जाते थे।[146]

'सार्थ' का प्रस्थान करना व्यापारिक क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण घटना होती थी। ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार यात्रा प्रारंभ करने से पूर्व अनेक प्रकार की तैयारियाँ की जाती थी। यात्रा के लिए खाद्य सामग्री साथ ली जाती थी, सेवकों को तैयार किया जाता था। शुभ नक्षत्र, तिथि और मुहूर्त देखकर सार्थ-प्रस्थान की घोषणा की जाती थी। यात्रा से पूर्व सगे-सम्बन्धियों और श्रेष्ठजनों को दावत दी जाती थी।[147] कुछ धार्मिक विचारों वाले सार्थवाह अपने सहयात्रियों को अनेक प्रकार की सुविधाएँ देते थे।[148]

पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी कुशल व्यापारी होती थी। ज्ञाताधर्मकथांग में द्वारका नगरी के थावच्चा नाम गाथापत्नी (गृहस्थ महिला) और देवदत्ता गणिका का उल्लेख आता है, जो व्यापार कार्य में निपुण थी।[149]

सार्थवाह को यात्रा प्रारंभ करने पूर्व राजा से अनुमतिपत्र प्राप्त करना होता था।[150] जिस देश से व्यापार करना होता था उस देश के राजा से भी व्यापार की अनुमति लेकर शुल्क देना पड़ता था। कभी-कभी राजा प्रसन्न होकर व्यापारी को शुल्क-मुक्ति भी प्रदान कर देते थे।[151] ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि अर्हन्नक आदि सांयत्रिक वणिकों ने अपना माल मिथिला में बेचा और वहाँ से दूसरा माल खरीदा और उसे बेचने के लिए चम्पानगरी की ओर प्रस्थान किया।[152] इससे स्पष्ट है कि व्यापारी एकाधिक देशों में वस्तुओं का क्रय-विक्रय कर अधिकाधिक लाभार्जन का प्रयास करते थे। इसके आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अस्तित्व को स्वीकारा जा सकता है।

आयात-निर्यात व्यापार

आगमकाल में आयात-निर्यात व्यापार की विद्यमानता के संकेत ज्ञाताधर्मकथांग में यत्र-तत्र मिलते हैं। हस्तीशीर्ष नगरी के राजा कनकहेतु ने कालिकद्वीप से आकीर्ण नामक उत्तम जाति के अश्वों का आयात किया।[153] श्रेणिक राजा के अन्त:पुर में विदेशी दासियाँ थी।[154] राज्य द्वारा आयोजित वस्तुओं पर शुल्क लगाया जाता था लेकिन निर्यात पर किसी प्रकार के शुल्क का उल्लेख नहीं मिलता।[155] इससे स्पष्ट है कि राज्य निर्यात संवर्द्धन को बढ़ावा देकर व्यापार संतुलन की नीति का अनुकरण करते थे।

परिवहन

विनिमय में परिवहन का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान है। राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि यातायात के साधनों पर निर्भर रही है। कृषि और उद्योग से उत्पादित

वस्तुओं का व्यापार यातायात के साधनों के अभाव में संभव नहीं है।

प्राचीन जैन वाङ्गमय में उपलब्ध संदर्भों से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण भारत जल और स्थल मार्गों से जुड़ा हुआ था। 25½ आर्य देश [मगध, अंग, वंग, कलिंग, काशी, कौशल, कुरु, कुशावर्त (सुल्तानपुर), पंचाल, जांगलदेश, सौराष्ट्र, विदेह, वत्स, संडिब्बा (संडील), मलया (हजारीबाग प्रान्त), वच्छ (मत्स्य), अच्छा (बिदिलपुर), दशार्ण, चेदि, सिन्धु, सौवीर, शूरसेन, बंग, परिवर्त, कुणाल, लाढ और कैकयार्द्ध] जल और स्थल मार्गों द्वारा परस्पर जुड़े हुए थे।[156]

ज्ञाताधर्मकथांग में मुख्यत: स्थल और जल मार्गों का उल्लेख हुआ है लेकिन एक-दो स्थानों पर वायुमार्गों का भी उल्लेख मिलता है। परिवहन के विभिन्न मार्गों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

1. स्थलमार्ग

प्राचीनकालीन नगर और गाँव दोनों ही न्यूनाधिक रूप से परिवहन सुविधाओं से युक्त थे। नगरों में व्यवस्थित और प्रशस्त मार्ग निर्मित थे। ज्ञाताधर्मकथांग में इन मार्गों को दो रूपों में प्रस्तुत किया गया है- (i) 'पथ' और (ii) 'महापथ'[157] भगवती सूत्र में साधारण और कम यातायात वाले मार्ग को 'पथ' और अधिक यातायात वाले मार्ग को 'महापथ' कहा गया है।[158] ज्ञाताधर्मकथांग में इन मार्गों का शृंगाटक (सिंघाड़े के आकार के), त्रिक (तिराहा), चतुष्क (चौराहा) और प्रवह (जहाँ छ: मार्ग मिलते हों) के रूप में भी नामोल्लेख मिलता है।[159]

ग्रामों को शहरों से जोड़ने वाले सम्पर्क मार्गों पर रथ, हाथी, घोड़े, गाड़ी, पालकी आदि साधनों से यात्रा की जाती थी।[160]

ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि नगरों और गाँवों के मार्गों की समुचित देखभाल की जाती थी। धूल-मिट्टी को दबाने के लिए पानी का छिड़काव किया जाता था। उत्सवों और विशेष अवसरों पर सड़कों को तोरणों और पताकाओं से सजाया जाता था और सुगंधित द्रव्य डालकर उन्हें सुवासित किया जाता था। मेघकुमार के जन्मोत्सव के अवसर पर राजा श्रेणिक ने कौटुम्बिक पुरुषों को राजमार्गों को सिंचित कर ध्वजाओं और पताकाओं से सजाने तथा चंदन, लोबान व धूप आदि से सुवासित करने का आदेश दिया।[161]

स्थल-वाहन

स्थल मार्गों के लिए रथ, शकट, बैलगाड़ी, हाथी, घोड़ा आदि वाहन होते

थे।[162] ज्ञाताधर्मकथांग से प्रकट होता है कि देवदत्ता गणिका[163], धन्य सार्थवाह[164] तथा थावच्चा गाथापत्नी[165] के पास बहुत से यान-वाहन थे। ज्ञाताधर्मकथांग में हजार पुरुषों द्वारा वहन की जाने वाली शिविका का उल्लेख मिलता है।[166] इससे स्पष्ट है कि यह बहुत बड़ी और भव्य शिविका थी।

श्रेणिक राजा के पास सवारी के लिये हाथियों में श्रेष्ठ सेचनक नामक गंधहस्ती था।[167] कृष्ण वासुदेव विजय नामक गंधहस्ती पर सवार होकर अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ गए थे।[168]

परिवहन के लिए घोड़ों का भी बहुविध उपयोग था। घोड़ों को स्वतंत्र सवारी के अतिरिक्त रथों में भी जोता जाता था। उन्हें आभूषण और सुनहरी जीनों से सुसज्जित किया जाता था।[169]

व्यापारिक स्थल-मार्ग

देश के विभिन्न व्यापारिक केन्द्र स्थल मार्गों से एक-दूसरे से जुड़े हुए थे। ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार एक मार्ग चम्पा से अहिच्छत्र तक जाता था। इसी मार्ग से चम्पा का सार्थवाह धन्ना व्यापार के लिए गया था।[170] एक स्थल-मार्ग चम्पा से गंभीर-पोतपट्टन के समीप तक जाता था। प्रसिद्ध पोतवणिक अर्हन्नक इसी मार्ग से गंभीर-पोतपट्टन तक अपनी गाड़ियों और शकटों के साथ पहुँचा था।[171]

2. जलमार्ग

व्यापारिक दृष्टि से जलमार्गों का बहुत महत्व था। देश के बड़े-बड़े नगर जलमार्गों से जुड़े हुए थे। जलमार्गों से केवल देश के अंदर ही नहीं अपितु विदेशों में भी यात्रा की जाती थी। लोगों की यह धारणा थी कि समुद्र यात्रा से अधिक धनार्जन होगा, इसलिए व्यापारी धनार्जन की मंशा से समुद्री मार्गों से विभिन्न द्वीपों की यात्रा करते थे।[172] ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि जलयानों में विविध प्रयोजनों के लिए स्थान नियत होते थे, यथा- यान के पिछले भाग में नियामक का स्थान, अग्रभाग में देवता की मूर्ति, मध्यभाग में काम करने वाले कर्मचारियों और पार्श्व भाग में नाव खेने वाले कुक्षिधरों का स्थान होता था।[173] समुद्र यात्रा की निर्विघ्नता अनुकूल वायु पर निर्भर होती थी, अतः समुद्री हवाओं का ज्ञान रखना अत्यन्त आवश्यक था। प्रमुख पोत-वणिक अर्हन्नक ने अनुकूल हवा होने पर गंभीरपतन से चम्पा हेतु प्रस्थान किया था।[174]

प्राचीनकाल में जलयान आज जैसे सुदृढ़ नहीं होते थे। माकन्दी पुत्रों का पोतवहन तूफान में फंस गया और कुछ ही देर में भग्न होकर डूब गया।[175]

जल-वाहन

नौका, पोत और जलयान जलमार्ग से यात्रा के साधन थे। समुद्र में चलने वाले जलयान के लिए ज्ञाताधर्मकथांग में 'पोतवह' (पोतवहन) शब्द का प्रयोग किया गया है।[176] जलपोत लकड़ी के तख्तों से निर्मित होते थे। इनमें पतवार, रज्जु और डंडे लगे रहते थे।[177] जलपोतों में कपड़े के पाल लगे रहते थे जिनकी सहायता से हवा कम होने पर भी जलपोत तीव्र गति से चलता था।[178]

व्यापारिक जलमार्ग

देश की नदियाँ प्रमुख व्यापारिक नगरों को परस्पर जोड़ती थी। ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि हस्तीशीर्ष नगर के पोतवणिक कालिकद्वीप तक गए थे।[179] चम्पा के माकन्दी पुत्र जलमध्य नौका के भग्न हो जाने पर पटिया के सहारे रत्नद्वीप तक पहुँच गए।[180]

3. वायुमार्ग

सौधर्मकल्पवासी देव अपने रत्नमय विमान से निकलकर पृथ्वीतल पर अपने मित्र अभयकुमार के पास आता है।[181]

ज्ञाताधर्मकथांग में आकाश में उड़ने वाले देवयानों और विमानों का वर्णन तो मिलता है[182] लेकिन व्यापार अथवा किसी आर्थिक लाभ हेतु इस मार्ग के उपयोग के सम्बन्ध में कोई विवरण नहीं मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि उस समय देशीय और अन्तर्देशीय के लिए मुख्यत: दो ही मार्ग थे[183]– जल और स्थल। जल और स्थल के विभिन्न साधनों के परिणामस्वरूप व्यापार व उद्योग उन्नतावस्था में था।[184]

आजीविका के साधन

ज्ञाताधर्मकथांग में मनुष्य की आजीविका हेतु छ: साधनों का उल्लेख मिलता है[185], जिनमें असि (शस्त्रास्त्र या सैनिक वृत्ति), मसि (लेखन या लिपिक वृत्ति), कृषि (खेती और पशुपालन), शिल्प (कारीगरी एवं कला कौशल), शिक्षा व व्यापार वाणिज्य हैं। इन छहों साधनों में सामाजिक जीवन के प्राय: सभी व्यवसाय शामिल हो जाते हैं।

असिवृत्ति

ज्ञाताधर्मकथांग की कथाओं के अनुसार समाज में कुछ लोग शस्त्रास्त्र के माध्यम से अपनी आजीविका चलाते थे। इसके अन्तर्गत सैनिक[186], पुलिस[187], रक्षक[188] आदि का उल्लेख मिलता है। युद्ध के समय सैनिकों की एवं आन्तरिक विपत्तियों के समय पुलिस और रक्षकों की तत्परता ज्ञाताधर्मकथांग में देखी जाती है।[189] 72 कलाओं में कई प्रकार की युद्ध कलाओं का वर्णन मिलता है। ध्यान से देखने पर इनमें युद्ध सम्बन्धी बारीकियाँ भी परिलक्षित होती हैं।

मसिवृत्ति

इस वर्ग के अंतर्गत लेखक आते हैं। ये लोग राजाओं के यहाँ सरकारी लिखा-पढ़ी का कार्य सम्पन्न करते थे। ज्ञाताधर्मकथांग में द्रौपदी जब स्वयंवर मण्डप में जाने लगी तब राजाओं के परिचय लिखने वाली लेखिका भी उसके साथ गई।[190] कृष्ण वासुदेव ने पद्मनाभ राजा को लेखक के साथ पत्र भेजा।[191] यद्यपि ज्ञाताधर्मकथांग में इनके विषय में विस्तृत जानकारी नहीं मिलती है किन्तु इतना सुनिश्चित है कि राज्य में इनका महत्वपूर्ण स्थान था। पुरुषों की 72 कलाओं में 'लेखन' को सर्वप्रथम माना है।

कृषिवृत्ति

ज्ञाताधर्मकथांग में एक स्थान पर चावलों की खेती का उल्लेख मिलता है[192], लेकिन खेती से सम्बन्धित विस्तृत जानकारी नहीं मिलती है। कृषक खेत में बीज वपन करने के उपरान्त सिंचाई कर उसकी निराई-गुड़ाई करते थे। इसके बाद पुनः सिंचाई की जाती थी। फसल के पक जाने पर उसकी कटाई कर उसे खलिहान में एकत्र करते थे।[193]

माप-तौल और मूल्य

ज्ञाताधर्मकथांग में माप-तौल की इकाई के रूप में मान, उनमान और प्रमाण का उल्लेख मिलता है।[194] उस समय क्रय-विक्रय की सुविधा हेतु माप-तौल और मूल्य निर्धारण की चार प्रकार की पद्धतियाँ प्रचलित थीं- गणिम, धरिम, मेय और परिच्छेद्य।[195]

गणिम

गिनकर बेची जाने वाली वस्तुएँ 'गणिम' कहलाती थी। एक, दस, सौ,

हजार, लाख, करोड़ आदि गणना के परिमाण माने जाते थे।[196]

धरिम

तुला पर तौल कर बेची जाने वाली वस्तुएँ 'धरिम' कहलाती थी। अर्धकर्ष, कर्ष, पल, अर्धपल, तुला, अर्धभार आदि तौल के मानक प्रचलित थे।[197]

मेय

माप कर बेची जाने वाली वस्तुएँ 'मेय' कही जाती थी। माप तीन प्रकार के थे- धान्यमान, रसमान और अवमान।[198]

परिच्छेद्य

गुण की परीक्षा करके बेची जाने वाली वस्तुएँ 'परिच्छेद्य' कहलाती थी। इनमें सोना, चाँदी, मणि, मुक्ता, शंख, प्रवाल, रत्न आदि माने गए थे। इनको तौलने के लिए गुंजा-रत्ती, गुंजा-कांकणी, निष्पाव, मंडल, सुवर्ण प्रतिमान थे।[199]

समय मापने के लिए आवलिका, श्वास, उच्छ्वास, स्तोक, लव, मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग-वर्षशत से लेकर शीर्ष प्रहेलिका का उपयोग होता था।[200]

ज्ञाताधर्मकथांग में मूल्य निर्धारण सिद्धान्तों का कोई उल्लेख नहीं मिलता और न ही राज्य के नियंत्रण का संकेत मिलता है। इससे स्पष्ट है कि मूल्य निर्धारण पूर्णत: क्रेता-विक्रेता के विवेक और आपसी समझ के आधार पर किया जाता था, इसमें किसी प्रकार का सरकारी हस्तक्षेप नहीं था।

मुद्रा-सिक्का

प्राचीनकाल से ही भारत में वस्तुओं के क्रय-विक्रय और विनिमय हेतु सिक्कों का प्रचलन था। जैन ग्रंथ सूत्रकृतांग में 'मास', 'अर्धमास' और 'रूवग' को क्रय-विक्रय का साधन कहा गया है।[201] पिंडनिर्युक्ति के अनुसार दास-दासी को उनका पारिश्रमिक सोने-चांदी और तांबे में दिया जाता था।[202] जैन ग्रंथों में अनेक स्थानों पर हिरण्य और सुवर्ण के उल्लेख आए हैं। इससे प्रतीत होता है कि हिरण्य और सुवर्ण उस युग के प्रचलित सिक्के थे। ज्ञाताधर्मकथांग में कई स्थानों पर इनका उल्लेख मिलता है।[203] सोने और चांदी के माशे का नामोल्लेख भी मिलता है।[204] राजा श्रेणिक ने अपनी पुत्रवधूओं को आठ करोड़ 'हिरण्य' और आठ करोड़ 'सुवर्ण' प्रदान किए थे।[205]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि सिक्कों का प्रचलन सीमित मात्रा में था। लेन-देन वस्तु-विनिमय पद्धति से परिसम्पन्न होते थे। ज्ञाताधर्मकथांग में सिक्कों की ढलाई, आकार-प्रकार, मूल्य आदि के बारे में कोई संकेत नहीं मिलता है। संभवत: सिक्कों के रूप में बहुमूल्य धातुओं- सोने-चांदी आदि के निश्चित भार के टुकड़े प्रचलन में थे और उन पर किसी प्रकार का राज-चिह्न या मूल्य आदि अंकित नहीं होता था।

निष्कर्ष

ज्ञाताधर्मकथांग के आर्थिक अनुसंधान के पश्चात् कहा जा सकता है कि तत्कालीन समय में अर्थव्यवस्था असि, मसि व कृषि केन्द्रित थी। कृषि लोगों का मुख्य धंधा था। कृषि पूर्णत: वैज्ञानिक विधि से विभिन्न उपकरणों की सहायता से की जाती थी। पशुपालन भी आजीविका का महत्वपूर्ण साधन था।

शिल्पकर्म, वस्त्र, धातु, भांड-बर्तन, काष्ठ, चित्र, चर्म, मद्य, वास्तु, प्रसाधन, खांड व तेल आदि के उद्योगों का अर्थव्यवस्था में प्रमुख स्थान था। कहीं-कहीं विभिन्न प्रकार के कुटीर उद्योगों के संकेत भी मिलते हैं।

व्यापार सिर्फ स्थानीय ही नहीं अपितु अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी होता था। व्यापार मुख्यत: स्थल और जलमार्ग से ही होता था। परिवहन के विभिन्न साधन- रथ, बैलगाड़ी, हाथी, घोड़ा, नौका, पोत, जलयान (पोतवहन) आदि प्रचलित थे।

माप-तौल की प्रणालियों के रूप में- गणिम, धरिम, मेय और परिच्छेद्य प्रचलन में थी। सिक्कों का चलन सीमित था। अधिकांश लेन-देन वस्तु विनिमय के माध्यम से होते थे। इस प्रकार कहा जा सकता है कि अर्थव्यवस्था सुदृढ़ और विकासोन्मुख थी।

संदर्भ-

1. स्थानांगसूत्र 5/1/71
2. अष्टाध्यायी 5/2/1
3. आवश्यक चूर्णि 1/556
4. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/3/12
5. प्रश्न व्याकरण 1/17, 18, 28
6. ज्ञाताधर्मकथांग 1/7/10
7. वही 1/7/4
8. वही 1/5/47
9. वही 1/5/59
10. वही 1/5/4
11. वही 1/2/5
12. वही 1/8/55, 1/17/16
13. वही 1/9/25
14. वही 1/15/4
15. वही 1/16/6
16. वही 1/16/7
17. वही 1/16/6
18. आचारांग 2/10/166
19. सालीणि वा वीहीणि वा कोद्धवाणि वा केगुणि वा परगाणिवा रालाणि।
    -सूत्रकृतांग 2/2/698
20. ज्ञाताधर्मकथांग 1/7/12
21. (i) वही 1/7/12 (ii) भगवती 14/7/51
22. ज्ञाताधर्मकथांग 1/7/15, 1/1/15
23. प्रश्न व्याकरण 1/17, 2/13
24. ज्ञाताधर्मकथांग 1/7/12
25. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र- 6/7/1 (मधुकर मुनि)
26. ज्ञाताधर्मकथांग 1/7/13
27. अर्थशास्त्र- कौटिल्य 25/41
28. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/13
29. वही 1/2/3-5
30. वही 1/13/13
31. वही 1/2/10, 1/13/19
32. वहीं 1/3/7-8, 1/2/10
33. (i) वही 1/3/13 (ii) औपपातिक सूत्र-2
    (iii) प्रज्ञापना सूत्र 1/40
34. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/44
35. वही 1/1/44
36. वही 1/8/27
37. वही 1/8/44
38. वही 1/1/44
39. वही 1/8/180
40. वही 1/8/180
41. वही 1/1/30, 1/2/15, 1/8/44-46
42. वही 1/1/26, 1/1/90, 1/8/42
43. वही 1/8/41, 48
44. अन्तकृतदशांग 6/3/4
45. (i) औपपातिकसूत्र- 2
    (ii) प्रज्ञापना 1/40
46. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/180
47. वही 2/1/38
48. वही 1/13/13
49. (i) ज्ञाताधर्मकथांग 1/2/6, 1/5/6
    (ii) प्रश्न व्याकरण 5/1
50. उपासकदशांग 1/12, 2/14
51. ज्ञाताधर्मकथांग 1/2/6, 1/5/6
52. वही 1/3/9
53. दशवैकालिक 7/24/, 26
54. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/55
55. वही 1/3/9, 1/8/54, 1/15/4
56. वही 1/17/9
57. (i) वही 1/17/9
    (ii) आचारांग सूत्र 2/3/3/127
58. ज्ञाताधर्मकथांग 1/3/16
59. वही 1/3/22
60. वही 1/2/6, 1/5/6
61. अन्तकृतदशांग 1/5
62. भगवतीसूत्र 2/5/11
63. ज्ञाताधर्मकथांग 1/2/6
64. वही 1/5/6
65. सिप्पेण अत्थोउवज्जिणिज्जई।
    -दशवैकालिक चूर्णि, पृ. 102
66. आवश्यक चूर्णि 1/156
67. कल्पसूत्र - 63
68. दशवैकालिक सूत्र 9/13, 14
69. जातक कथा 3/8 (तिलभुवित जातक)
70. (i) बृहत्कल्पभाष्य भाग- 2 गाथा-1091,

भाग-4, गाथा-3959
(ii) आवश्यकचूर्णि भाग-2, पृ. 81
71. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/91
72. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति 3/10
73. ज्ञाताधर्मकथांग 1/13/14-19, 1/10/90
74. (i) भगवती सूत्र 9/13/180, 24/11/11
(ii) उपासकदशांग 1/4
(iii) विपाक 8/6
75. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/91
76. वही 1/8/103-104
77. वही 1/8/90
78. 'जत्थ कम्मविज्जंति सा कम्मंतसाला'
-निशीथचूर्णि भाग- 2, पृ. 433
79. ज्ञाताधर्मकथांग 1/13/14-18
80. ''सद्धालपुत्तस्स
पोलासपुरस्सनगरस्यबहिया
पंचकुंभकारावणसया''
-उपासकदशांग 7/8
81. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/17
82. वही 1/1/30
83. वही 1/1/44
84. वही 1/1/142
85. वही 1/1/158, 1/5/23, 1/8/180
86. वही 1/17/15
87. वही 2/1/30
88. वही 1/1/99
89. वही 1/17/10
90. निशीथचूर्णि भाग-3, गाथा-3720
91. ज्ञाताधर्मकथांग 1/7/12
92. ज्ञाताधर्मकथांग 1/19/16, 43, 1/18/22
93. वही 1/16/28, 1/2/42, 1/13/18
94. वही 1/1/99
95. आचारांग 2/6/1/152
96. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/30, 1/1/142
97. वही 1/8/35
98. वही 1/8/87
99. वही 1/1/102-103
100. वही 1/1/17
101. औपपातिक सूत्र- 41
102. ज्ञाताधर्मकथांग 1/3/9
103. वही 1/1/69, 1/1/149, 1/13/7-10
104. वही 1/1/44
105. वही 1/1/91
106. वही 1/12/16
107. वही 1/1/134
108. वही 1/8/167
109. उपासकदशांग 7/19
110. ज्ञाताधर्मकथांग 1/17/15
111. वही 1/2/33
112. वही 1/1/17
113. वही 1/1/31
114. वही 1/8/95-96
115. वही 1/8/97
116. वही 1/13/14
117. वही 1/15/5
118. वही 1/1/44
119. वही 1/18/23
120. वही 1/2/29
121. प्रज्ञापना सूत्र 1/106
122. ज्ञाताधर्मकथांग 1/16/122
123. वही 1/5/64
124. वही 1/1/77, 90
125. वही 1/13/12
126. वही 1/1/29, 1/2/42, 1/13/18
127. वही 1/13/18
128. वही 1/1/30
129. वही 1/1/77, 90, 1/16/115
130. वही 1/17/15
131. वही 1/15/4-5
132. वही 1/17/15
133. वही 1/16/6
134. वही 1/1/29
135. वही 1/1/30
136. वही 1/2/33
137. वही 1/7/12
138. वही 1/8/41
139. वही 1/1/120
140. वही (i) 1/15/4-5

(ii) उपासकदशांग 1/12
141. ज्ञाताधर्मकथांग 1/2/8
142. वही 1/5/6
143. वही 1/2/8
144. वही 1/2/6, 1/5/6, 1/3/6
145. 'सत्थं वाहेति सो सत्थवाहो'
-निशीथचूर्णि भाग-2, गाथा-1785, 2502
146. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/54, 1/15/8
147. वही 1/8/54, 1/15/7
148. वही 1/15/5-7
149. वही 1/5/6, 1/3/6
150. वही 1/8/57
151. वही 1/8/74, 1/15/15-16, 1/17/10
152. वही 1/8/75
153. वही 1/17/25
154. वही 1/1/96
155. वही 1/15/16
156. (i) वही 1/1/2, 13, 1/8/52, 1/8/24
(ii) प्रज्ञापना सूत्र 9/102
(iii) बृहत्कल्पभाष्य भाग-3, गाथा-3263
157. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/82, 1/5/21
158. भगवती सूत्र 2/5/96
159. (i) ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/77, 82
(ii) बृहत्कल्पभाष्य भाग-3, गाथा-2300
160. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/82, 1/5/11
161. वही 1/1/90
162. (i) वही 1/1/82, 1/3/9
(ii) सूत्रकृतांग 1/3/2/197
163. ज्ञाताधर्मकथांग 1/3/6
164. वही 1/2/6
165. वही 1/5/6
166. वही 1/5/152, 1/5/22
167. वही 1/1/78
168. वही 1/5/12, 1/16/92-93
169. (i) वही 1/1/112, 1/12/10, 1/14/6
(ii) औपपातिक सूत्र- 49
170. वही 1/15/8
171. वही 1/8/54
172. वही 1/9/4
173. वही 1/8/58
174. वही 1/8/75
175. वही 1/9/10-11
176. वही 1/9/11-12
177. (i) वही 1/9/10
(ii) आचारांग 2/3/1/119
178. (i) ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/59
(ii) औपपातिक सूत्र- 32
179. ज्ञाताधर्मकथांग 1/17/3
180. वही 1/9/14
181. वही 1/1/69
182. वही 1/7/72
183. वही 2/8/75
184. वही 2/9/77
185. वही 2/10/79
186. वही 1/5/5, 1/8/128-129, 1/16/174
187. वही 1/5/5
188. वही 1/2/26, 1/18/26
189. वही 1/2/26, 1/8/128-129
190. वही 1/16/119
191. वही 1/16/180
192. वही 1/7/9
193. वही 1/7/9-14
194. वही 1/1/15
195. (i) वही 1/8/54, 1/9/8, 1/15/4
(ii) निशीथचूर्णि भाग-1 गाथा-242
196. अनुयोगद्वार 17/90
197. वही 14/189
198. (i) वही 14/188, 14/190
(ii) ज्ञाताधर्मकथांग- 1/17/12-15
199. अनुयोगद्वार- 14/191 सूत्र 132
200. कौटिल्य अर्थशास्त्र 2/20/38, पृ. 241
201. सूत्रकृतांग 2/2/7/3
202. पिंडनिर्युक्ति गाथा- 405
203. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/105, 1/5/6
204. वही 1/5/49
205. वही 1/1/105

षष्ठम परिवर्त

ज्ञाताधर्मकथांग में राजनैतिक स्थिति

समाज व देश की रक्षा, उत्थान व विकास के लिए श्रेष्ठ राजा व सुदृढ़ राज्य का होना नितान्त आवश्यक है। उसी राज्य का कल्याण हो सकता है, जिस राज्य का राजा बलवान हो। राजा के बिना राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। तत्कालीन समाज में राजा राज्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति था। उसके आदेश के बिना राज्य में पत्ता भी नहीं हिल सकता था। कौटिल्य ने तो राजा को ही राज्य स्वीकार किया है।[1]

राजा और राज्य

ज्ञाताधर्मकथांग में विभिन्न राजाओं और उनके राज्यों का नामोल्लेख मिलता है, जिन्हें अग्रांकित सारणी द्वारा निर्देशित किया जा रहा है-

क्र.सं.	राजा का नाम	राज्य का नाम
1.	कुणिक राजा[2]	चम्पा नगरी
2.	श्रेणिक राजा[3]	राजगृह नगरी
3.	मेघकुमार[4]	राजगृह नगरी
4.	शैलक[5]	शैलकपुर
5.	बलराजा[6]	वीतशोका
6.	महाबल[7]	वीतशोका
7.	बलभद्र[8]	वीतशोका
8.	प्रतिबुद्धिराजा[9]	इक्ष्वाकु देश
9.	चन्द्रच्छाय[10]	अंगदेश
10.	शंखराजा[11]	काशीदेश
11.	रुक्मि[12]	कुणालदेश
12.	अदीनशत्रु[13]	कुरुदेश
13.	जितशत्रु[14]	पंचाल
14.	कुम्भ राजा[15]	मिथिला
15.	जितशत्रु[16]	चम्पा

16.	कनकरथ[17]	तैतलिपुर
17.	कनकध्वज[18]	तैतलिपुर
18.	जितशत्रु[19]	चम्पानगरी
19.	कनककेतु[20]	अहिच्छत्रा नगरी
20.	द्रुपद[21]	काम्पिल्यपुर
21.	*पाण्डु राजा*[22]	*हस्तिनापुर*
22.	सेल्लक[23]	चम्पा नगरी
23.	शिशुपाल[24]	शुक्तिमती नगरी
24.	दमदंत[25]	हस्तीशीर्ष
25.	धर राजा[26]	मथुरा
26.	सहदेव[27]	राजगृह
27.	रुक्मि राजा[28]	कौण्डिन्य नगर
28.	कीचक[29]	विराटनगर
29.	पद्मनाभ[30]	अमरकंका
30.	पाण्डुसेन[31]	पाण्डुमथुरा
31.	कनककेतु[32]	हस्तीशीर्ष
32.	महापद्म[33]	पुण्डरीकिणी
33.	पुण्डरीक[34]	पुण्डरीकिणी
34.	कंडरीक[35]	पुण्डरीकिणी
35.	नंदिराजा[36]	चम्पानगरी
36.	कृष्ण वासुदेव राजा	द्वारवंतीनगरी
37.	उग्रसेन राजा	द्वारवंतीनगरी
38.	युधिष्ठर राजा	हस्तिनापुर
39.	कपिल वासुदेव राजा	पूर्वार्ध धातकी खण्डीय चम्पानगरी

ये सभी राजा अपने-अपने राज्य के सर्वोच्च अधिकारी थे।

राजा का स्वरूप, गुण, अधिकार एवं कर्त्तव्य

ज्ञाताधर्मकथांग में नामांकित राजाओं के स्वरूप व गुणों का उल्लेख करते

हुए औपपातिक सूत्र में कहा गया है कि ये राजा सर्वगुणसम्पन्न थे, क्षत्रिय थे, जनता को आक्रमण तथा संकट से बचाने वाले थे। वे महाहिमवान पर्वत के समान महत्ता तथा मलय, मेरु एवं महेन्द्र पर्वत के समान विशिष्टता से युक्त थे। वे राजा राज्योचित लक्षणों से सम्पन्न थे। वे सम्मानित, करुणाशील, क्षेमकर, क्षेमधर, पितृतुल्य, प्रतिपालक, हितकारक, कल्याणकारक, नरप्रवर, नरश्रेष्ठ, पुरुषवर आदि गुणों से सम्पन्न थे। कठोरता व पराक्रम में सिंहतुल्य, रौद्रता में बाघतुल्य, अपने क्रोध को सफल बनाने में सर्पतुल्य थे। सुखार्थी, सेवाशील, विरोधी राजा रूपी हाथियों के मानभंजक रूप गंधहस्ती के समान, समृद्ध, सुप्रसिद्ध एवं ऋद्धि सम्पन्न, कोषवर्धक, कल्याणमय, निरुपद्रव, तत्त्ववेत्ता, धर्मानुरागी, श्रमणोपासक, कुशल प्रशासक, न्यायप्रिय एवं दूरदर्शी थे।[37]

पद्मपुराण में कहा गया है कि राजा द्वारा ही धर्म का अभ्युदय होता है।[38] ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि थावच्चा गाथापति पुत्र के दीक्षोत्सव के लिये छत्र, चामर आदि मांगने कृष्ण महाराज के पास गई तो उन्होंने कर्त्तव्य परायणता का तथा 16 हजार राजाओं के राजा अर्द्ध भरत के अधिपति श्री कृष्ण का थावच्चापुत्र की परीक्षा हेतु सहजरूप से थावच्चा के घर जा पहुँचना उनकी असाधारण महत्ता और निरंकारिता का द्योतक है। लोगों को प्रव्रज्जा के लिए प्रेरित करने हेतु कृष्ण वासुदेव ने द्वारिका में घोषणा करवायी कि जो भी व्यक्ति प्रव्रज्या ग्रहण करेगा, उसके परिवार के भरण-पोषण का दायित्व कृष्ण वासुदेव वहन करेंगे।[39] परिणामस्वरूप एक हजार लोगों ने थावच्चापुत्र के साथ दीक्षा अंगीकार की।[40] इससे उनकी धर्म श्रद्धा, धर्म दलाली, कथनी-करनी की एकरूपता, धर्मानुराग की झलक मिलती है जो कि सामान्य राजाओं में दुर्लभ है।

राजा न्याय के तराजू में सबको बराबर समझता था। श्रेणिक राजा ने किसी अपराध के कारण धन्य सार्थवाह को भी कारागार में विजयचोर के साथ बेड़ी में बांधकर रखा।[41]

वासुदेव कृष्ण ने पाण्डवों की सहायता कर शरणागत वत्सलता का उदाहरण प्रस्तुत किया।[42]

उस समय के राजा के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि- ''नेहिल नजरों से निहारा निहाल हो गए, जिनसे नजरें फिराली व कंगाल हो गए।'' राजा कनककेतु ने कालिक द्वीप से आकीर्ण घोड़े लाने वाले नौकावणिकों का सत्कार-सम्मान कर उन्हें पुरस्कृत किया।[43] राजा की दृष्टि कठोर हो गई तो वह कुछ भी

सजा दे सकता था। मल्ली के भग्न स्वर्ण-कुण्डल न जोड़ पाने के कारण कुंभराजा ने स्वर्णकार को देश निर्वासन की आज्ञा दी[44] तथा मल्ली का चित्र देखकर कुपित हुए राजकुमार मल्लदिन ने चित्रकार के दाहिने हाथ के अंगूठे और उसके पास की अंगुली का छेदन करवाकर उसे देश से निर्वासित कर दिया।[45]

पद का व्यामोह मानवीय संवेदना की बलि मांगने लगता है। इसी तरह का प्रसंग उपस्थित होता है ज्ञाताधर्मकथांग में- जब राजा कनकरथ अपनी प्रत्येक संतान का अंग छेदन मात्र इसलिए करवा देता है ताकि वह पद का अधिकारी न बन सके।[46]

राजा निर्वासन

ऋग्वेद और अथर्ववेद के कई सूक्तों में प्रजा के द्वारा राजा के निर्वाचन का उल्लेख है[47], लेकिन ज्ञाताधर्मकथांग में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता है। राजा वंश परम्परा से बनते थे। बलराजा के बाद उसका पुत्र महाबल और महाबल के बाद उसका पुत्र बलभद्र वीतशोका नगरी के राजा बने।[48]

राज्याभिषेक

वैदिककाल में राजत्व के लिए राज्याभिषेक होना अनिवार्य था। अनभिषिक्त राजा निन्दनीय एवं अवैध समझा जाता था।[49] ज्ञाताधर्मकथांग में मेघकुमार[50], मण्डुककुमार, कनकध्वज[51], पाण्डुसेन[52] और कंडरीक[53] आदि के राज्याभिषेक का उल्लेख मिलता है। राज्याभिषेक समारोह की भव्यता प्रतिपादित करते हुए बताया गया है कि मेघकुमार ने दीक्षा लेने का निश्चय किया, लेकिन माता-पिता के अत्यधिक आग्रह पर वह एक दिन के लिए राजसम्पदा का उपयोग करने के लिए तत्पर हो गया। अनेक गणमान्य, दंडनायक, कौटुम्बिक आदि पुरुषों से परिवृत्त हो उन्हें सोने-चांदी, मणि-मुक्ता आदि के आठ सौ चौसठ कलशों से स्नान करवाया गया। मृत्तिका, पुष्प, गंधमाल्य, औषधि, सरसों आदि से उन्हें परिपूर्ण करके सर्व समृद्धि, द्युति तथा सर्व सैन्य के साथ, दुंदुभि के निर्घोष की प्रतिध्वनि के शब्दों के साथ उच्चकोटि के राज्याभिषेक से अभिषिक्त किया।[54]

वैकल्पिक व्यवस्था

दीक्षित राजपुत्र कभी-कभी संयम धारण करने में अपने आपको असमर्थ पा दीक्षा त्यागकर लौट आता तो उसका ज्येष्ठ भ्राता उसे अपने आसन पर बिठा देता और स्वयं उसका स्थान ग्रहण करता यानी संयम अंगीकार कर लेता।

ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि पुण्डरीकिणी नगरी के दो राजकुमारों- पुण्डरीक और कण्डरीक में से कण्डरीक ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली, लेकिन कुछ समय बाद संयम पालन में असमर्थ हो, दीक्षा छोड़कर लौट आया। यह देखकर उसके भ्राता पुण्डरीक ने कण्डरी को राज्य सौंप दिया और स्वयं श्रमणधर्म में प्रव्रजित हो गया।[55]

किसी राजा के उत्तराधिकारी (पुत्र) एकाधिक होने पर ज्येष्ठ पुत्र को राजा बनाया जाता था और उससे कनिष्ठ पुत्र को युवराज बना दिया जाता था। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि महापद्म राजा ने दीक्षा अंगीकार करने से पूर्व अपने ज्येष्ठ पुत्र पुण्डरीक का राज्याभिषेक किया और कनिष्ठ पुत्र कण्डरीक को युवराज बना दिया।[56]

राजा को उपहार

अधीनस्थ राजा, सामन्त, ऋषि एवं प्रजा अपने राजा को यथाशक्ति उपहार प्रदान करते थे। दिग्विजय, विवाहोत्सव, राज्याभिषेकोत्सव, विजयोत्सव या अन्य किसी शुभावसर पर उपहार प्रदान करने की प्रथा ज्ञाताधर्मकथांग में अनेक स्थलों पर देखने को मिलती है। हार, मुकुट, कुण्डल, रत्न, वस्त्र, कण्ठाहार, कवच, बाजूबन्द, कड़ा, करधनी, पुष्पमाला, कटिसूत्र आदि अनेक वस्तुएँ राजा को उपहार स्वरूप दी जाती थी।[57]

राजा के प्रकार

ज्ञाताधर्मकथांग में अग्रांकित प्रकार के राजाओं का उल्लेख मिलता है[58]-

1. जो बाद में अरिहन्त बने- अरिष्टनेमि (1/5/7), मल्ली (1/8/181)
2. चक्रवर्ती- भरत (1/1/35)
3. वासुदेव- कृष्ण वासुदेव (1/5/5), कपिल वासुदेव (1/16/195)
4. मांडलिक- मेघकुमार (1/1/131)
5. क्षत्रिय- श्रेणिक (1/1/14), कुणिक (1/8/181)
6. दशार्ह- समुद्रविजय आदि 10 भाई (1/16/86), महावीर (1/16/186), युवराज (1/16/86)[59]

राज्य का स्वरूप

एक समय ऐसा था जब न राजा था और न ही राज्य, सभी कार्य धर्म के अनुसार स्वत: होते थे। वह समय कल्पवृक्षों का था।[60] धीरे-धीरे कल्प वृक्षों का

ह्रास हुआ, आपराधिक वृत्तियाँ बढ़ने लगी, तब लोगों को राज्य और राजा की आवश्यकता महसूस हुई। इस प्रकार धीरे-धीरे राज्य परम्परा प्रारम्भ हुई।

ज्ञाताधर्मकथांग काल तक आते-आते यह परम्परा सुदृढ़ हो चुकी थी। ज्ञाताधर्मकथांग के विभिन्न संदर्भों में चम्पानगरी[61], राजगृह[62], शैलकपुर[63], वीतशोका[64], इक्ष्वाकुदेश[65], अंगदेश[66], काशीदेश[67], कुणालदेश[68], कुरुदेश[69], पंचाल[70], मिथिला[71], तेतलिपुर[72], अहिच्छत्रा[73], काम्पिल्यपुर[74], हस्तिनापुर[75], शुक्तिमती[76], हस्तीशीर्ष[77], मथुरा[78], कौण्डिन्य[79], विराटनगर[80], अमरकंका[81], पाण्डुमथुरा[82], पुण्डरीकिणी[83], द्वारिका[84] आदि राज्यों का उल्लेख मिलता है।

राज्य के सप्तांग

ज्ञाताधर्मकथांग में राज्य के सप्तांग के रूप में- 1. राज्य (शासन), 2. राष्ट्र, 3. कोष, 4. कोठार (अन्न भण्डार), 5. बल (सेना), 6. वाहन, 7. पुर (नगर) और 8. अन्त:पुर का नामोल्लेख मिलता है। अभयकुमार राजगृहनगर के इन सप्तांगों की देखभाल करता था।[85] 1. राज्य का अर्थ शासन, 2. राष्ट्र का अर्थ देश है, 3. कोष शब्द का अर्थ लक्ष्मी का भण्डार है, 4. धान्यगृह का नाम कोठार है, 5. हस्ती, अश्व, रथ एवं पदातियों के समुदाय का नाम बल है, 6. शिविका आदि व भार को ढोने वाले खच्चर-गधा आदि का नाम वाहन है, 7. नगर का अर्थ पुर है, 8. राज-स्त्रीजन जहाँ निवास करती है, उस स्थान का नाम अन्त:पुर है।[86]

राज व्यवस्था

ज्ञाताधर्मकथांग काल में राजा ही राज्य का सर्वोच्च अधिकारी होता था, अत: राजव्यवस्था राजा के इर्द-गिर्द घूमती थी। राज-व्यवस्था में विक्रेन्द्रीकरण के अभाव के कारण भ्रष्टाचार व अनैतिकता का बोलबाला था। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि धन और कन्या का अपहरण होने के पश्चात् जब धन्यसार्थवाह नगर-रक्षकों के समक्ष फरियाद करने जाता है तो उसे बहुमूल्य भेंट लेकर जाना पड़ता है। इसके सिवाय उसे यह भी कहना पड़ता है कि चोरों द्वारा लूटा गया माल तुम्हारा होगा, मुझे केवल अपनी पुत्री चाहिए। धन्य सार्थवाह के ऐसा कहने पर नगर-रक्षक अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर जाते हैं और चोरों को परास्त करते है, मगर चुराया हुआ धन जब उन्हें मिल जाता है तो वहीं से वापिस लौट आते हैं। सुंसुमा कन्या को छुड़ाने के लिए वे कुछ नहीं करते, मानों उन्हें धन की ही चिन्ता थी, लड़की की नहीं।[87] इसी तरह धन्य सार्थवाह अपने पुत्र देवदत्त

की खोज के लिए नगर रक्षकों को रिश्वत (बहुमूल्य भेंट) देता है।[88]

धन्य सार्थवाह कोई सामान्यजन नहीं था। सार्थवाह का समाज में उच्च और प्रतिष्ठित स्थान होता है। जब उस जैसे प्रतिष्ठित व्यक्ति को भी भेंट (रिश्वत) देनी पड़ी तो साधारणजनों की क्या स्थिति होगी, यह समझना कठिन नहीं होगा।

न्याय के तराजू में राजा और रंक के साथ कोई भेदभाव नहीं था। अनीति का दण्ड सबको दिया जाता था, चाहे वह फिर राजा ही क्यों न हो। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि पद्मनाथ राजा की अनीति के कारण कपिल वासुदेव ने उसे देश निर्वासन का आदेश दिया।[89]

राजदंड से मुक्ति के लिए जुर्माना भरने का भी उल्लेख ज्ञाताधर्मकथांग में मिलता है। धन्य सार्थवाह को परिवार वालों ने जुर्माना चुकाकर राजदंड से मुक्त कराया।[90]

अपराधियों को कारागार (चारकशाला) में बांधकर रखा जाता था। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि विजयचोर को बेड़ियों में बांधकर चारकशाला में डाल दिया गया।[91]

धन्य सार्थवाह को छोटा-सा राजकीय अपराध करने पर कारागार में बंद कर दिया गया।[92] चारकशाला नगर के बाहर (किनारे) होने का उल्लेख मिलता है।[93] राजपरिवार के विशिष्ट उत्सवों के अवसर पर कैदियों को कारागार से रिहा कर दिया जाता था।[94] नगररक्षकों ने विजय चोर को मालुकाकच्छ में पंचों की साक्षी में पकड़ा।[95] इससे स्पष्ट है कि अपराध को सिद्ध करने के लिए साक्षी का होना अनिवार्य समझा जाता था।

राज्य के अधिकारी (प्रमुख कर्मचारी)

राजव्यवस्था को संचालित करने के लिए राजा द्वारा विभिन्न अधिकारियों या कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती थी। ज्ञाताधर्मकथांग में विभिन्न प्रकार के राज्य कर्मचारियों या अधिकारियों का उल्लेख मिलता है, जो राजकार्य में राजा की सहायता करते थे। इनका विवेचन इस प्रकार है-

अमात्य

किसी भी राजा की सफलता और राज्य की सुदृढ़ता बहुत कुछ अमात्य पर निर्भर करती है। अमात्य की कुशलता राज्य को सुदृढ़ता और समृद्धि की ओर

ले जाती है।

ज्ञाताधर्मकथांग में मंत्री[96], महामंत्री[97] और अमात्य[98] शब्द समानार्थी रूप में प्रयुक्त हुए हैं। कौटिल्य के विचारानुसार जिस प्रकार एक चक्र से रथ नहीं चल सकता, उसी प्रकार बिना मंत्रियों की सहायता के राजा स्वतः राज्य का संचालन नहीं कर सकता।[99] राजा श्रेणिक अपने पुत्र अभय से विभिन्न विषयों पर मंत्रणा करता था। राजा श्रेणिक के लिए अभयकुमार मेढ़ीभूत, प्रमाणभूत, आधारभूत, आलम्बनभूत, चक्षुभूत के रूप में था। श्रेणिक गोपनीय कार्यों व निर्णयों में उसकी राय लेता था।[100] इसी तरह अमात्य सुबुद्धि[101] और अमात्य तैतलीपुत्र[102] ने अपने व्यक्तित्व और कर्तृत्व से राजा व प्रजा के मध्य अपनी विशिष्ट पहचान बनाई। अमात्य अभयकुमार चार बुद्धियों- औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी से युक्त था। अमात्य तैतलिपुत्र साम, दाम, भेद और दंड- इन चारों नीतियों का प्रयोग करने में निष्णात था।[104] मंत्री सुबुद्धि श्रमणोपासक और जीव-अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञाता था।[105]

शैलक राजा के पंथक आदि 500 मंत्री/अमात्य थे।[106] उस समय के मंत्रियों में राजा के प्रति कितनी समर्पणा थी, वह इस बात से स्पष्ट हो जाती है कि जब शैलकराजा दीक्षा लेने को तत्पर होता है तो उसके पंथक आदि 500 मंत्री भी दीक्षा लेने को तत्पर हो जाते है।[107]

इसके आधार पर कहा जा सकता है कि मंत्री राजा के प्रति हृदय से समर्पित थे, आज की तरह वे राजा को पदच्युत करने और स्वयं गद्दी हड़पने का प्रयास नहीं करते थे, परिणामस्वरूप राजनीतिक स्थिरता का माहौल था।

सेनापति

चतुरंगिणी सेना के अधिपति को सेनापति कहते हैं।[108] सेनापति का पद महत्वपूर्ण होता था। राजा के विश्वासपात्र व्यक्ति अथवा राजकुमारों में से सेनापति का चयन किया जाता था। देश की रक्षा और युद्ध में विजय का उत्तरदायित्व उस पर होता था।

ज्ञाताधर्मकथांग में सेनापति[109] शब्द का उल्लेख एकाधिक स्थानों पर मिलता है, लेकिन इसका समग्र परिचय नहीं मिलता है। अन्य प्राचीन ग्रंथों में सेनापति के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सेनापति को कुलीन, शीलवान, धैर्यवान, अनेक भाषाओं का ज्ञाता, गजाश्व की सवारी में दक्ष, शस्त्रास्त्र का ज्ञाता, शकुनविद, प्रारम्भिक चिकित्सा का ज्ञाता, वाहन विशेषज्ञ, दानी, मृदुभाषी,

बुद्धिमान, दृढ़प्रतिज्ञ व शूरवीर होना चाहिए।[110]

श्रेष्ठी (नगर सेठ)

राजा से प्राप्त श्री देवता के चिह्न से अंकित पट्टेवाला। ज्ञाताधर्मकथांग में विभिन्न स्थानों पर 'श्रेष्ठी'[111] का उल्लेख है। उपर्युक्त संदर्भों में श्रेष्ठी की परिभाषा तो नहीं मिलती लेकिन ऐसा संकेत मिलता है कि यह प्राय: अमात्य, सेनापति, कौटुम्बिक, मांडविक (चारों ओर नगर आदि से शून्य, मडम्ब और उसका अधिराज 'माडाम्बिक'। मडम्ब की व्यवस्था करने वाला, कलक्टर, चूंगीवाला, नाकादार, सामरवाला, कर एकत्र कर्ता अधिकारी।- सचित्र अर्द्ध मागधी कोष, भाग-4), इभ्य आदि के साथ ही रहता था।

'श्रेष्ठी' को परिभाषित करते हुए अनुयोगद्वार चूर्णि में कहा गया है कि अभिषेक करती हुई लक्ष्मी देवी का चित्र जिसमें अंकित हो, वैसा वेष्टन बांधने वाला और सब वणिकों का अधिपति श्रेष्ठी कहलाता है।[112]

लेखवाह

ज्ञाताधर्मकथांग में लेखवाह/पत्रवाह शब्द तो प्रयुक्त नहीं हुआ है, लेकिन कृष्ण वासुदेव दारुक सारथी के हाथों एक पत्र पद्मनाभ राजा को भेजता है, जिसमें द्रौपदी देवी को लौटाने की बात लिखी रहती है।[113] इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय पत्रवाहक होते थे, जिनकी नियुक्ति पत्र लाने-ले जाने के लिए की जाती थी।

नगररक्षक

ज्ञाताधर्मकथांग में 'नगररक्षक' का उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है। इनका मुख्य कार्य चोर आदि को पकड़ना और नगर की सुरक्षा करना था। ये भ्रष्टाचार में आंकठ डूबे थे।[114]

तलवर

ज्ञाताधर्मकथांग में राज कर्मचारी के रूप में 'तलवर' शब्द प्रयुक्त हुआ है। तलवर उसे कहा है जिन्हें राजा के द्वारा स्वर्ण के पट्टे दिए जाते थे।[115] महाभारत में 'तलवर' शब्द का प्रयोग कोतवाल अर्थात् नगररक्षक के लिए हुआ है।[116]

दूत

एक राज्य जिस व्यक्ति के माध्यम से दूसरे राज्य को राजनीतिक संदेश भेजता है, उस व्यक्ति को दूत कहते हैं। ज्ञाताधर्मकथांग में एकाधिक स्थानों पर

'दूत' का उल्लेख मिलता है।[117] राजा अपने विरोधी राज्य में अथवा किसी अन्य राज्य की कन्या के साथ मंगनी करने का प्रस्ताव दूत के माध्यम से भेजते थे।[118] दूत अन्य देश के राजा से वार्ता में अपने स्वामी के कथन के अलावा कुछ भी नहीं कहता था।[119] यदि वह संदेश राजा को स्वीकार होता तो वह उस दूत का खूब आदर-सत्कार करते[120] और राजा के प्रतिकूल समाचार होने पर उसे फटकारकर पिछले द्वार से भगा दिया जाता था।[121] दूत को राजनीति में अवध्य माना जाता था।[122] दूत के लिए विशेष पोशाक का उल्लेख भी मिलता है। द्रौपदी के स्वयंवर का संदेश लेकर जब दूत अन्य राजाओं को निमंत्रण देने जाता है तब वह अंगरक्षा के लिए कवच धारण करके, धनुष लेकर और भुजाओं पर चर्म की पट्टी बांधकर, ग्रीवा रक्षक धारण करके, मस्तक पर गाढ़ा बंधा चिह्नपट्ट धारण करके अस्त्र-शस्त्र से युक्त होकर जाता है।[123] अमात्य[124] व सारथी[125] द्वारा दूत कार्य (दौत्यकर्म) करने का उल्लेख मिलता है।

कौटुम्बिक पुरुष

कुटुम्बों के स्वामी का नाम कौटुम्बिक है।[126] ज्ञाताधर्मकथांग में कौटुम्बिक पुरुषों द्वारा नगर में राजाज्ञा की घोषणा होती थी।[127] इसके आधार पर कहा जा सकता है कि कौटुम्बिक पुरुष उद्घोषक के रूप में काम करते थे।

दास-दासियाँ

स्वामी-सेवक भाव हर युग में किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहा है। ज्ञाताधर्मकथांग भी इससे अछूता नहीं है-

- धन्य सार्थवाह के दास (दासीपुत्र), प्रेष्य (कामकाज के लिए बाहर भेजे जाने वाले नौकर), भृतक (जिनका बाल्यावस्था में पालन-पोषण किया हो) आदि कई प्रकार के दास थे।[128]
- मेघकुमार का लालन-पालन करने के लिए पाँच धाएँ (दासियाँ) नियोजित की गई थी-(1) क्षीरधात्री- दूध पिलाने वाली, (2) मंडनधात्री- वस्त्राभूषण पहनाने वाली धाय, (3) मज्जनधात्री- स्नान कराने वाली धाय, (4) क्रीड़ापनधात्री- खेल खेलाने वाली धाय, (5) अंकधात्री- गोद में लेने वाली धाय। इनके अतिरिक्त चिलात, बर्बर, बकुश, योनक, पल्हविक, ईसिनिक, धोरूकिन, ल्हासक, लकुश, द्रविड़, सिंहल, अरब, पुलिंद, पक्कण, बहल, मुरूंड, पारस, शबर आदि अठारह देशों की दासियाँ अहर्निश मेघकुमार के लालन-पालन में नियुक्त की गई थी।[129]

- धारिणी देवी की सेवा में अंग परिचारिकाएँ (शरीर की सेवा शुश्रूषा करने वाली) तथा आभ्यंतर दासियाँ नियोजित थी।[130] द्रौपदी की सेवा में लेखिकादासी- लिखने वाली[131] तथा प्रेषणकारिणी दासी[132] (इधर-उधर आने-जाने का काम करने वाली) थी। अन्त:पुर की सुरक्षा व वहाँ के कार्य की चिन्ता रखने वाले विशेष दास- कंचुकी, महत्तरक आदि हुआ करते थे।[133]
- प्रसन्न होने पर राजा द्वारा दास-दासियों का बहुमूल्य उपहार देने और हमेशा के लिए दासत्व से मुक्त करने का उल्लेख भी मिलता है। श्रेणिक राजा ने पुत्र जन्म का शुभ संवाद देने वाली दासियों को विपुल द्रव्य देकर सम्मानित किया और उन्हें दासीपन से मुक्त कर दिया।[134]

अन्य कर्मचारी

उपर्युक्त राजकर्मचारियों के अलावा ज्ञाताधर्मकथांग में कुछेक कर्मचारियों का नामोल्लेख और मिलता है जिनमें से प्रमुख हैं- ज्योतिषी, द्वारपाल, चेट (पैरों के पास रहने वाले सेवक), पीठ मर्द (सभा के समीप रहने वाले सेवक मित्र)[135], स्वप्न पाठक[136] आदि। ये सभी कर्मचारी राजा की सेवा में तत्पर रहते थे।

सभी कर्मचारियों को भोजन व वेतन देने का उल्लेख नहीं मिलता, लेकिन भोजनशाला में भोजन बनाने वाले कर्मचारियों को भोजन व वेतन देने का उल्लेख मिलता है।[137]

कर्मचारियों की स्थिति

प्राचीनकाल में सेवकों यानी कर्मचारियों को समाज में कितना सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था, यह बात ज्ञाताधर्मकथांग में कई स्थानों पर दृष्टिगोचर होती है। उन्हें 'कौटुम्बिक पुरुष' अर्थात् परिवार का सदस्य समझा जाता था और महामहिम मगध सम्राट श्रेणिक जैसे पुरुष भी उन्हें 'देवानुप्रिय' कहकर संबोधित करते थे।[138]

आय-व्यय के स्रोत (राजकीय कोष)

किसी भी राष्ट्र की राजनीतिक सुदृढ़ता के लिए आर्थिक-व्यवस्था का सुदृढ़ होना परमावश्यक है। आर्चाय चाणक्य ने राज्य और अर्थ के सम्बन्ध के विषय में स्पष्ट कहा है कि धर्म का आधार अर्थ है और अर्थ का आधार राज्य है।[139] अत: राजा को अपने यहाँ एक कोष रखना चाहिए।

ज्ञाताधर्मकथांग में कोष रखने के स्थान यानी खजाने के लिए 'श्रीगृह' शब्द आया है।[140]

आचार्य कौटिल्य ने आय के साधनों को सात भागों में बांटा है- दुर्ग, राष्ट्र, खनि, सेतु, वन, व्रज और वणिक-पथ (व्यापार सम्बन्धी कार्य)[141] इनमें कुछ विशेष उल्लेखनीय आय के साधन ये हैं- शुल्क (चुंगी), दण्ड (जुर्माना), तेल-घी आदि के विक्रेताओं से कर, द्यूत, वास्तुक (शिल्पी), बढ़ई, लुहार, सुनार आदि से कर लेना, खेती-धान्य का छठा अंश, उपहार कर, व्यापार कर, तट कर, खनिजों पर कर, फल-फूल पर कर, स्थलमार्ग और जलमार्ग पर यातायात कर आदि।[142] ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार उस समय आय के स्रोत के रूप में चुंगी, कर, बेगार, दंड (अपराध के अनुसार लिया जाने वाला द्रव्य) एवं ऋण आदि का प्रचलन था।[143] कर आदि माफ करने का उल्लेख भी एकाधिक स्थानों पर मिलता है। राजा श्रेणिक ने पुत्र जन्मोत्सव के अवसर पर कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर कहा- दस दिनों तक शुल्क (चुंगी) लेना बंद किया जाए। गायों वगैरह का प्रतिवर्ष लगने वाला कर माफ किया जाए, कुटुम्बियों-किसानों आदि के घर में बेगार आदि लेने के लिए राजपुरुषों का प्रवेश निषिद्ध किया जाए, दंड न लिया जाए, किसी को ऋणी न रहने दिया जाए, किसी देनदार को पकड़ा न जाए- ऐसी घोषणा करवा दो।[144] वणिक व्यापार करके आते तब राजाओं को बहुत-सी भेंट देते थे, जिससे उनका शुल्क माफ कर दिया जाता था।[145]

ज्ञाताधर्मकथांग के शोधपरक अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि तत्कालीन समय राज्य में आय के स्रोत निश्चित और सुव्यवस्थित नहीं थे। न तो कोई व्यवस्थित कर-प्रणाली थी और न ही कर-संग्रह के लिए कर्मचारी नियुक्त करने का उल्लेख मिलता है।

आय के स्रोत के साथ-साथ व्यय के माध्यम के रूप में सार्वजनिक निर्माण कार्यों का उल्लेख एकाधिक स्थानों पर मिलता है।[146]

सैन्य-संगठन

अहिंसा प्रधान जैनधर्म ने सैन्यवृत्ति को राज्य का एक आवश्यक अंग माना है। देश की आन्तरिक व बाह्य सुरक्षा के लिए सेना रखना अनिवार्य था। सैन्यवृत्ति की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए महापुराण में कहा गया है कि जिस व्यक्ति की युद्ध में मृत्यु होती है, उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[147]

ज्ञाताधर्मकथांग अध्यात्म केन्द्रित ग्रंथ है फिर भी इसमें सैन्य संगठन को एक राज्य के अनिवार्य अंग के रूप में प्रस्तुत किया गया है-

सेना और उसके विभाग

वास्तव में राजा और राज्य का अस्तित्व ही सेना पर निर्भर है। शुक्रनीति में अस्त्रों तथा शस्त्रों से सुसज्जित मनुष्यों के समुदाय को सेना संज्ञा से संबोधित किया गया है।[148]

ज्ञाताधर्मकथांग में चतुरंगिणी सेना हाथी, घोड़ा, रथ तथा पैदल का उल्लेख एकाधिक स्थानों पर मिलता है।[149]

हस्तिसेना

हमारे देश में प्राचीनकाल से ही हस्तिसेना का प्राधान्य रहा है। ज्ञाताधर्मकथांग में गंधहस्ती[150], सेचनक[151], विजय नामक गंधहस्ती[152] आदि विभिन्न प्रकार के हाथियों का नामोल्लेख मिलता है।

अश्वसेना

ज्ञाताधर्मकथांग में एकाधिक स्थानों पर अश्वसेना का उल्लेख मिलता है।[153] अश्व युद्धस्थल में विषम परिस्थितियों का सामना करने में निपुण होते हैं। भारत में घोड़े प्राय: अन्य देशों से मंगवाए जाते थे। ज्ञाताधर्मकथांग में कालिक द्वीप से आकीर्ण प्रजाति के अश्व मंगवाने का उल्लेख मिलता है।[154]

रथसेना

ज्ञाताधर्मकथांग में रथसेना का भी उल्लेख मिलता है।[155]

पैदलसेना

सैन्य संगठन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण पैदल सेना होती थी। विजयश्री की उपलब्धि में इसकी भूमिका निर्विकल्प थी। ज्ञाताधर्मकथांग में चतुरंगिणी सेना के एक अंग के रूप में इसका नामोल्लेख मिलता है।[156]

सैन्याधिकारी

ज्ञाताधर्मकथांग में चतुरंगिणी सेना का उल्लेख हुआ है लेकिन कहीं भी सैन्य पदाधिकारियों की कोई सूची नहीं मिलती। ज्ञाताधर्मकथांग में सैन्य पदाधिकारी के रूप में केवल सेनापति[157] का ही उल्लेख मिलता है, शेष सभी योद्धा या वीर कहे जाते थे। हरिवंशपुराण में कहा गया है कि इस पद पर प्राय: राजकुल के रणकुशल लोग ही नियुक्त किए जाते थे।[158] युद्ध की विषम परिस्थिति में राजा

स्वयं ही इस पद को सम्भालता था।[159]

सारथी

रथ को संचालित करने वाला सारथी कहलाता है। योद्धा की सफलता-विजय बहुत कुछ सारथी के कौशल पर निर्भर करती थी। ज्ञाताधर्मकथांग में कृष्ण-वासुदेव के सारथी के रूप में दारूक नामक व्यक्ति का उल्लेख किया गया है।[160]

युद्ध के कारण

प्राचीन इतिहास के आधार पर कहा जा सकता है कि युद्ध के मुख्य रूप से चार कारण थे- (1) श्रेष्ठता का प्रदर्शन, (2) कन्या, (3) साम्राज्य-विस्तार, (4) स्वाभिमान की रक्षा। ज्ञाताधर्मकथांग में दो युद्धों का उल्लेख आया है, दोनों का कारण स्त्री या कन्या रही है। जितशत्रु आदि छः राजाओं ने कुम्भ राजा की पुत्री मल्ली को प्राप्त करने के लिए मिथिला पर आक्रमण किया।[161] पाण्डव व वासुदेवकृष्ण द्रौपदी को पुनः प्राप्त करने के लिए पद्मनाभराजा से युद्ध करते हैं।[162]

युद्ध

ज्ञाताधर्मकथांग में युद्ध की पूर्व तैयारी तथा रणक्षेत्र के परिदृश्य को रेखांकित किया गया है। युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व कौमुदी भेरी[163], शंख[164] और सामरिक भेरी[165] बजाई जाती थी। राजा युद्ध में जाते समय कोरंट के फूलों की माला वाला छत्र धारण करता था।[166] राजा कवच धारण करता था।[167]

कृष्ण वासुदेव ने पद्मनाभराजा से युद्ध करने के लिए जाने से पूर्व पाञ्चजन्य शंख फूंका, उस शंखनाद से पद्मनाभराजा की सेना का तिहाई भाग हत हो गया। उसके बाद कृष्ण ने सारंग नामक धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाई। प्रत्यंचा की टंकार सुनकर पद्मनाभ राजा की सेना का दूसरा तिहाई भाग हत हो गया। इस प्रकार सामर्थ्यहीन-बलहीन पद्मनाभ कृष्ण के प्रहार को सहन नहीं कर सकता और रणक्षेत्र से भाग खड़ा हुआ।[168] ज्ञाताधर्मकथांग में अश्व युद्ध, रथ युद्ध, बाहु युद्ध[169], मल्ल युद्ध और मुष्ठि युद्ध[170], सामान्य युद्ध, विशिष्ट युद्ध, अस्थि युद्ध, लता युद्ध[171] आदि का उल्लेख मिलता है।

युद्ध और मनोविज्ञान

युद्ध सिर्फ हथियारों या बाहुबल से नहीं जीते जाते बल्कि विजय के लिए मनोबल की मजबूती अनिवार्य है, ज्ञाताधर्मकथांग में यह तथ्य उभरकर सामने आया है। जब पाण्डव पद्मनाथ से युद्ध शुरू करते हैं, तब कहते हैं- 'आज हम हैं या पद्मनाथ राजा है।' पाण्डवों की हार होती है और पद्मनाथ राजा विजयी

होता है। तब कृष्ण वासुदेव पाण्डवों के समक्ष यह मनोवैज्ञानिक तथ्य रखते हैं- हे पाण्डवों! तुम्हें ऐसा कहना चाहिए था कि 'हम हैं, पद्मनाभ राजा नहीं, तो तुम्हारी जीत होती।' कृष्ण ने ऐसा ही कहकर युद्ध किया जिससे पद्मनाथ राजा बुरी तरह पराजित हुआ।[172]

युद्ध के नियम

ज्ञाताधर्मकथांग में युद्ध के नियमों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है लेकिन जैन पुराणों में युद्ध के कुछ नियमों का वर्णन मिलता है। जैन पुराणों के अनुसार युद्ध दिन में हुआ करते थे परन्तु यदा-कदा रात्रि में भी शत्रु का आक्रमण हो जाता था, लेकिन यह अत्यधिक हेय माना गया था इसलिए 'रात्रियुद्ध' का निषेध किया गया था।[173] हरिवंशपुराण में निद्रित एवं विघ्न बाधाओं से पीड़ित व्यक्ति, स्त्री तथा बच्चों को मारने का निषेद्ध किया गया है।[174]

शस्त्रास्त्र व अन्य सैन्य सामग्री

ज्ञाताधर्मकथांग में अग्रांकित शस्त्रास्त्रों का उल्लेख मिलता है- धनुष[175], छुरा[176], प्रहरण[177], तलवार[178], बर्छियाँ, भाले[179], मूसल[180], खड्ग[181]। शस्त्रास्त्रों से रक्षा के लिए कवच धारण करने तथा भुजाओं पर पट्टा बांधे जाने का उल्लेख भी मिलता है।[182]

उपर्युक्त शस्त्रास्त्रों के अलावा युद्ध में प्रयुक्त होने वाले अन्य साजो-सामान का उल्लेख भी ज्ञाताधर्मकथांग में मिलता है- कौमुदीभेरी[183], दुंदुभि[184], सामुदायिक भेरी[185], सामरिक भेरी[186] तथा पाञ्चजन्य शंख[187] आदि।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि तत्कालीन समय में राजा का राजनीति में सर्वोच्च स्थान था। वह विभिन्न राज्य कर्मचारियों के माध्यम से राज्य की आन्तरिक व्यवस्था का संचालन करता था और सीमा की रक्षा के लिए सुदृढ़ सैन्यव्यवस्था भी उसके जिम्मे थी। राजा वंश परम्परा से होने के कारण राजनैतिक अस्थिरता अपेक्षाकृत कम थी। न्यायपालिका और कार्यपालिका दोनों ही प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षरूप से राजा में ही निहित थी, अत: जनता राजा को देवतुल्य मानती थी।

संदर्भ-

1. 'राजा राज्यमिति प्रकृति संक्षेपः'
   -कौटिल्य का अर्थशास्त्र 8/2
2. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/3
3. वही 1/1/14
4. वही 1/1/135
5. वही 1/5/28
6. वही 1/8/3
7. वही 1/8/7
8. वही 1/8/11
9. वही 1/8/24
10. वही 1/8/24
11. वही 1/8/24
12. वही 1/8/24
13. वही 1/8/24
14. वही 1/8/24
15. वही 1/8/25
16. वही 1/12/2
17. वही 1/14/3
18. वही 1/14/41
19. वही 1/15/2
20. वही 1/15/3
21. वही 1/16/80
22. वही 1/16/95
23. वही 1/16/97
24. वही 1/16/98
25. वही 1/16/99
26. वही 1/16/100
27. वही 1/16/101
28. वही 1/16/102
29. वही 1/16/103
30. वही 1/16/144
31. वही 1/16/219
32. वही 1/17/2
33. वही 1/19/3
34. वही 1/19/5
35. वही 1/19/21
36. वही 1/16/97
37. औपपातिक सूत्र-11, पृ. 13
38. धर्माणां प्रभवस्त्वं हि रत्नानामिव सागरः।
    -पद्मपुराण- 66/10
39. ज्ञाताधर्मकथांग 1/5/21
40. वही 1/5/24
41. वही 1/2/32
42. वही 1/16/186, 191
43. वही 1/17/25-26
44. वही 1/8/90
45. वही 1/8/102, 104
46. वही 1/14/21
47. (i) ऋग्वेद 10/173/1-6, 1/5/6
    (ii) अथर्ववेद 3/4/1-7, 6/87/1-3
48. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/3,7,9,11
49. तैत्तरीय ब्राह्मण 13/4/2/17
50. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/133, 1/5/56
51. वही 1/14/41
52. वही 1/16/219
53. वही 1/19/21
54. वही 1/1/134
55. वही 1/19/5
56. वही 1/19/5
57. वही 1/5/14, 1/8/72,75,91,104,150
58. वही 1/1/82
59. वही 1/1/144,153
60. वही 1/5/12
61. वही 1/1/3, 1/12/2, 1/15/2
62. वही 1/1/14, 1/16/101
63. वही 1/5/28
64. वही 1/8/3
65. वही 1/8/24
66. वही 1/8/24
67. वही 1/8/24
68. वही 1/8/24
69. वही 1/8/24
70. वही 1/8/24
71. वही 1/8/25
72. वही 1/14/41

73. वही 1/15/3
74. वही 1/16/80
75. वही 1/16/95
76. वही 1/16/98
77. वही 1/16/99
78. वही 1/16/100
79. वही 1/16/102
80. वही 1/16/103
81. वही 1/16/144
82. वही 1/16/219
83. वही 1/19/3
84. वही 1/5/2, 1/16/89
85. वही 1/1/15
86. श्री ज्ञाताधर्मकथांगसूत्रम, पृ. 77-78
87. ज्ञाताधर्मकथांग 1/18/26-28
88. वही 1/2/26
89. वही 1/16/203
90. वही 1/2/42
91. वही 1/2/30
92. वही 1/2/32
93. वही 1/2/41
94. वही 1/1/90, 1/14/25
95. वही 1/2/29
96. वही 1/1/15
97. वही 1/1/30
98. वही 1/14/3
99. अर्थशास्त्र 1/3
100. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/15
101. वही 1/12/2
102. वही 1/14/25,27
103. वही 1/1/15
104. वही 1/14/3
105. वही 1/12/2
106. वही 1/5/28
107. वही 1/5/54-55
108. 'चउरंगिणीए सेणाए अहिवोसेणावई।'
-अनुयोगद्धार चूर्णि, पृ.11
109. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/30, 1/5/3, 1/8/47
110. (i) अर्थशास्त्र 2/33
(ii) महाभारत (शान्तिपर्व) 85/11-32
(iii) मत्स्य पुराण 2/5/8-10
(iv) मानसोल्लास 2/2/10-12
111. ज्ञाताधर्मकथांग 1/5/5, 21, 1/8/47
112. "अभिषिच्मानश्रीवेष्टनकबद्धः
सव्ववणियाहिवो सेट्ठी।"
- अनुयोगद्वार चूर्णि, पृ. 11
113. ज्ञाताधर्मकथांग 1/16/180
114. वही 1/2/26, 1/18/26-28
115. वही 1/1/30
116. महाभारत, सभापर्व 5/94-95
117. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/30, 1/8/50
118. वही 1/8/50,78,85
119. वही 1/8/124
120. वही 1/16/90
121. वही 1/8/125, 1/16/182
122. वही 1/16/82
123. वही 1/16/89
124. वही 1/8/47
125. वही 1/16/179,180
126. (i) वही 1/1/30
(ii) "कौटुम्बिकः कतिपय कुटुम्बप्रभुः।"
-अनुयोगद्वार हारिभद्रीय वृत्ति, पृ. 16
127. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/31,77, 1/5/8
128. वही 1/12/43
129. वही 1/1/96
130. वही 1/1/46
131. वही 1/16/119
132. वही 1/16/128
133. वही 1/1/96
134. वही 1/1/89
135. वही 1/1/30
136. वही 1/1/31
137. वही 1/8/160, 1/13/15
138. वही 1/1/26 (विवेचन)
139. धर्मस्य मूलमर्थः। अर्थस्य मूलं राज्यम्।
-चाणक्य सूत्र 2 और 3

140. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/138
141. समाहर्ता दुर्गं राष्ट्रं खनिं सेतु वनं व्रजं वणिक्यथं चावेक्षेत। - अर्थशास्त्र, पृ. 119
142. शुल्कं दण्डः सीता भागो बलिः करः, सुवर्ण-रजत-वज्र-मणि-मुक्ता। पुष्प फल.स्थलपथो वारिपथश्च.इति आयशरीरम्। - वही 119-120
143. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/91
144. वही 1/1/91
145. वही 1/8/73-74, 1/17/25
146. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/12, औपपातिक 1/8/160
147. महापुराण 44/232
148. शुक्रनीतिसार 4/864
149. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/44,78,82 1/5/11
150. वही 1/1/44
151. वही 1/1/78
152. वही 1/5/12, 1/16/92,94
153. वही 1/1/44, 1/5/11, 1/16/117
154. वही 1/17/14, 1/16/170,173,174
155. वही 1/1/44, 1/5/11, 1/16/170
156. वही 1/1/82, 1/5/11, 1/16/117
157. वही 1/1/30
158. हरिवशंपुराण 51/12-13
159. वही 52/1-91
160. ज्ञाताधर्मकथांग 1/16/179
161. वही 1/1/131
162. वही 1/16/184
163. वही 1/5/10
164. वही 1/16/187
165. वही 1/16/172
166. वही 1/8/128,129
167. वही 1/8/128
168. वही 1/16/187-188
169. वही 1/1/101
170. वही 1/13/15
171. वही 1/1/99
172. वही 1/16/185-188
173. (i) पद्मपुराण 89/56
(ii) हरिवंशपुराण 62/18
(iii) महापुराण- 44/272
174. हरिवशंपुराण 62/8
175. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/64, 1/2/28
176. वही 1/2/9
177. वही 1/2/27, 1/18/22
178. वही 1/8/62, 1/18/22, 1/16/46,48
179. वही 1/18/22, 1/16/180-181
180. वही 1/1/66
181. वही 1/18/15
182. वही 1/2/28
183. वही 1/5/10
184. वही 1/8/128
185. वही 1/16/91
186. वही 1/16/72
187. वही 1/16/187

सप्तम परिवर्त

ज्ञाताधर्मकथांग में शिक्षा

प्राचीनकाल से मानव जीवन में शिक्षा का स्थान सर्वोपरि रहा है। ऋग्वेद में कहा गया है- 'उदु ज्योतिर्मृतं विश्वजन्यम्'[1] अर्थात् ज्ञान की ज्योति अमर और लोकहितकारी होती है। जैनागमों में भी ज्ञान की महिमा स्वीकार की गई है। उत्तराध्ययन के निम्नलिखित संवाद से ज्ञान के महत्व पर प्रकाश पड़ता है, शिष्य ने पूछा- ''हे पूज्य! ज्ञान सम्पन्नता से जीव को क्या लाभ होता है?'' गुरु ने उत्तर दिया- ''हे भद्र! ज्ञान सम्पन्न जीव समस्त पदार्थों का यथार्थभाव जान सकता है। यथार्थभाव जानने वाले जीव को चतुर्गतिमय इस संसार रूपी अटवी में कभी दुःखी नहीं होना पड़ता। जैसे- धागे वाली सूई खोती नहीं है उसी प्रकार ज्ञानी जीव संसार से पथभ्रष्ट नहीं होता और ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप तथा विनय के योग को प्राप्त होता है तथा स्व-परदर्शन को बराबर जानकर असत्य मार्ग में नहीं फंसता।''[2] हमारे पूर्वजों ने शिक्षा की इस आवश्यकता को समझते हुए सुदूर अतीत में शिक्षा की प्रभावी व्यवस्था की थी। प्रत्येक युग में दर्शन, न्याय, गणित, ज्योतिष, व्याकरण, कला आदि विविध शास्त्रों एवं ज्ञान के क्षेत्र में ऐसे मौलिक विचारक और विद्वान उत्पन्न हुए, जिनसे हमारा देश गौरवान्वित रहा है। यद्यपि प्राच्य शिक्षा पद्धति का मौलिक स्वरूप तो समस्त प्राचीनकाल में एक समान ही रहा लेकिन विभिन्न कालों, धर्मों और संस्कृतियों के प्रभाव से इसमें यत्किंचित परिवर्तन अवश्य होता रहा। ज्ञाताधर्मकथांग में शिक्षा के विविध पहलुओं से सम्बन्धित विवरण यत्र-तत्र विद्यमान है।

शिक्षा का अर्थ एवं परिभाषा

शिक्षा का अर्थ केवल किताबी ज्ञान नहीं, वरन् बालक का सर्वतोमुखी विकास करना है। बालक को समाज की मान्यताओं, रीतिओं और रूढ़ियों से परिचित कराकर उसके आचरण को आदर्श रूप प्रदान करना तथा उसमें अपेक्षित व्यवहारगत परिवर्तन लाना है। यदि शिक्षा विद्यार्थी के आचार-विचार अर्थात् व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं ला पाती तो वह 'शिक्षा' कहलाने की अधिकारिणी नहीं है। 'शिक्षा' शब्द (स्त्री) (शिक्ष्+अ+टाप्) शिक्ष् धातु में टाप् प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ किसी विद्या को सीखने एवं सिखाने की क्रिया या

तालीम से है। गुरु के निकट विद्याभ्यास करना अथवा विद्याग्रहण करना शिक्षा है। दक्षता, निपुणता, उपदेश, मंत्र, सलाह आदि भी शिक्षा के पर्यायवाची शब्द है।[3]

शिक्षा को विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से परिभाषित किया है। इन परिभाषाओं का दिग्दर्शन इस प्रकार है-

ऋग्वेद में कहा गया है-

'अपो महि व्ययति चक्षसे तमो ज्योतिष्कृणोति'[4] अर्थात् शिक्षा अज्ञानान्धकार दूर कर ज्ञान ज्योति प्रज्वलित करती है।

गीता के अनुसार-

'सर्वभूतेषु येनैकं भावभव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्।।'[5]

अर्थात जिसके द्वारा सब प्राणियों में केवल एवं निर्विकार भाव देखा जाता है तथा विविधता में जहाँ एकता दिखाई देती है, उसी को सात्विक ज्ञान कहा जाता है।

गीता में ज्ञान को ही शिक्षा माना गया है तथा शिक्षा में केवल सात्विक ज्ञान को समाहित किया गया है। इस प्रकार यह परिभाषा यत्किंचित एकपक्षीय है।

उत्तराध्ययनचूर्णि में शिक्षा को परिभाषित करते हुए कहा गया है-

'सिक्खाते शिक्ष्यनते वा तमिति शिक्षा'[6]

अर्थात् जो सिखाती है वह शिक्षा है या जिससे विद्या का ग्रहण होता है, वह शिक्षा है।

कौटिल्य के मतानुसार-

''शिक्षा मानव को एक सुयोग्य नागरिक बनना सिखाती है तथा उसके हृदय में जाति एवं प्रकृति के प्रति प्रेम उत्पन्न करती है।''[7]

चाणक्य ने इस परिभाषा में शिक्षा को जाति व प्रकृति केन्द्रिय बनाते हुए सुयोग्य नागरिक निर्माण करने वाली बताया है जबकि शिक्षा के आध्यात्मिक क्षेत्र को पूर्णत: अछूता छोड़ दिया है।

सुकरात के अनुसार-

''शिक्षा का अर्थ है संसार के उन सर्वमान्य विचारों को प्रकाश में लाना जो कि प्रत्येक मानव के मस्तिष्क में स्वाभावत: निहित होते हैं।''[8]

प्रस्तुत परिभाषा में सर्वमान्य विचारों की बात की गई है जो असंभव-सा प्रतीत होता है।

प्लेटो के अनुसार-

"शिक्षा बालक के शरीर तथा आत्मा में उस सब सौन्दर्य एवं पूर्णता को विकसित करती है, जिसके वह योग्य है।"[9]

प्लेटो गुणों को जन्मजात नहीं बल्कि अर्जित मानता है जबकि कुछ गुण आत्मा के स्वाभाविक गुण होते हैं जिन्हें सिर्फ अभिव्यक्ति का मार्ग दिखाना होता है।

अरस्तु की दृष्टि में-

"शिक्षा मनुष्य की शक्ति का, विशेष रूप से मानसिक शक्ति का विकास करती है जिससे वह सत्यं, शिवं और सुन्दरम् का चिन्तन करने योग्य बन सके।"[10]

सत्यं, शिवं और सुन्दरम् की प्राप्ति मात्र मानसिक विकास से संभव नहीं है इसके लिए शारीरिक, बौद्धिक और भावनात्मक विकास भी अपेक्षित है। सर्वांगीण विकास के बिना सत्यं-शिवं-सुन्दरम् की कल्पना निरर्थक है।

महर्षि अरविन्द के मतानुसार-

"अन्तर्निहित ज्योति की उपलब्धि के लिए शिक्षा विकासशील आत्मा की प्रेरणादायिनी शक्ति है।"[11]

प्रस्तुत परिभाषा में शिक्षा को आन्तरिक शक्तियों या गुणों की उद्घाटक माना गया है जबकि शिक्षा इन गुणों के उद्घाटन और विकास के साथ-साथ बाह्य गुणों के विकास में भी योगभूत बनती है।

महात्मा गांधी के कथनानुसार-

"शिक्षा से मेरा अभिप्राय बालक और मनुष्य के शरीर, मन तथा उसकी आत्मा के सर्वोत्तम गुणों को व्यक्त करना है। साक्षरता न तो शिक्षा की अंतिम अवस्था है और न ही प्रारंभिक ही, यह तो स्त्री-पुरुष को शिक्षित करने का केवल एक साधन है।"[12]

प्रस्तुत परिभाषा में गांधीजी ने शिक्षा व साक्षरता में अंतर को स्पष्ट करते हुए आन्तरिक गुणों की अभिव्यक्ति को ही शिक्षा माना है। विस्तृत दृष्टिकोण से साक्षरता भी शिक्षा का एक अंग है।

जैन मुनि कल्याणसागर के मतानुसार-

''शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य अज्ञान को दूर करना है। मुनष्य में जो शरीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ मौजूद हैं और जो दबी पड़ी हैं, उन्हें प्रकाश में लाना ही शिक्षा का यथार्थ उद्देश्य है, परन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति तब होती है जब शिक्षा के फलस्वरूप जीवन में संस्कार उत्पन्न होते हैं। केवल शान्ति के विकास में शिक्षा की सफलता नहीं है अपितु शक्तियाँ विकसित होकर जनजीवन के सुन्दर निर्माण में प्रयुक्त होती हैं तभी शिक्षा सफल होती है।''[13]

उपर्युक्त परिभाषा शिक्षा की एक समग्र परिभाषा कही जा सकती है। इसमें शिक्षा के क्षेत्र का सम्पूर्ण विवेचन किया गया है और शिक्षा की सफलता के लिए जनजीवन से जुड़ाव को अपरिहार्य बतलाया गया है, जो अक्षरशः सत्य है।

स्वामी विवेकानन्द का मन्तव्य-

''हमें उस शिक्षा की आवश्यकता है, जिसके द्वारा चरित्र का निर्माण होता है, मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है, बुद्धि का विकास होता है और मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है।''[14]

प्रस्तुत परिभाषा वर्तमान युग में भी प्रासंगिक है क्योंकि इसमें स्वावलम्बन की बात कही गई है। यदि स्वावलम्बी बनाने वाली शिक्षा हो तो बेरोजगारी की समस्या से निजात पाई जा सकती है।

डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार-

''शिक्षा का उद्देश्य न तो राष्ट्रीय कुशलता है न सांसारिक एकता, बल्कि व्यक्ति को यह अनुभूत करना है कि बुद्धि से अधिक गहराई का कोई तत्त्व है, जिसे चाहो तो आत्मा कह सकते हैं।''[15]

यह परिभाषा शिक्षा के आध्यात्मिक स्वरूप का बोध कराने वाली है। इस परिभाषा में शिक्षा के अन्य कार्यों की उपेक्षा की गई है, जिसे उचित नहीं कहा जा सकता है।

हुमायूं कबीर के शब्दों में-

''यदि व्यक्ति को समाज का रचनात्मक सदस्य बनना है, तो उसे केवल अपना ही विकास नहीं करना चाहिए, वरन् समाज के विकास में भी योगदान करना चाहिए।''[16]

प्रस्तुत परिभाषा में शिक्षा को वातावरण तथा सामाजिक परिवेश के साथ जोड़ा गया है। हुमायूं कबीर व्यक्ति के विकास और समाज के विकास को अलग-अलग मानते हैं जो कि तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता है क्योंकि व्यक्ति और समाज का विकास तो परस्पर अवगुंथित है।

डॉ. जगदीश सहाय के अनुसार-

''शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य अपने आध्यात्मिक स्वभाव की सिद्धता को प्राप्त करता है, जो वास्तविक रूप में सामाजिक एवं सार्वभौम है। मनुष्य का व्यक्तित्व उसकी विशिष्टता में नहीं है बल्कि उसकी सामाजिकता और सार्वभौमिकता में है, जो मनुष्यों को एक-दूसरे से पृथक् न करके एक-दूसरे से सम्बद्ध करती है।''[17]

प्रस्तुत परिभाषा में शिक्षा को सामाजिक और सार्वभौमिक बतलाते हुए इससे मनुष्य की वैयक्तिक विशिष्टताओं को पृथक् रखा गया है।

अल्तेकर के मतानुसार-

''व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण, प्राचीन संस्कृति की रक्षा, चरित्र का संगठन एवं सामाजिक-धार्मिक कर्त्तव्यों को पूर्ण करने के लिए भावी पीढ़ी को प्रशिक्षित करना ही प्राच्य शिक्षा पद्धति का ध्येय था।''[18]

अल्तेकर ने शिक्षा को एक प्रशिक्षण प्रविधि के रूप में परिभाषित करते हुए इसके ध्येय को स्पष्ट किया है।

हरबर्ट स्पेन्सर के अनुसार-

''शिक्षा वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के लिए बालक को तैयार करने की प्रक्रिया के रूप में ही हमारे सामने उपस्थित होती है।''[19]

वातावरण अनुप्रेरित इस परिभाषा में बालक के जन्मजात गुणों को ध्यान में नहीं रखा गया है।

टी. रेमॉण्ट-

''शिक्षा विकास का वह क्रम है जिससे व्यक्ति अपने आप को धीरे-धीरे विभिन्न प्रकार से अपने भौतिक सामाजिक और आध्यात्मिक वातावरण के अनुकूल बना लेता है। जीवन ही वास्तव में शिक्षित करता है। व्यक्ति अपने व्यवसाय, पारिवारिक जीवन, मित्रता, विवाह, पितृत्व, मनोरंजन, यात्रा आदि द्वारा शिक्षित किया जाता है।''[20]

प्रस्तुत परिभाषा एक व्यावहारिक परिभाषा कही जा सकती है, जिसमें शिक्षा के क्षेत्र और अभिकरणों की व्यापक प्रस्तुति दी गई है।

एडिसन के अनुसार-

''शिक्षा के द्वारा मानव के अंतर में निहित उन सभी शक्तियों तथा गुणों का दिग्दर्शन होता है, जिनको शिक्षा की सहायता के बिना अंदर से बाहर निकालना असंभव है।''[21]

प्रस्तुत परिभाषा में एडिसन ने जन्मजात शक्तियों के विकास और उद्घाटन का एकमात्र विकल्प शिक्षा को माना है, यह शिक्षा का एकांगी दृष्टिकोण है।

मिल्टन ने कहा-

''मैं पूर्ण और उदार शिक्षा उसको कहता हूँ जो किसी व्यक्ति को इस योग्य बना देती है कि वह निजी एवं सार्वजनिक तथा शान्ति एवं युद्धकालीन कार्यों को दक्षता से, सुन्दरता से एवं न्यायोचित ढंग से कर सके।''[22]

मिल्टन ने व्यावहारिक शिक्षा को उदार शिक्षा मानते हुए उसकी प्रासंगिक उपयोगिता का मूल्यांकन किया है।

वार्ड के अनुसार-

''शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मानव की अभ्यास से परिवर्तनशील शक्तियों को अच्छी आदतों द्वारा कलात्मक ढंग से निकाले गए साधनों द्वारा पूर्णता प्रदान की जाती है तथा जिन साधनों का प्रयोग कोई भी व्यक्ति अपने लिए या दूसरे की सहायता के लिए निर्दिष्ट उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए करता है।''[23]

प्रस्तुत परिभाषा में शिक्षा को एक कलात्मक प्रक्रिया बतलाया गया है और इसे मानव की जन्मजात शक्तियों को पूर्णता प्रदान करने वाली बतलाया है।

रूसो के अनुसार-

''शिक्षा कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो बाहर से लादी जा सके, अपितु बालक की स्वाभाविक शक्तियों तथा योग्यताओं के आंतरिक विकास को शिक्षा कहते हैं।''[24]

रूसो ने बाह्य शक्तियों को पूर्णतः नकार दिया है, जो संकीर्णता का परिचायक है।

जॉन डिवी के अनुसार-

''शिक्षा उन सब शक्तियों का विकास है, जो व्यक्ति को इस योग्य बनाती है कि वह वातावरण को नियंत्रित कर सके और अपनी संभावनाओं की पूर्ति कर

सके।''[25]

जॉन डिवी के वातावरण के साथ समन्वय की बात करते हुए शिक्षा को आन्तरिक और बाह्य दोनों शक्तियों की उद्घाटक बतलाया है।

भगवती आराधना के अनुसार-

''शिक्षा श्रुतस्य अध्ययनमिह शिक्षाब्देनोच्यते।''[26]

अर्थात् शास्त्रों का अध्ययन ही शिक्षा है। यह शिक्षा की अत्यन्त संकुचित परिभाषा है।

टैगोर का मन्तव्य था-

''शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो बुद्धि, भावना और इच्छाशक्ति का समान रूप से विकास करने में सहायक हो और साथ ही जो प्रकृति से सामंजस्य और अध्ययन के विचित्र विषयों में संतुलन पैदा कर सके।''[27]

प्रस्तुत परिभाषा पूर्ण परिभाषा कही जा सकती है लेकिन 'विचित्र विषय' शब्द एक प्रश्न चिह्न छोड़ जाता है, जिसको टैगोर ने समाधायित करने का प्रयास नहीं किया है।

विनोबा भावे के अनुसार-

''शिक्षण कभी जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। जीवन से विमुख 'केवल शिक्षण' सच्चा शिक्षण हो ही नहीं सकता। प्रत्यक्ष जीवन के क्षेत्र में जीवन जीते-जीते, जीवन की जिम्मेदारियाँ निभाते हुए जो सवाल पैदा हुए, उनके जवाब पाना ही सच्चा शिक्षण है।''[28]

प्रस्तुत परिभाषा में विनोबा ने शिक्षण और जीवन में समवाय को स्पष्ट किया है। उन्होंने शिक्षा को पूर्णत: अनौपचारिक प्रक्रिया माना है।

आचार्य तुलसी के अनुसार-

''शिक्षा ही वह माध्यम है, जो व्यक्ति-चेतना और समूह-चेतना को सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों से अनुप्राणित करती है।''[29]

प्रस्तुत परिभाषा में शिक्षा को समग्र रूप में व्यक्त किया गया है। शिक्षा को व्यक्ति व समूह-चेतना से जोड़कर उसके द्वारा सांस्कृतिक व आध्यात्मिक विकास की बात कर शिक्षा के व्यापक स्वरूप को अभिव्यक्त किया गया।

जैनेन्द्र कुमार के अनुसार-

''शिक्षा मिलती है, दी नहीं जा जाती अर्थात् सच्ची और उपयोगी शिक्षा

वह है जो जीवन और जगत् में से व्यक्ति को हठात् प्राप्त होती रहती है।"[30]

प्रस्तुत परिभाषानुसार शिक्षा सहज प्रक्रिया है, इसके लिए किसी औपचारिक अभिकरण की आवश्यकता नहीं है।

ज्ञाताधर्मकथांग-

ज्ञाताधर्मकथांग की कथाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि ज्ञान व्यक्ति को सज्जीवन की ओर प्रेरित करता है, वही शिक्षा है। ज्ञान चाहे सांसारिक हो या धार्मिक अथवा व्यावसायिक, यदि वह व्यक्ति तथा समाज के लिए हितकारी है तो उसे शिक्षा का अंग माना जाएगा, अन्यथा नहीं। वह सभी ज्ञान उपयोगी है, जो मनुष्य को सच्चरित्रता की ओर प्रेरित करे।

उपर्युक्त परिभाषाओं के विवेचन के पश्चात् कहा जा सकता है कि शिक्षा सतत चलने वाली एक ऐसी प्रक्रिया है जो मनुष्य को मनुष्य बनाती है। इसके लिए *किसी पाठशाला या मदरसे की आवश्यकता नहीं है यह तो वह गीता है जो कुरुक्षेत्र* के समान ही जीवन रण में दी जा सकती है। प्रकृति का हर क्रियाकलाप शिक्षा देता है। शाला के अध्यापक का काम छात्र की आँखें खोलना है, वह इसलिए कि उसे हर वस्तु साफ-साफ दिखाई दे और वह विवेक की पगडंडी पर निर्भय होकर अग्रसर हो सके, जीवन के चरम लक्ष्य 'मुक्ति' को प्राप्त कर सके।

शिक्षा का स्वरूप

शिक्षा-माध्यम के विषय में वैदिक और जैन शिक्षा पद्धति लगभग समान रही है। दोनों में ही शिक्षा-प्रविधि उपदेशमूलक थी, अन्तर इतना ही था कि जैन मनीषियों ने अपने उपदेश लोक-भाषा में दिए, किसी भाषा विशेष के प्रति उनका आग्रह नहीं था। यद्यपि वैदिक प्रभाव के कारण खण्डन-मण्डन आदि के लिए न्याय-ग्रंथों तथा पुराणों आदि की रचना संस्कृत में भी की जाने लगी परन्तु जैन वाङ्मय के अधिकतर ग्रंथ अपने युग की लोकभाषा में ही लिखे गए।

जैनों तथा बौद्धों ने लौकिक विभूतियों को तिलांजलि दी और संन्यासी जीवन अपनाकर ज्ञान का अर्जन और वितरण किया। ज्ञाताधर्मकथांग की विभिन्न कथाओं में मेघकुमार[31], धन्य सार्थवाह[32], थावच्चापुत्र[33], महाबल[34] और मल्ली भगवती[35] आदि पात्रों ने भी संन्यासी जीवन अपनाकर ज्ञान का प्रचार-प्रसार किया। वे अपने ज्ञान का भण्डार जन-सामान्य में मुक्तहस्त से लुटाते थे।

जनसाधारण में शिक्षाप्रसार का कार्य भिक्षु-भिक्षुणियाँ करते थे। राजगृह नगरी में भगवान महावीर ने धर्म देशना दी। राजगृह नगरी में धर्मघोष स्थविर ने संयम की प्रेरणा दी।[36] भगवान महावीर ने मेघकुमार को धर्मोपदेश देते हुए सोना, उठना, बैठना व बोलना सिखाया तथा अहिंसा का पालन करते हुए संयम में प्रवृत्त होने की प्रेरणा दी।[37] दशवैकालिक सूत्र में भी ऐसा धर्मोपदेश मिलता है।[38] भगवान अरिष्टनेमि द्वारा द्वारिका नगरी में जनसाधारण को धर्मोपदेश देने का उल्लेख भी मिलता है।[39] भगवान ने थावच्चापुत्र को सामायिक व चौदह पूर्वो आदि की शिक्षा दी।[40] शैलक राजा को थावच्चापुत्र ने धर्म का उपदेश दिया।[41] शुक परिव्राजक ने सौगंधिका नगरी के लागों को सांख्यमत का उपदेश दिया।[42] थावच्चापुत्र ने अन्य मतावलम्बियों को जैन धर्म की शिक्षा दी।[43] धर्मघोष स्थविर ने महाबल आदि सात राजाओं को ग्यारह अंगों का अध्ययन करवाया।[44] चोक्खा परिव्राजिका ने मिथिला नगरी में दानधर्म, शौचधर्म और तीर्थस्थान का उपेदश दिया।[45] मल्ली अरिहन्त ने मिथिला नगरी की परिषद् तथा कुम्भराजा व जितशत्रु आदि छः राजाओं को धर्म का उपदेश दिया।[46]

जैन धर्म में देव, गुरु और शास्त्र का समान महत्व है। अरिहन्त और सिद्ध को परम गुरु (देवस्वरूप) माना गया है। आचार्य, उपाध्याय और साधु गुरुओं के क्रम में तीन स्तर हैं। जैन साधुसंस्था में आचार्य का स्थान सर्वोपरि है। ज्ञाताधर्मकथांग में आचार्य के छत्तीस गुणों का नामोल्लेख मिलता है।[47]

उपाध्यायों या शिक्षकों को प्रशिक्षित करने के लिए स्वतंत्र संस्था नहीं थी। शिष्यवृन्द अपने आचार्य की अध्यापन विधि देखकर अध्यापन की कला सीखते थे। आश्रम में गुरु की अनुपस्थिति में सर्वाधिक मेधावी छात्र अध्यापन का काम करता था। इस प्रकार वह गुरु के आश्रम में ही प्रशिक्षण पाता था। विद्यार्थी विविध विषयों के ज्ञानार्जन के लिए विभिन्न विषयाध्यापकों अर्थात् कलाचार्य[48], शिल्पाचार्य[49], धर्माचार्य[50] आदि के पास जाता था। मेघकुमार जब लगभग 8 वर्ष का हुआ तो उसके माता-पिता ने शिक्षा प्राप्त करने के लिए कलाचार्य व शिल्पाचार्य के पास भेजा। वैदिक युग में सहशिक्षा की प्रथा थी, जिसमें स्त्री और पुरुष समान रूप से शिक्षा ग्रहण करते थे। अत्रेयी ने वाल्मीकि-आश्रम में लव-कुश के साथ शिक्षा प्राप्त की थी।[51] आलोच्य ग्रंथ ज्ञाताधर्मकथांग में सहशिक्षा प्रणाली का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है।

शिक्षा का लक्ष्य

शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य की आन्तरिक शक्तियाँ उजागर होती है। अल्तेकर के अनुसार- ''प्राचीन भारत में शिक्षा का उद्देश्य सदाचार की वृद्धि, व्यक्तित्व का विकास, प्राचीन संस्कृति की रक्षा तथा सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्यों की शिक्षा देना था।''[52] विष्णुपुराण में कहा गया है- 'सा विद्या या विमुक्तये'[53] अर्थात् विद्या वही है जो मुक्ति मार्ग को प्रशस्त करती है। मुक्ति के लिए आंतरिक दैवी शक्तियों की अभिव्यक्ति आवश्यक है। इसलिए मनुष्य में अन्तर्निहित सर्वोत्तम उदात्त महनीय गुणों का विकास करना ही शिक्षा का परम लक्ष्य है।

ज्ञाताधर्मकथांग की विभिन्न कथाओं में महावीर, धर्मघोष स्थविर, अरिष्टनेमि व थावच्चापुत्र से क्रमशः मेघकुमार, धन्यसार्थवाह, थावच्चापुत्र व शुक परिव्राजक शिक्षा प्राप्त कर दीक्षा ग्रहण करते हैं और मुक्ति के मार्ग पर चरण न्यास करते हैं।[54] इसी प्रकार मल्ली भगवती भी मुक्तिपथ पर आगे बढ़ती है।[55] इस प्रकार कहा जा सकता है कि आलोच्य ग्रंथ ज्ञाताधर्मकथांग के अधिकांश पात्र मुक्ति की ओर सतत् प्रयत्नशील हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने शिक्षा का लक्ष्य आत्म-स्वातन्त्र्य लाभ माना है। आत्मोन्मुख करने वाली शिक्षा ही वास्तव में उपादेय है।[56]

अथर्ववेद में शिक्षा का लक्ष्य श्रद्धा, मेधा, प्रज्ञा, धन, आयु और अमरत्व की प्राप्ति बतलाया गया है।[57] विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती के लिए कहा गया है कि उसके लिए विविध व्रत हैं। उसका उदय सुख और शान्ति का दाता है। यह जीवन को मधुर बनाती है।[58] सरस्वती की एक माता के रूप में प्रशंसा करते हुए कहा है कि सुख देने वाली, कल्याण करने वाली, सुंदर व दानी है।[59] वह सभी मनोरथों को पूरा करती है।[60]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि शिक्षा का लक्ष्य व्यक्ति को उसके चरम लक्ष्य यानी मुक्ति की ओर अग्रसर करना और अन्ततः उसे उसके लक्ष्य तक पहुंचाना यानी मुक्ति प्रदान करना है।

अध्ययन-अध्यापन

आगमकाल में शिक्षा केवल मानसिक ही नहीं अपितु व्यावहारिक भी थी। शिक्षार्थी भौतिक जगत् के क्रियाकलापों, वैयक्तिक आचरण तथा सामाजिक

व्यवहारों की व्यावहारिक शिक्षा ग्रहण करता था। श्रवण, मनन और निदिध्यासन शिक्षा प्रक्रिया के तीन महत्वपूर्ण अंग थे। श्रवण के माध्यम से छात्र गुरु की वाणी का बाह्य स्वरूप ग्रहण करता, मनन के द्वारा इस स्वरूप के हार्द को पहचानता और निदिध्यासन से इसे आत्मा तक पहुँचाने का सार्थक प्रयास करता। ज्ञाताधर्मकथांग में मेघकुमार ने भगवान महावीर से धर्म के स्वरूप सम्बन्धी उपदेश को सुनकर और हृदय में धारण करके सम्यक् प्रकार से उसे अंगीकार किया।[61] थावच्चापुत्र[62], मल्लीभवगती[63], तेतलिपुत्र[64] व द्रौपदी आदि की कथाओं में भी श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा शिक्षा ग्रहण करना निरूपित किया गया है।[65]

जैन-शिक्षण की वैज्ञानिक शैली के पांच अंग थे- 1. वाचना, 2. पृच्छना, 3. अनुप्रेक्षा, 4. आम्नाय तथा 5. धर्मोपदेश।[66]

उपनिषद् में भी श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन- इन तीन प्रक्रियाओं का विवेचन मिलता है।[67] महाभारत में कहा गया है कि श्रवण, ग्रहण, तर्क और परिप्रश्न द्वारा छात्र विषय को समझकर उसको स्मृत कर लेता था।[68]

इस प्रकार शिक्षा व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन जाती थी। शिक्षार्थी का उपार्जित ज्ञान 'गधे का बोझ' नहीं था, जिसे आधुनिक विद्यार्थी परीक्षा-कक्ष में उतारकर अपनी पीठ हल्की कर लेते हैं।

चूंकि उस समय सम्पूर्ण शिक्षा मौखिक और स्मृति के आधार पर चलती थी इसलिए उसे याद रखने की दृष्टि से चुने हुए शब्दों में सूत्र रूप में कहा जाता था, जिससे शिक्षार्थी उसे ज्यों का त्यों स्मरण रख सकें। इसी कारण प्रारम्भिक साहित्य सूत्र रूप में मिलता है।

इसी प्रकार लौकिक दृष्टांतों या जीवन के विभिन्न प्रसंगों के साथ तुलना करके विषयवस्तु को प्रतिपादित किया जाता था।

ज्ञाताधर्मकथांग में भी विषयवस्तु को प्रतिपादित करने के लिए हाथी[69], धन्यसार्थवाह व विजयचोर[70], मयूरी के अंडे[71], कछुआ[72], शैलक[73], तूंबा[74], रोहिणी[75], काली[76] आदि विभिन्न रूपकों व दृष्टांतों का सहारा लिया गया है। शिक्षण विषय को कथाओं के माध्यम से कहा जाता था, जिससे कथा प्रसंगों के साथ मूल वस्तु तत्त्व को याद रखना आसान हो जाता था। ज्ञाताधर्मकथांग के तो नाम से ही स्पष्ट है कि तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली में 'कथा' अत्यन्त महत्वपूर्ण शिक्षण-प्रविधि थी।

ज्ञाताधर्मकथांग की विभिन्न कथाओं में शिक्षण की विभिन्न प्रविधियों का उल्लेख मिलता है। जंबू-सुधर्मा के बीच अध्ययन-अध्यापन प्रश्नोत्तर प्रविधि से चलता है।[77] थावच्चापुत्र-सुदर्शन के मध्य संवाद[78], मल्ली व चोक्खा परिव्राजिका के मध्य वाद-विवाद भी शिक्षण प्रविधियों के रूप में प्रकट होते हैं।[79] सांख्य मतावलंबी शुक परिव्राजक सौगंधिका नगरी की परिषद् में धर्मोपदेश देता है।[80] चोक्खा परिव्राजिका ने भी मिथिला नगरी की परिषद् में सांख्यमत का उपदेश दिया[81], इस प्रकार स्पष्ट है कि शिक्षण विधि के रूप में व्याख्यान प्रविधि भी प्रचलित थी।

ज्ञाताधर्मकथांग में लेखन-कला का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। जब द्रौपदी अपने स्वयंवर मण्डप में जाती है तब लेखिका दासी भी उसके साथ मण्डप में जाती है।[82] इससे तत्कालीन समय की लेखन-कला के अस्तित्व का आभास तो होता है लेकिन लेखन सामग्री के संदर्भ में कोई जानकारी नहीं मिलती है।

अभयदेवसूरि ने अपनी टीका[83] में अट्ठारह लिपियों का नामोल्लेख कर तत्कालीन समय की लेखन-कला के अस्तित्व की धारणा को परिपुष्ट किया है।

प्राचीनकाल में मौखिक शिक्षा प्रदान की जाती थी। तदन्तर लेखन उपकरणों का उपयोग किया जाने लगा जिसमें भोजपत्र, कमलपत्र आदि प्रमुख थे जिन पर मयूरपंख से लिखा जाता था। आज भी भारतीय पाठशालाओं में अनेकानेक नवीन लेखन उपकरणों के बावजूद कालिख पुती हुई काठ की पट्टी पर खड्डिया मिट्टी से लिखा जाता है।[84]

शिक्षा के विषय

प्राचीन जैन सूत्रों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का उल्लेख मिलता है।[85] आचारंगचूर्णि में द्वादशांग को ही वेद कहा गया है।[86] व्याख्याप्रज्ञप्ति मैं वैदिक ग्रंथों के निम्नांकित शास्त्रों का उल्लेख है- चार वेदों में- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, छः वेदांगों में- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरूक्त और ज्योतिष, छः उपांगों में-वेदांगों में वर्णीत विषय और षष्टि तंत्र (सांख्य शास्त्र)।[87] उत्तराध्ययन सूत्र की टीका में चतुर्दश विषयों का उल्लेख मिलता है- छः वेदांग, चार वेद, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र।[88] छांदोग्योपनिषद् में इतिहास, पुराण, व्याकरण, श्राद्ध, कल्प, गणित, उत्पात ज्ञान,

विधि शास्त्र, नीति, दैवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, नक्षत्रविद्या, निरूक्त, धनुर्वेद, ज्योतिष, संगीत और शिल्प का उल्लेख मिलता है।[89] ज्ञाताधर्मकथांग में शिक्षा के अग्रांकित विषयों का प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से विवरण मिलता है-

वास्तुशास्त्र

भवन-निर्माण एवं शिल्प-विज्ञान का नाम वास्तुकला है। ज्ञाताधर्मकथांग में 'वत्थुविज्जं'[90] शब्द वास्तुकला के रूप में प्रयुक्त हुआ है। नंदमणिकार श्रेष्ठी ने वास्तुपाठकों की सलाह से नंदा पुष्करिणी, वनखण्ड, चित्रसभा, भोजनशाला, चिकित्साशाला, अलंकार सभा आदि का निर्माण करवाया।[91]

सैन्य शिक्षा

ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित 72 कलाओं में चक्रव्यूह, सैन्य संचालन, अस्थियुद्ध, मुष्टियुद्ध, बाहुयुद्ध, लतायुद्ध आदि का उल्लेख मिलता है।[92] मेघकुमार ने रथयुद्ध, अश्वयुद्ध, बाहुयुद्ध आदि युद्धकलाओं का प्रशिक्षण प्राप्त किया।[93] नगररक्षक ने विजयचोर को अस्थि, मुष्टि व कोहनी आदि के प्रहार से पछाड़ा।[94] इस प्रकार स्पष्ट है कि तत्कालीन समय में सैन्य शिक्षा कलाओं के साथ ही दी जाती थी। उस समय वर्तमान युग की सैन्य अकादमियों की तरह सैन्य शिक्षा के लिए कोई विशिष्ट संस्थान नहीं थे।

तर्कशास्त्र

ज्ञाताधर्मकथांग में 'जणवायं'[95] शब्द का उल्लेख मिलता है, जिसका अर्थ है लोगों के साथ वाद-विवाद करना। इस संदर्भ में तर्कशास्त्र को एक विषय के रूप में स्वीकार करना उपयुक्त होगा। थावच्चापुत्र-सुदर्शन[96] और शुक-थावच्चापुत्र[97] संवाद से भी इस बात को बल मिलता है कि तर्कशास्त्र की भी शिक्षा दी जाती थी।

दर्शनशास्त्र

ज्ञाताधर्मकथांग में शिक्षा के विषय के रूप में दर्शन का नामोल्लेख नहीं मिलता है लेकिन विभिन्न कथाओं के माध्यम से जनसामान्य को दर्शन की गहराईयों से सहजजाव से जोड़ने का, समझाने का सार्थक प्रयास किया गया है। मल्ली भगवती ने अपनी स्वर्ण प्रतिमा के माध्यम से जितशत्रु आदि छः राजाओं को पुद्गल के स्वभाव अर्थात् आत्मा व शरीर की भिन्नता से परिचय करवाया।[98] पुनर्जन्म[99], जाति-स्मरण[100], आत्मा[101], लोक-परलोक[102] आदि दर्शन के विभिन्न विषयों को भी निरूपित किया गया है।

मूर्तिकला

यद्यपि शिक्षा के पृथक् विषय के रूप में मूर्तिकला का उल्लेख नहीं मिलता लेकिन मूर्तिकारों द्वारा मल्ली भगवती की स्वर्णमयी प्रतिमा का निर्माण[103] तत्कालीन मूर्तिकला की उत्कृष्टता का परिचायक है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मूर्तिकला की शिक्षा अपने चरम पर थी।

संगीतकला

ज्ञाताधर्मकथांग में नट्टं (नाटक), गीयं (गायन), वाइयं (वाद्य बजाना), सरगयं (स्वर जानना), पोक्खरगयं (पुष्कर नामक वाद्य बजाना), समतालं (समान ताल जानना) आदि कलाओं का उल्लेख मिलता है[104], जो संगीत के ही विभिन्न अंग कहे जाते हैं। मेघकुमार के जन्मोत्सव पर नटों, नृत्यकारों, वाद्य बजाने वालों आदि ने अपनी कला का प्रदर्शन किया।[105] नंदमणिकार की चित्रसभा में नाटक व नृत्य करने वाले, तूंबे की वीणा बजाने वाले व तूण नामक वाद्य बजाने वाले पुरुष सवैतनिक कार्य करते थे।[106]

चित्रकला

ज्ञाताधर्मकथांग में पृथक् विषय के रूप में चित्रकला का उल्लेख नहीं मिलता है। मल्लदिन्न कुमार द्वारा चित्रसभा निर्माण करवाना तथा चित्रकारों की श्रेणी को बुलवाकर उनसे भावपूर्ण चित्रांकन करवाने का उल्लेख मिलता है। सभी चित्रकार अपने साथ तूलिकाएं और रंग लेकर आए।[107] इस प्रकार स्पष्ट है कि चित्रकला भी शिक्षा के एक विषय के रूप में प्रतिस्थापित थी।

पाककला

मेघकुमार[108] व देवदत्त[109] के नामकर्म के अवसर पर अशन, पान, खादिम और स्वादिम वस्तुओं का निर्माण कर परिजनों को भोजन करवाया गया। ज्ञाताधर्मकथांग में पाकशालाओं का भी उल्लेख मिलता है।[110] इस प्रकार कहा जा सकता है कि पाककला के शिक्षण की भी व्यवस्था रही होगी।

चिकित्साशास्त्र

ज्ञाताधर्मकथांग में शिक्षा के पृथक् विषय के रूप में चिकित्साशास्त्र का उल्लेख नहीं मिलता है लेकिन चिकित्साशालाओं तथा चिकित्साकर्मों का विवेचन यत्र-तत्र मिलता है। नन्दमणियार ने राजगृह में विशाल चिकित्साशाला का निर्माण करवाया।[111] नन्दमणियार के शरीर में सोलह प्रकार के मरणांतक रोग उत्पन्न हुए। उसकी चिकित्सा के लिए विभिन्न वैद्यों ने प्रयास किए। उन्होंने उद्वलन,

उद्वर्तन, स्नेहपान, वमन, विरेचन, स्वेदन, अवदहन, अपस्नान व अनुवासना आदि विधियों द्वारा रोगनिदान के प्रयास किए।[112] इन विधियों से सिद्ध होता है कि उस समय आयुर्वेद चिकित्साशास्त्र की प्रधानता थी।

ज्योतिष

ज्ञाताधर्मकथांग में ग्रह-नक्षत्र, मुहूर्त, स्वप्नफल आदि ज्योतिष से संबंधित विषयों का उल्लेख मिलता है। मेघकुमार को शुभ तिथि, करण, नक्षत्र और मुहूर्त में कलाचार्य के पास भेजा गया।[113] मेघकुमार[114], थावच्चापुत्र[115] और सुकुमालिका[116] का विवाह शुभ नक्षत्र में किया गया। थावच्चापुत्र[117] की दीक्षा भी शुभ तिथि, नक्षत्र व मुहूर्त में हुई। अर्हन्नक[118] और माकन्दी पुत्र[119] ने व्यापारार्थ प्रस्थान शुभ नक्षत्र व मुहूर्त देखकर किया। उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि तत्कालीन शिक्षा में ज्योतिषशास्त्र का भी एक विषय के रूप में अध्ययन-अध्यापन किया जाता था।

भूगोल

ज्ञाताधर्मकथांग के एक प्रसंग में हस्तशीर्ष नगर के सांयात्रिक नौकावणिकों की समुद्र यात्रा के समय अकस्मात् तूफान आने के कारण नाविक दिशा विमूढ हो गया, फिर तुफान शान्त होने पर उसकी दिशाविमूढता विनष्ट हो गई और वे अपने गन्तव्य कालिक द्वीप पहुँच गए।[120] इस प्रसंग से स्पष्ट होता है कि दिशाओं की शिक्षा भी दी जाती थी, जो भुगोल का ही एक अंग है।

विज्ञान

ज्ञाताधर्मकथांग में विज्ञान का नामोल्लेख एक पृथक् विषय के रूप में तो नहीं मिलता, लेकिन कुछ प्रसंग ऐसे है जो विज्ञान विषय की उपस्थिति दर्ज करवाते हैं। चम्पानगरी के मंत्री सुबुद्धि ने खाई के पानी को वैज्ञानिक विधि से शुद्ध कर अपने राजा जितशत्रु का पिलाया।[121]

भाषा व व्याकरण

ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित 72 कलाओं में मागधी और प्राकृत भाषा के अध्ययन का उल्लेख मिलता है।[122] द्रौपदी को क्रीड़ा करवाने वाली धाय स्फुट (प्रकट अर्थ वाले), विशद (निर्मल अक्षरों वाले), विशुद्ध (शब्द एवं अर्थ के दोषों से रहित), रिभित (स्वर की घोलना सहित), गंभीर तथा मधुर बोलने वाली थी।[123] इससे स्पष्ट है कि शब्द के विभिन्न रूपों और उनके उच्चारण की जानकारी उपलब्ध थी। ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित कलाओं में गीतिछंद बनाना

तथा श्लोक बनाना (अनुष्टुप छन्द)[124] भी शामिल है, जो काव्यशास्त्र की प्रौढ़ता को अभिव्यक्त करते हैं। मेघकुमार अट्ठारह प्रकार की देशी भाषाओं तथा गीति संरचना में निपुण हो गया।[125] व्याकरण के लिए 'वागरणाइं' शब्द का उल्लेख मिलता है।

गणित

ज्ञाताधर्मकथांग में गणित के लिए 'गणियं' शब्द का उल्लेख मिलता है।[126] अंकों का ज्ञान भी शिक्षा का एक विषय था। इसको सिद्ध करने के लिए अग्रांकित प्रसंग प्रस्तावित है- मेघकुमार मृत्योपरान्त ज्योतिषचक्र से बहुत योजन, बहुत सैंकड़ों योजन, हजारों, लाखों, करोड़ों तथा कोड़ाकोड़ी योजन लांघकर अनुत्तर महाविमान में देव के रूप में उत्पन्न हुआ।[127] माप-तौल की असई, पसई, सेतिका, कुड़व तथा प्रस्थक[128] इकाइयाँ गणित विषय की शिक्षा को प्रमाणित करती हैं। माप-तौल की इकाई के रूप में मान, उन्मान व प्रमाण का उल्लेख भी आया है।

दैवीविद्या

कच्छुल्ल नामक नारद आकाशगामी, संचरणी, आवरणी, अवतरणी, उत्पतनी, श्लेषणी, संक्रामणी, अभियोगिनी, प्रज्ञप्ति, गमनी, स्तंभिनी आदि बहुत-सी विद्याओं में प्रवीण था।[129] पद्मनाभ के मित्र पूर्व संगतिक देव ने द्रौपदी को अवस्वापिनी विद्या से निद्रा में सुला दिया।[130] इस प्रकार स्पष्ट है कि विभिन्न प्रकार की दैवी विद्याओं की भी शिक्षा दी जाती थी।

वाणिज्यशास्त्र

ज्ञाताधर्मकथांग में वाणिज्यशास्त्र का उल्लेख किसी पृथक् विषय और उसकी औपचारिक शिक्षा के रूप में नहीं मिलता है, लेकिन विभिन्न उद्धरणों में देशी व विदेशी व्यापार तथा समूह के रूप में व्यापारिक यात्राओं का उल्लेख मिलता है। धन्य सार्थवाह चंपानगरी से व्यापारार्थ अपने नगर के विभिन्न जाति-समुदाय के लोगों को लेकर अहिछत्रा नगरी की ओर प्रस्थान करता है तथा सहगामी लोगों को आवश्यक निर्देश-आदेश देता है।[131] इसी प्रकार अर्हन्नक चंपानगरी से मिथिलानगरी व्यापारार्थ अपने ज्ञातीजनों के साथ जाता है।[132]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि तत्कालीन व्यापारी-समुदाय आधुनिक चैम्बर ऑफ कॉमर्स के समान संगठित था। वे अपनी व्यापारिक यात्राएँ व क्रियाकलाप सामूहिक रूप से करते थे।

अन्य विषय

उपर्युक्त विषयों के अलावा ग्यारह अंगों, चौदह पूर्वों का ज्ञान[133], तस्कर विद्या, चोर विद्या[134] व ताला खोलने की विद्या[135] आदि विविध विषयों की शिक्षा भी दी जाती थी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि छात्रों के पाठ्य विषय केवल ग्रंथों तक ही सीमित नहीं थे अपितु उन्हें व्यावहारिक शिक्षा भी दी जाती थी। पाठ्यक्रम का निर्धारण शिक्षा के परम लक्ष्य 'मुक्ति' को ध्यान में रखकर किया जाता था।

गुरु की अर्हताएँ

प्रागैतिहासिक काल से गुरु को सामाजिक विकास का नियंता माना जाता रहा है। समाज की आकांक्षाओं व आदर्शों को कार्यरूप में परिणित करने का महती उत्तरदायित्व गुरु को ही निभाना पड़ता है।

जगत् गुरु कहलाने वाले भारत ने सम्पूर्ण विश्व से अज्ञानरूपी अंधकार को नष्ट करने का प्रयास निरन्तर किया है, इसी कारण जब भी शिक्षा की चर्चा होती है तो हम अपने गुरुओं को आदर्श रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। चाहे वह अध्यापन का विषय हो या चरित्र निर्माण अथवा ज्ञान के आविष्कार का, सभी क्षेत्रों में हमें गुरु की आवश्यकता पड़ती ही है।

'गुरु' का शाब्दिक अर्थ

'गुरु' शब्द की उत्पत्ति 'गृ' धातु में 'कु' और 'उत्व' करने से होती है।[136]

आचार्य पाणिनि के अनुसार भ्वादिगणीय 'गृ' सेचने धातु से गुरु शब्द निष्पन्न होता है।

तुदादिगणीय 'गृ-निगरणे' धातु से गुरु शब्द की सिद्धि होती है, जिसका अर्थ है- अज्ञानान्धकार विदारक। जैन वाङ्मय में गुरु शब्द का विवेचन करते हुए कहा है- 'गृणाति शास्त्रार्थमिति गुरुः' अर्थात् जो शास्त्रों के अर्थ को बताता है वह गुरु है।[137]

आवश्यक निर्युक्ति में गुरु को परिभाषित करते हुए कहा है- 'गृणन्ति शास्त्रार्थमिति गुरवः, धर्मोपदेशादि दातारः इत्यर्थः।' अर्थात् जो शास्त्रों के रहस्यों को बताते हैं और धर्म आदि के उपदेश प्रदान करते हैं, उन्हें गुरु कहते हैं।[138] 'गृणाति यथावस्थितः प्रवचनार्थमिति गुरुः' अर्थात् यथावस्थित पदार्थों के उपदेशक

को गुरु कहते हैं। (प्रज्ञापना महलवृत्ति-1, पृ. 3)।

अभयदेवसूरि ने कहा है- जो सूत्र और अर्थ दोनों के ज्ञाता हों, उत्कृष्ट कोटि के लक्षणों से युक्त हों, संघ के लिए मेढ़ि के समान हों, जो अपने गणगच्छ अथवा संघ को समस्त प्रकार के संतापों से पूर्णत: विमुक्त रखने में सक्षम हों तथा जो अपने शिष्यों को आगमों की गूढ़ार्थ सहित वाचना देते हों, उन्हें आचार्य कहते हैं।[139] मनुस्मृति में कहा गया है कि जो विप्र निषेक (गर्भाधान) आदि संस्कारों को यथा विधि करता है और अन्न से पोषण करता है वह गुरु कहलाता है।[140] इस परिभाषा के अनुसार पिता प्रथम गुरु है, तत्पश्चात् पुरोहित, शिक्षक आदि।

गुरु के गुण

जीवन-निर्माण में गुरु की भूमिका निर्विकल्प है। ऐसी स्थिति में उस महान् विभूति का योग्य होना भी नितान्त आवश्यक है। प्रश्न उठता है कि शिक्षक की योग्यता क्या होनी चाहिए? कौन व्यक्ति गुरु बनने का अधिकारी है? क्या सभी लोग यथेच्छा आचार्य या गुरु बन सकते हैं?

ज्ञाताधर्मकथांग में उपर्युक्त सभी प्रश्नों को समाधायित करते हुए कहा है कि गुरु कुलसम्पन्न, विनयसम्पन्न, ज्ञानवान, ओजस्वी, तेजस्वी, वचस्वी, यशस्वी, तपस्वी, संयमी, आर्जव प्रधान, मार्दव प्रधान, लाघव प्रधान, निर्लोभी, लौकिक व लोकोत्तर आगमों में निष्णात, चारित्र प्रधान, उदार, करण प्रधान, चरण प्रधान, बल सम्पन्न, सत्य प्रधान, शौच प्रधान, मंत्र प्रधान, नय प्रधान व नियम प्रधान होना चाहिये।[141]

आवश्यक निर्युक्ति में कहा गया है कि अध्यापकों में भी विद्यार्थियों को शिक्षा देने के लिए पूर्ण योग्यता होनी चाहिये। जो प्रश्न विद्यार्थियों द्वारा पूछे जाएं उनका उत्तर अपना बड़प्पन प्रदर्शित किए बिना देना चाहिए तथा कभी असम्बद्ध उत्तर नहीं देना चाहिए।[142]

व्यवहारसूत्र में आचार्य पद को प्राप्त करने की योग्यताओं के विषय में कहा गया है कि कम से कम पाँच वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला, श्रमणाचार में कुशल, प्रवचन में प्रवीण, प्रज्ञा बुद्धि में निष्णात, आहारादि के उपग्रह में कुशल, अखण्डाचारी, सबल दोषों से रहित, भिन्नता रहित आचार का पालन करने वाले, नि:कषाय चरित्र वाले अनेक सूत्रों और आगमों आदि में पारंगत श्रमण आचार्य अथवा उपाध्याय पद को प्राप्त करने के योग्य हैं।[143] मूलाचार में आचार्य के गुणों पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि आचार्य को संग्रह-अनुग्रह में कुशल,

सूत्र के अर्थ में विशारद, कीर्ति से प्रसिद्धि को प्राप्त तथा चरित्र में तत्पर होना चाहिए।[144] साथ ही ग्राह्य और आदेय वचन बोलने वाला, गंभीर, दुर्धर्ष, शूर, धर्म की प्रभावना करने वाला, क्षमागुण में पृथ्वी के समान, सौम्यगुण में चन्द्रमा के समान और निर्मलता में समुद्र के समान होना चाहिए।[145] उपाध्याय अमर मुनि के अनुसार- 'पाँच इन्द्रियों के वैषयिक चांचल्य को रोकने वाला, ब्रह्मचर्य व्रत की नवविध गुप्तियों को धारण करने वाला, क्रोधादि चार कषायों से मुक्त, अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों से युक्त, पाँच आचार का पालन करने में समर्थ, पाँच समिति और तीन गुप्तियों को धारण करने वाला श्रेष्ठ साधु ही गुरु है।[146] जीवन्धर चम्पू में गुरु की निर्लोभवृत्ति का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि गुरु भौतिक वस्तुओं की आकांक्षा नहीं करते थे। अपने उपदेश को शिष्य द्वारा मानने को गुरु दक्षिणा मान लेते थे।[147] उपनिषद् में कहा गया है कि प्राचीनकाल में आचार्य अथवा अध्यापक अपने विषय का पूर्ण ज्ञानी और विद्वान होता था। वह शिष्य को मुक्ति के मार्ग का दिग्दर्शन कराने वाला सुज्ञानी होता था।[148] गुरु अज्ञान के तिमिर से छात्र को ज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश में लाता था।[149] महाभारत में भी कहा गया है कि गुरु वाक्पटु, प्रत्युत्पन्नमति सम्पन्न, तार्किक और रोचक कथाओं में दक्ष तथा ग्रंथों का अर्थ करने में आशु पण्डित होता था।[150] गुरु को शांत, समदर्शी, ज्ञानी, विद्वान, शास्त्रपारंगत एवं स्वाध्यायशील होना चाहिए।[151] उसे क्षमाशील, संयमी, सत्यवादी, ऋजु तथा अन्य सद्गुणों से सम्पन्न होना चाहिए।[152] शिक्षक के लिए कालिदास ने कहा है कि वह विद्वान ही नहीं होता अपितु शिष्ट क्रियायुक्त साधु-प्रकृति वाला होता है।[153]

गुरु के प्रकार-

जैनागमों में आचार्य के कई प्रकार बताए गए हैं। स्थानांग में गुण को दृष्टि में रखकर आचार्य के अग्रांकित भेद/प्रकार बतलाए गए हैं-

गुणों के आधार पर[154]-

i. आमलक-मधुर (आंवले की तरह मीठा)
ii. मृदवीका-मधुर (दाख की तरह मीठा)
iii. क्षीर-मधुर (दूध की तरह मीठा)
iv. खंड-मधुर (शक्कर की तरह मीठा)

दीक्षा की दृष्टि से[155]-

i. प्रव्राजनाचार्य

ii. उत्थापनाचार्य

iii. प्रव्राजनोत्थापनाचार्य

iv. धर्माचार्य

ज्ञान एवं कार्य की अपेक्षा से[156]-

i. उद्देशनाचार्य

ii. वाचनाचार्य

iii. उद्देशनाचार्य-वाचनाचार्य

iv. न उद्देशनाचार्य न वाचनाचार्य

ज्ञाताधर्मकथांग में आचार्य के दो प्रकार बतलाए गए हैं-

(i) धर्माचार्य (ii) कलाचार्य

मेघकुमार अपने धर्माचार्य भगवान महावीर के निकट सम्पूर्ण प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता है।[157] मेघकुमार[158] और थावच्चापुत्र[159] को निश्चित वयोपरान्त कलाचार्य के पास शिक्षार्थ भेजा गया।

राजप्रश्नीय सूत्र में तीन[160] प्रकार के आचार्य बतलाए गए हैं-

(i) कलाचार्य (ii) शिल्पाचार्य (iii) धर्माचार्य

जो बहत्तर कलाओं की शिक्षा देते हैं, वे कलाचार्य, जो विद्वान आदि का ज्ञान कराते हैं, वे शिल्पाचार्य तथा जो धर्म का प्रतिबोध देने वाले हैं, वे धर्माचार्य कहलाते हैं।

गुरु का महत्व

गुरु का स्थान हमारे समाज में सदैव पूजनीय रहा है। गुरु मुक्तिपथ प्रदर्शक होता है। ज्ञाताधर्मकथांग में मेघकुमार[161], थावच्चापुत्र[162], शैलक[163], जितशत्रुराजा[164], द्रौपदी[165] व पुण्डरीक[166] आदि को गुरु ने मुक्ति पथ दिखलाया और वे उस पथ पर अग्रसर हुए।

दशवैकालिक सूत्र में आचार्य की गरिमा पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है- 'जिस प्रकार प्रातःकाल देदीप्यमान सूर्य समस्त भरतखण्ड को अपने किरण समूह से प्रकाशित करता है, ठीक उसी प्रकार आचार्य श्री श्रुत, शील और बुद्धि से युक्त हो उपदेश द्वारा जीवादि पदार्थों के स्वरूप को यथावत् प्रकाशित करता है तथा जिस प्रकार स्वर्ग से देवसभा के मध्य इन्द्र शोभता है, उसी प्रकार साधु-सभा के मध्य आचार्य शोभता है।[167] इसी प्रकार चन्द्रमा की उपमा देते हुए कहा

गया है- ''जिस प्रकार कौमुदी के योग से युक्त तथा नक्षत्र और तारों के समूह से घिरा हुआ चन्द्रमा, बादलों से रहित अतीव स्वच्द आकाश में शोभित होता है, ठीक उसी प्रकार आचार्य भी साधु-समूह में सम्यक्तया शोभित होते हैं।''[168] ब्रह्माण्ड पुराण में कहा गया है कि गुरु साक्षात् शिव है, जो ज्ञान के वितरणार्थ पृथ्वी पर विचरण करते हैं।[169]

गुरु की महत्ता को शब्दों में व्यक्त करना मानो सूर्य को दीपक दिखाना है। जैन दर्शन में गुरु की महत्ता को जाति, कुल या वर्ण से नहीं आंका गया है बल्कि उसकी महत्ता गुणों के आधार पर निर्धारित की गई है, उदाहरणार्थ उत्तराध्ययनसूत्र में चाण्डाल को भी शिक्षा पाकर महर्षि बनना बताया गया है।[170]

शिष्य की अर्हताएँ

शिक्षण कार्य तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक शिष्य योग्य नहीं हो। ज्ञाताधर्मकथांग में शिष्य के लिए 'अन्तेवासी' एवं 'शिष्य'[171] शब्दों का प्रयोग किया गया है। शिष्य के गुणों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वह विनयवान्, तपस्वी, तेजस्वी, शरीर के प्रति सर्वथा ममत्वहीन, कठिन ब्रह्मचर्य में लीन और उदार वृत्ति वाला होना चाहिए। उसे गुरु से न बहुत दूर, न बहुत समीप अर्थात् उचित स्थान पर, पूर्ण श्रद्धा के साथ मस्तक झुकाकर ध्यानरूपी कोष्ठ में स्थित होकर संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए बैठना चाहिए।[172] उस समय के शिष्यों में सेवा भावना प्रमुखता से परिलक्षित होती है, इसे अग्रांकित उदाहरण द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है- पंथक अनगार शैलक राजर्षि की शय्या, संस्तारक, उच्चार, प्रस्रवण, श्लेष्म-संघाण के पात्र, औषध, भेषज, आहार, पानी आदि से बिना ग्लानि, विनयपूर्वक वैयावृत्य करने लगा।[173] आचारांग सूत्र में कहा गया है कि जैन संस्कृति के विद्यार्थी ऊन, रेशम, ताड़पत्र आदि से बने वस्त्रों के लिए गृहस्थ से याचना करते थे। वे चमड़े के वस्त्र और बहुमूल्य रत्नजड़ित अलंकृत वस्त्रों को ग्रहण नहीं करते थे। हट्टे-कट्टे विद्यार्थी केवल एक और भिक्षुणियाँ चार वस्त्र पहनती थी।[174] उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि कोई सुयोग्य शिष्य अपने शिक्षक के प्रति कभी अशिष्ट व्यवहार नहीं करता, कभी मिथ्या भाषण नहीं करता और एक जातिमन्त अश्व की भांति वह उसकी आज्ञा का पालन करता है। अपने प्रिय वचनों से गुरु के कोप को शान्त करता है और अपने प्रमादपूर्ण आचरण के लिए क्षमा मांगता हुआ भविष्य में इसे न

दोहराने का वचन देता है। वह न कभी आचार्य के बराबर न उसके सामने और न उसके पीछे बैठता है। कभी आसन पर बैठकर वह प्रश्न नहीं पूछता, बल्कि यदि कुछ पूछना हो तो अपने आसन से उठकर, पास में आकर, हाथ जोड़कर पूछता है। यदि कभी आचार्य कठोर वचनों द्वारा शिष्य को अनुशासन में रखना चाहे तो तो वह क्रोध न करके शान्तिपूर्वक व्यवहार करता है और सोचता है कि इससे उसका लाभ ही होने वाला है, जैसे किसी अविनीत घोड़े को चलाने के लिए बार-बार कोड़ा मारने की आवश्यकता होती है वैसे ही विद्यार्थी को अपने गुरु से कर्कश वचन सुनने की आवश्यकता नहीं होती बल्कि जैसे कोई विनीत घोड़ा अपने मालिक का कोड़ा देखते ही दौड़ने लगता है वैसे ही आचार्य का ईशारा पाकर सुयोग्य विद्यार्थी सत्कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। वास्तव में वही विनीत शिष्य कहा जाता है जो अपने गुरु की आज्ञा का पालन करता है, उसके समीप रहता है और उनका ईशारा पाते ही काम में लग जाता है।[175] जो सदा गुरुकुल में वास करता है, जो समाधियुक्त होता है, जो उपधान (श्रुत अध्ययन के समय तप) करता है, जो प्रिय करता है, जो प्रिय बोलता है- वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है।[176] विद्यार्थी को सहनशील, इन्द्रियनिग्रही, मधुरभाषी, रसों में अलोलुप, अक्रोधी, शीलव्रती और सत्यभाषी होना चाहिए।[177] आवश्यक निर्युक्ति में अच्छे शिष्य के सम्बन्ध में कहा है कि वह आचार्य के पढ़ाए हुए विषय को हमेशा ध्यानपूर्वक सुनता है, प्रश्न पूछता है, प्रश्नोत्तर सुनता है, उसका अर्थ ग्रहण करता है, उस पर चिन्तन करता है, उसकी प्रामाणिकता का निश्चय करता है, उसके अर्थ को याद रखता है और तदनुसार आचरण करता है।[178] कौटिल्य के अनुसार वे ही विद्या प्राप्ति के योग्य हैं जिनमें शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊहापोह, विवेक बुद्धि आदि गुण हैं।[179] महाभारत में कहा गया है कि छात्रों को परनिन्दा, असत्य भाषण, चुगलखोरी, परचर्चा, असंस्कृत दृश्य-दर्शन तथा कुसंगति आदि दुर्गुणों से दूर रहना पड़ता था। उन्हें गुरु निन्दा नहीं करनी होती थी तथा भक्ष्याभक्ष्य एवं पेयापेय का भी विचार करना पड़ता था।[180] सामान्यत: विद्यार्थी के लिए संध्या-वंदन, पूजा-पाठ, स्नान, सच्चरित्रता आदि धर्म के अंतर्गत शामिल किए गए थे। सत्य भाषण भी प्रमुख माना गया था और यह कहा गया था कि सत्य न बोलने से भी धर्म का क्षय हो जाता है।[181] रघुवंश में छात्र नियम-संयम की चर्चा करते हुए कहा गया है कि वह मृगचर्म पहनकर छात्र-जीवन व्यतीत करता था। परिधान के रूप में वह 'उत्तरीय' और 'वास' धारण करता था।

'वास' को वह कटि प्रदेश के नीचे सर्वदा पहने रहता था। गुरुकुल में वह कुश की चटाई पर सोता था। ऋषि के आश्रम में रहकर छात्र अनेक प्रकार के नियम-संयम से परिचित हो जाता था।[182] प्रायः छात्र को जूते, छाते और रथ आदि के उपयोग की अनुमति नहीं दी गई थी।[183]

शिष्य की अयोग्यताएँ

ज्ञाताधर्मकथांग में शिष्य की अयोग्यताओं के बारे में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है लेकिन अग्रांकित घटना से स्पष्ट है कि शरीर के प्रति आसक्त रहने वाला व्यक्ति शिष्य बनने का अधिकारी नहीं है, गोपालिका आर्या तथा पुष्पचूला आर्या ने क्रमशः सुकुमालिका और काली आर्या को शरीरासक्त (सरीर वाउसिया) हो जाने के कारण शिष्यत्व से पृथक् कर दिया।[184]

उत्तराध्ययन सूत्र में विद्यार्थी की अयोग्यता का विवेचन करते हुए कहा गया है कि अहंकार, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य इन पाँच दुर्गुणों से युक्त शिष्य शिक्षा प्राप्त करने का अधिकारी नहीं है।[185] अविनीत शिष्यों की तुलना गलियार बैलों (खलुंक) से की गई है, जो धैर्य न रखने के कारण आगे बढ़ने से जवाब दे देते हैं। ऐसे शिष्यों को यदि किसी कार्य के लिए भेजा जाए तो वे इच्छानुसार पंख निकले हुए हंस शावकों की भांति इधर-उधर घूमते रहते हैं। ऐसे कुशिष्यों को अत्यन्त कुत्सित गर्दभ (गलिगद्दह) की उपमा दी गई है। आचार्य ऐसे शिष्यों से तंग आकर उन्हें उनके भाग्य पर छोड़ देते और स्वयं वन में तप करने चले जाते।[186] मनु ने कहा है कि जिस शिष्य में धर्म तथा अर्थ न हो अथवा शिक्षानुरूप सेवावृत्ति न हो, उसे ऊसर समझकर विद्यारूपी बीज का दान नहीं करना चाहिए।[187]

गुरु-शिष्य सम्बन्ध

गुरु-शिष्य सम्बन्धों पर ही टिकी है- शिक्षण-अधिगम की नींव। इनके सम्बन्धों की प्रगाढ़ता शिक्षा की सफलता के लिए अनिवार्य है।

ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसंधान से स्पष्ट होता है कि उस समय गुरु-शिष्य सम्बन्ध अत्यन्त स्नेहपूर्ण थे। शिष्य गुरु के घर पर जाकर अध्ययन करता था। मेघकुमार ने कलाचार्य के घर पर रहकर बहत्तर कलाओं का ज्ञान किया।[188] गुरु उसे अपने परिवार के सदस्य के समान स्नेह देता था। शिष्य में विनय भावना विद्यमान थी। जम्बू[189], मेघकुमार[190] व सुदर्शन[191] आदि शिष्य गुरु से वार्तालाप

करते समय विनयपूर्वक अपने आसन से उठ जाते और हाथ जोड़कर मस्तक पर अंजलि करते फिर अत्यन्त अनुशासित और विनयपूर्वक ढंग से गुरु के समक्ष अपनी जिज्ञासा रखते। अर्हत् अरिष्टनेमि का शिष्य (श्रमणोपासक) कृष्ण त्रिखण्डाधिपति था लेकिन फिर भी उसने विनयपूर्वक उनका वंदन-नमस्कार किया।[192] शिष्य की सारी सुविधाओं का प्रबन्ध करना गुरु का धर्म था अत: अनेक शिष्य गुरु के स्नेह तथा सद्व्यहार से अपने घर तक को भूल जाते थे तथा आजीवन गुरु के साथ रहते थे।[193]

आचारांगसूत्र में कहा गया है कि विद्यार्थी और शिक्षक का सम्बन्ध तभी मधुर रह सकता है, जब वह सम्बन्ध स्नेह, ममता और नि:स्वार्थ भाव पर अवलम्बित हो। जैन ग्रंथकारों ने आचार्य की आज्ञा का पालन करना[194], डांट पड़ने पर भी चुपचाप सह लेना, भिक्षा में स्वादिष्ट भोजन न लेना, सूर्योदय से पूर्व उठकर शास्त्राभ्यास और गुरु का अभिवादन करना, रात्रि के तीसरे प्रहर में अल्प निद्रा लेना व कम भोजन करना विद्यार्थी के आवश्यक नियम बतलाए हैं।[195] योग्य छात्र वही है जो अपने आचार्य के उपदेशों पर पूर्ण ध्यान देता है। वह प्रश्न कर अर्थ को समझने के लिए वीतराग की चर्चा करता है।[196] कालिदास ने गुरु शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध को 'गुरुवो गुरु प्रियम' कहा है।[197] गुरु-शिष्य सम्बन्धों की प्रगाढ़ता व्यक्त करते हुए आपस्तम्बगृहसूत्र में कहा गया है कि गुरु की त्रुटियों को शिष्य अत्यन्त विनयपूर्वक एकान्त में उसे बताता था।[198] गुरु की शिष्य के प्रति सदा अभिन्नता रहती थी।[199] पंथक नामक शिष्य ने गुरु शैलक के साथ अभिन्नता बनाए रखी।[200] प्राय: शिष्य आचार्य को ब्रह्मा की मूर्ति के समान मानता था।[201] आचार्य के समीप आने वाले सभी शिष्य अतिथि के समान थे। ये शिष्य अपने आचार्य की देवता के रूप में सेवा करते थे। कभी-कभी इन सेवक शिष्यों में से कुछ शिष्य मन्द बुद्धि के भी होते थे, किन्तु आचार्य उनकी सेवा और विनम्रता से प्रसन्न होकर उन्हें भी ज्ञानार्जन कराता था।[202]

अनुशासन-व्यवस्था

शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया को निर्बाध गति से संचालित करने के लिए सुदृढ़ अनुशासन व्यवस्था अनिवार्य है।

प्राचीनकाल में गुरु शिष्यों को शिल्प में निपुण बनाने के लिए विविध प्रकार से उपालम्भ, ताड़ना और तर्जना देते थे। राजकुमार भी इसके अपवाद

नहीं थे। सांकल से बांधना, चाबुक आदि से पीटना और कठोर वाणी से भर्त्सना करना- ये विधियाँ अध्ययनकाल में अध्यापक वर्ग द्वारा विहित मानी जाती थी।[203] ज्ञाताधर्कथांग में मेघकुमार संयम की प्रथम रात्रि में अपने सहवर्ती साधुओं के पादादि के स्पर्श से नींद नहीं ले पाता है और उसका मन संयम से विचलित होने लगा। भगवान महावीर ने उसे मृदु उपालम्भ देते हुए पुनः संयम में स्थिर करने का सफल प्रयास किया।[204] सुकुमालिका आर्या के शरीरबकुश अर्थात् संयम से शिथिल हो जाने पर उसकी गुरु गोपालिका आर्या ने प्रायश्चित करने को कहा और ऐसा न करने पर उसे संघ से अलग कर दिया।[205] इसी प्रकार के अपराध पर पुष्पचूला आर्या ने काली आर्या को प्रायश्चित अंगीकार करने को कहा, ऐसा न करने पर उसे संघ से अलग होना पड़ा।[206] आपस्तम्ब में भी कहा गया है कि शिक्षक अपराधी शिष्य को अपने सामने से अलग कर दें अथवा उपवास निर्धारित कर दें।[207] प्रायश्चित के दस भेद बताए हैं- आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, उपस्थान व पारांचिक।[208] वैदिक युग में आचार्य विद्यार्थी को प्रथम दिन ही आदेश देता था कि, ''अपना काम स्वयं करो, कर्मण्यता ही शक्ति है, अग्नि में समिधा डालो, अपने मन को अग्नि के समान ओजस्विता से समृद्ध करो, सोओ मत।''[209] गौतम हल्के शारीरिक दण्ड की अनुमति देते हैं, किन्तु यह साफ कर देते हैं कि कठिन दण्ड देने वाले शिक्षक राजा के द्वारा दण्डित हों।[210]

इस प्रकार स्पष्ट है कि दण्ड किसी भी रूप में कठोर या अमानुषिक नहीं था। विद्यालय का जीवन सामान्यतः स्निग्ध तथा स्नेहमय रहा करता था। शिक्षार्थी और शिक्षक के सम्बन्ध का आदर्श ही इतना उत्कृष्ट था कि अनुशासन भंग की संभावना ही अत्यल्प थी।

शिक्षालय

ज्ञाताधर्मकथांग में अग्रांकित शिक्षण अभिकरणों का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख मिलता है-

1. गुरुकुल

उस समय शिष्य शिक्षार्थ गुरु के निवास स्थान अर्थात् गुरुकुल में जाते थे। मेघकुमार[211] और थावच्चापुत्र[212] जब आठ वर्ष के हुए तो उन्हें शुभ मुहूर्त में

कलाचार्य के पास भेजा गया। वैदिक काल में प्राय: प्रत्येक विद्वान गृहस्थ का घर विद्यालय होता था।[213] महाभारत में कण्व, व्यास, भारद्वाज और परशुराम आदि के आश्रमों के वर्णन मिलते हैं।[214] रामायणकालीन चित्रकूट में वाल्मीकि का आश्रम था।[215]

2. मठ

शिक्षार्थी अध्ययन करने के लिए मठ में भी जाते थे। ज्ञाताधर्मकथांग में मठ के लिए 'आवसहे' शब्द आया है। शुक नामक परिव्राजक सौगंधिका नगरी स्थित मठ में आया।[216]

3. चैत्य/उपाश्रय

ज्ञाताधर्मकथांग में शिक्षालय के रूप में चैत्य और उपाश्रय का उल्लेख भी मिलता है। भगवान महावीर धर्मोपदेश देने के लिए राजगृहनगर के गुणशील चैत्य में पधारे।[217] धर्मघोष नामक स्थविर राजगृहनगर में यथायोग्य उपाश्रय की याचना करके संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित कर विचरने लगे।[218] आर्य सुधर्मा धर्मोपदेश देने के लिए गुणशील चैत्य में पधारे।[219] साधुओं के निवास स्थान अर्थात् उपाश्रयों में भी विद्याध्ययन हुआ करता था। ऐसे स्थानों पर वे ही साधु अध्यापन के अधिकारी होते थे, जो उपाध्याय के समीप रहकर आगम का पूर्ण रूप से अभ्यास कर चुके होते थे।[220]

3. श्रेणियाँ

श्रेणियों का महत्व शिक्षा केन्द्र के रूप में भी था। श्रेणियों का संगठन मुख्य रूप से व्यापारियों द्वारा किया गया था। ज्ञाताधर्मकथांग में श्रेणियों की संख्या अट्ठारह बतलाई गई है।[221] कुम्भकार[222], सुवर्णकार[223], चित्रकार[224], सार्थवाह[225] व नौकावणिक[226] आदि श्रेणियों का उल्लेख किया गया है। बौद्ध ग्रंथों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि सुर्पारक की नाविक श्रेणी ने अपने सदस्यों को नौ-परिवहन में प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की थी।[227]

4. चल विद्यालय (श्रमण, स्थविर, परिव्राजक)

साधु अपने आचारानुसार एक स्थान पर स्थायी वास नहीं कर सकता प्रत्युत् विभिन्न नगर-ग्रामों में पदयात्रा करता हुआ तत्त्वोपदेश देता है तथा अपनी साधना करता है। वह वर्षाकाल के चार माह एक स्थान पर स्थिर होकर रहता है। श्रमण भगवान महावीर ग्रामानुग्राम से विहार करते हुए राजगृह नगर के

गुणशील चैत्य में पधारे और परिषद् को धर्मोपदेश दिया।[228] थावच्चापुत्र अणगार ने एक हजार मुनियों के साथ जनपदों में विचरण करते हुए शैलकपुर नगर के सुभूमिभाग नामक उद्यान में धर्मोपदेश दिया।[229] अरिष्टनेमि नन्दनवन नामक उद्यान में अपनी शिष्य सम्पदा के साथ पधारे और जनमेदिनी को धर्मोपदेश दिया।[230]

जैन शिक्षा संस्थान के रूप में लयन या गुहागृह का उल्लेख भी मिलता है। जैन मुनियों या साधुओं को नगर ग्रामादि बहुजन संकीर्ण स्थानों से दूर पर्वत व वन की जनशून्य गुफाओं व कोटरों आदि में निवास करने का विधान है। इसी कारण प्राचीन समय में मुनि प्राकृतिक रूप से बनी गुफाओं में जाकर साधना करते थे। कालान्तर में श्रावक समुदाय ने कृत्रिम लयन या गुफाओं का विशिष्ट तरीके से निर्माण करना प्रारंभ कर दिया। इन मुनियों-साधुओं के कारण ये गुहागृह साधना के साथ-साथ शिक्षा के भी केन्द्र बन गए।[231]

उपर्युक्त प्राचीन शिक्षण अभिकरणों के अलावा परिषद्, चरण, अग्रहार, यज्ञसत्र तथा राजसभा आदि की गणना भी शिक्षण संस्थाओं के रूप में की जा सकती है।[232]

ज्ञाताधर्मकथांग के मंथन से प्राप्त उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि तत्कालीन शिक्षा आज की भांति सिर्फ सैद्धान्तिक ही नहीं थी अपितु व्यावहारिक भी थी। शिक्षा के विषयों में विभिन्न कलाओं के समावेश के कारण शिक्षा रोजगारोन्मुखी थी।

यद्यपि उस समय आज की तरह बड़े-बड़े शिक्षा-संस्थान नहीं थे, शिक्षा गुरुकुलों में दी जाती थी, लेकिन इस प्रकार की शिक्षा जहाँ एक ओर शिक्षार्थी में अनुशासन-भावना का विकास करती थी, वहीं दूसरी ओर उसे जीवन-रणक्षेत्र में दो-दो हाथ करना सिखाती थी। शिक्षण श्रुतज्ञान पर आधारित था और प्रश्नोत्तर-प्रविधि मुख्य शिक्षण-विधि के रूप में प्रचलित थी।

शिष्य गुरु के सम्पर्क में आज की तरह सिर्फ पाँच-छ: घंटे ही नहीं अपितु दिन-रात यानी चौबीस घण्टे रहता था, इससे उनके सम्बन्धों में प्रगाढ़ता आती थी, परिणामस्वरूप अनुशासनहीनता की कल्पना ही नहीं की जा सकती थी।

शिक्षार्थी सिर्फ चिकित्सक, शिल्पकार, संगीतकार आदि ही नहीं अपितु आदर्श नागरिक भी बनता था। शिक्षा व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करने वाली थी। इस प्रकार कहा जा सकता है कि तत्कालीन शिक्षा व्यक्ति को आत्मनिर्भर ही नहीं बनाती थी बल्कि उसे आत्मकल्याण के मार्ग पर भी अग्रसर करती थी।

संदर्भ-

1. ऋग्वेद 7/76/1
2. उत्तराध्ययन
3. संस्कृत शब्दार्थ- कौस्तुभ- पृ. 1152
4. ऋग्वेद 7/81/1
5. *गीता अध्याय-18, श्लोक 20*
6. *उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. 165*
7. शिक्षा की आवश्यकताएँ, पृ. 13
8. वही पृ. 13
9. वही पृ. 12
10. वही पृ. 11
11. वही पृ. 11
12. वही पृ. 12
13. (i) शिक्षा और समाज- पृ. 2 (ii) शिक्षा समस्या और समाधान, पृ. 101
14. शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त- पृ. 3
15. शिक्षा की आवश्यकताएँ- पृ. 12
16. वही पृ. 13
17. समाज दर्शन की भूमिका, पृ. 90
18. एजुकेशन इन ऐंशियंट इण्डिया, पृ. 326
19. भारतीय शिक्षा का समाजशास्त्र - पृ. 3
20. शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त- पृ. 5
21. शिक्षा की आवश्यकताएँ- पृ. 12-13
22. शिक्षा के मूल सिद्धान्त- पृ. 17
23. वही -पृ. 18
24. शिक्षा शास्त्र- पृ. 5
25. वही - पृ. 5
26. भगवती आराधना 67/194/6 (उद्धृत- जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-4, पृ. 28)
27. शिक्षा और समाज- पृ. 51
28. शिक्षा विचार- विनोबा भावे पृ. 8
29. एक बूंद : एक सागर (खण्ड-4), पृ. 1341
30. शिक्षा और संस्कृति (लेखकीय)
31. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/3
32. वही 1/2/52
33. वही 1/5/24
34. वही 1/8/9
35. वही 1/8/182
36. वही 1/2/50
37. वही 1/1/191
38. दशवैकालिक सूत्र-4
39. ज्ञाताधर्मकथांग 1/5/7
40. वही 1/5/25
41. *वही 1/5/28-29*
42. वही 1/5/33
43. वही 1/5/135-150
44. वही 1/8/11
45. वही 1/8/110
46. वही 1/8/189
47. वही 1/1/4
48. वही 1/1/98
49. वही 1/1/98-99
50. वही 1/1/207, 1/5/43
51. उत्तर रामचरित, अंक-2
52. Education in Ancient India, p.326
53. विष्णुपुराण 1/19/41
54. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/159, 1/2/52
55. वही 1/8/183
56. जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सहे उभयं। तं जाणगो दु वाणी उभयंपिण कंखइ कयापि।।
    -समयसार-गाथा 213, पृ.325
57. अथर्ववेद-11/3/15
58. वही 7/68/1-3
59. वही 7/68/3
60. वही 7/10/1
61. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/159-160, 191
62. वही 1/5/25, 57
63. वही 1/8/186
64. वही 1/14/53
65. वही 1/16/228
66. (i) स्थानांगसूत्र 5/3/220 (मधुकर मुनि) (ii) "वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नाय-धर्मोपदेशाः" -तत्त्वार्थसूत्र 9/25
67. श्रवणं तु गुरोः मननं तदन्तरम्।

निदिध्यासनमित्येतत्पूर्ण बोधस्य कारणम्।।
-शुकरहस्योपनिषद् 3/13

68. महाभारत- (भीष्मपर्व) 26/4
69. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/164
70. वही 1/2/53
71. वही 1/3/26
72. वही 1/4/13
73. वही 1/5/71
74. वही 1/6/7
75. वही 1/7/31
76. वही 2/1/38
77. वही 1/1/8-9
78. वही 1/5/35
79. वही 1/8/111-115
80. वही 1/5/33
81. वही 1/8/110
82. वही 1/16/119
83. ज्ञातासूत्र नवांगीटीका- पहली कथा (अभयदेवसूरि), पृ. 45
84. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ. 510
85. (i) स्थानांग सूत्र 3/3/398
(ii) ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र 1/5/31
86. आचारांगचूर्णि, पृ. 185
87. व्याख्या प्रज्ञप्ति 2/1/12
88. उत्तराध्ययनसूत्र टीका-3 (शान्तिदेवसूरि), पृष्ठ 56
89. छान्दोग्योपनिषद् 7/1/2
90. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/99
91. वही 1/13/10-18
92. वही 1/1/99
93. वही 1/1/101
94. वही 1/2/29
95. वही 1/1/99
96. वही 1/5/35-39
97. वही 1/5/44-50
98. वही 1/8/138-141
99. वही 1/1/164, 187
100. वही 1/1/175
101. वही 1/1/162
102. वही 1/2/53
103. वही 1/8/34-35
104. वही 1/1/99
105. वही 1/1/90-91
106. वही 1/13/15
107. वही 1/8/95-96
108. वही 1/1/93
109. वही 1/2/20
110. वही 1/8/159-160, 1/13/16
111. वही 1/13/17
112. वही 1/13/21-22
113. वही 1/1/98
114. वही 1/1/104
115. वही 1/5/6
116. वही 1/16/44
117. वही 1/5/23
118. वही 1/8/55
119. वही 1/9/8
120. वही 1/17/4,7
121. वही 1/12/16-18
122. वही 1/1/99
123. वही 1/16/122
124. वही 1/1/99
125. वही 1/1/101
126. वही 1/1/99
127. वही 1/1/214
128. वही 1/17/12 (विवेचन)
129. वही 1/16/139
130. वही 1/16/152
131. वही 1/15/5-11
132. वही 1/8/53-72
133. वही 1/5/25, 1/16/219, 1/16/227
134. वही 1/18/16
135. वही 1/18/23
136. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 349
137. नन्दी (हारिभद्रीय वृत्ति), पृ. 5

138. आवश्यक निर्युक्ति (हारिभद्रीय वृत्ति) -179
139. भगवती सूत्र 1/1/1 (अभयदेव वृत्ति)
140. निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरूच्यते।
- मनुस्मृति- 2.142
141. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/4
142. आवश्यक निर्युक्ति -136
143. व्यवहार सूत्र 3.5
144. संगहणुग्गहकुसलो सुत्तत्थविसारओ
पहियकित्तो। किरिआचरणसुजुतो
गाहुयआदेज्जवयवो य।।
-मूलाचार -158, पृ. 133
145. गंभीरो दुहरिसो सूरो धम्मप्पहावणासीलो।
खिदिससिसायरसरओ कमेण तं सो दु
संपत्तो।।
-मूलाचार -159, पृ. 133-134
146. 1. पंचिंदिय-संवरणो, तह नवविह-
बंभचेर-गुत्तिधरो। चउविह-कसाय
मुक्को, इअ अट्ठारसगुणेहि संजुत्तो।।
2. पंचमहव्वय-जुत्तो, पंचविहायार-
पालणसमत्थो। पंचसमिओ तिगुत्तो,
छत्तीसगुणो गुरुमज्झ।।
-सामायिक सूत्र 3/1/,2, पृ. 161
147. जीवन्धर चम्पू, पृ. 257
148. कठोपनिषद् 1/2/9
149. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/212
150. महाभारत (उद्योग पर्व) 33/28
151. वही -33/28
152. महाभारत (विराट पर्व) - 53/4-6
153. मालविकाग्निमित्र -1
154. चत्तारि फला पण्णतता, तं जहा -
आमलगमहुरे, मुद्दियामहुरे, खीरमहुरे,
खंडमहुरे। एवामेव, चत्तारि आयरिया
पण्णत्ता, तंजहाआमलगमहुरफलमाणे,
जाव (मुद्दियामहुर-फलसमाणे,
खीरमहुरफलमाणे)। -स्थानांगसूत्र 4/3/
411 पृ. 341 (मधुकर मुनि)
155. स्थानांगसूत्र 4/3/422
156. वही 4/3/423
157. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/207-208, 1/19/29
158. वही 1/1/100
159. वही 1/5/6
160. रायपसेणइय-सुत्तं, सूत्र-191, पृ. 329
161. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/114,159
162. वही 1/5/13-24
163. वही 1/5/53,68
164. वही 1/8/138,190
165. वही 1/16/219,228
166. वही 1/19/23,29
167. जहा निसंते तवणच्चिमाली पभासई केवल
भारहं तु। एवायरिओ सुअसीलबुद्धिए,
विरांयई सुरमज्झेव इंदो।।
-दशवैकालिक- 9/1/14
168. जहा ससी कोमुइजोगजुत्तो, नक्खत्ततारागण
परिबुडप्पा। खे सोहई विमले अब्भमुक्के,
एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्झे।।
-वही 9/1/15
169. मनुष्यचर्मणा बद्ध साक्षात्पर शिवः स्वयं।
-ब्रह्माण्डपुराण 4/43/68
170. सोवागकुलसंभूओ, गुणत्तरधरो मुणी।
हरिएसबलोनाम, आसि भिक्खू
जिइन्दिओ।।
- उत्तराध्ययन 12/1
171. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/6, 2/1/2-3
172. वही 1/1/6
173. वही 1/5/65
174. आचारांगसूत्र 2/14/1/6, शोभाचन्द्र भारिल्ल
175. उत्तराध्ययनसूत्र 1/2, 9, 22, 27, 41
176. वसे गुरुकुले निच्चं जोगवं उवहाणवं।
पियंकरे पियंवाई से सिक्खं लद्धुमरिहई।।
-वही 11/14
177. (i) अह अट्ठहिं ठाणेहिं सिक्खासीले ति
वुच्चई। अहस्सिरे सया दन्ते न य
मम्ममुदाहरे।।
- वही 11/4

(ii) नासीले न विसीले न सिया अइलोलुए अकोहणे स सच्चरए सिक्खासीले ति वुच्चई।

- वही 11/5

178. आवश्यक निर्युक्ति, 22
179. कौटिल्य अर्थशास्त्र 1/4
180. (i) महाभारत (द्रोणपर्व) 169/10
(ii) महाभारत (अनुशासनपर्व) 131/25
181. अमृत मंथन 15/4
182. रघुवंश 3/31, 1/95
183. जातक, संख्या 252
184. ज्ञाताधर्मकथांग 1/16/75, 2/1/25
185. 'अह पंचहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भई' थम्भा कोहा पमाएणं रोगेणाऽलस्सएण य।।

- उत्तराध्ययन सूत्र 11/3

186. उत्तराध्ययन सूत्र 27/8, 13, 16
187. मनुस्मृति 2/112
188. ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र 1/1/100
189. वही 1/1/7
190. वही 1/1/113
191. वही 1/5/35
192. वही 1/5/12
193. वही 1/1/190
194. वही 1/5/24
195. वही 1/5/70
196. आचारांगसूत्रम् 2/14/1/6
197. रघुवंश 3/29
198. आपस्तम्बगृहसूत्र 1/2/6/13
199. महावग्ग 1/32/1
200. ज्ञाताधर्मकथांग 1/5/64-68
201. मत्स्यपुराण 211/21
202. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ. 517
203. दशवैकालिक एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 217
204. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/162, 188
205. वही 1/13/76-78
206. वही 1/2/26-29
207. आपस्तम्ब 1,2,8,30
208. श्री स्थानांग सूत्र 10
209. शतपथ ब्राह्मण- 11/5/4/5
210. शिष्यशिष्टिरवधेन। अशक्तोरज्जुवेणुविदलाभ्याम्। अन्येन घ्नन् राजाशास्यः।

-न्यायसूत्र, 1,2/48,53

211. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/98
212. वही 1/5/6
213. छान्दोग्योपनिषद् 8, 15, 1, 4, 9, 1
214. महाभारत (आदिपर्व) 70
215. रामायण 2/56/16
216. ज्ञाताधर्मकथांग 1/5/31
217. वही 1/1/111, 2/1/6
218. वही 1/2/50
219. वही 2/1/2
220. लाइफ इन एन्शयेंट इंडिया एज डेपिक्टेड इन दी जैन कैनन्स, पृ. 173-174
221. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/91
222. वही 1/1/91
223. वही 1/8/81
224. वही 1/8/96
225. वही 1/15/5
226. वही 1/8/53, 1/17/3
227. सुपार्रक जातक -463, पृ. 338
228. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/108, 111, 114
229. वही 1/5/28
230. ज्ञाताधर्मकथांग 1/5/7
231. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ. 306
232. भगवान महावीर : एक अनुशीलन, पृ. 67

अष्ठम परिवर्त

ज्ञाताधर्मकथांग में कला

कला मानव संस्कृति की उपज है। प्रकृति में विचरण करते हुए मानव ने श्रेष्ठ संस्कार के रूप में जो कुछ सौन्दर्यबोध प्राप्त किया है, 'कला' उसी की प्रतिध्वनि है। परिस्थितियों को इच्छित आकार देकर ही मनुष्य ने मानव-संस्कृति को जन्म दिया और उसे विकास के शिखर की ओर अग्रसर किया। पशु और मनुष्य में मुख्य अन्तर ऊर्ध्वोमुखी चेतना का है, जो उसे प्रकृति पर विजय प्राप्त करने और परिस्थिति को इच्छित स्वरूप देने में समर्थ बनाती है। आहार-भय-मैथुनादि सामान्य पशु-क्रियाओं से ऊपर उठकर मनुष्य ने जब आत्मचैतन्य प्राप्त किया, तब उसमें एक नई दीप्ति की प्रस्फुरणा हुई। जीवन-संघर्ष से थोड़ा अवकाश मिलते ही मानव अपने अनुभवों से लाभ प्राप्त करता हुआ सुविधावाद की ओर मुखातिब होता है। पर्णकुटी से प्रासाद तक बढ़ते हुए मनुष्य ने अपनी अनवरत वृद्धिमान आवश्यकताओं की पूर्ति ही नहीं की, बल्कि अपने अन्तस् में उत्कृष्ट सौन्दर्य-चेतना का विकास किया और शारीरिक आवश्यकताओं से ऊपर उठकर मानसिक संतृप्ति को अपना ध्येय बनाया। पकवान और सुगंधित द्रव्यों का आविष्कार, रंगोली की कला, सोने-चाँदी के आभूषणों का वैचित्र्य, चित्र और मूर्ति का निर्माण, इष्ट-मित्रों के हास-विनोद, कथा और काव्य, नृत्य और संगीत, ये सब मानव की सतत विकासोन्मुख कला-चेतना के ही विभिन्न आयाम हैं। मानसिक जगत् की ये आह्लादकारी चेष्टाएँ मनुष्य के भाव-जगत को सुन्दरता और स्निग्धता सम्प्रेषित करती रही है।

'कला' शब्द बहुचर्चित-बहुप्रचलित और अति प्राचीन शब्द रहा है। कला की नानाविध परिभाषाएँ एवं व्याख्याएँ की गई हैं।

कला शब्द की व्युत्पत्ति

'कला' शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ उपलब्ध हैं-

1. 'कल्' धातु से व्युत्पन्न होने के कारण 'कला' शब्द का अर्थ होता है- करना, सृजन, रचना, निर्माण या निष्पन्न करना।[1]
2. 'कं सुखम् लातीति कला' अर्थात् जो सुख को लाने वाली, प्रदान करने

वाली हो, वह कला है।[2]

3. चुरादिगणीय 'कल आस्वादने' धातु से 'कला' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है 'कलयति आस्वादयति इति कला' अर्थात् जो आस्वाद का विषय हो वह कला है, जिसमें आनन्द रस की उपलब्धि हो उसे कला कहते हैं।[3]
4. भ्वादिगणीय 'कडमदे' धातु (प्रसन्न करना, मदमस्त करना) से कला को संबंधित मानते हैं अर्थात् जिससे प्रसन्नता की प्राप्ति हो, वह कला है।[4]
5. चुरादिगणीय धारणार्थक 'कल्' धातु से भी कला शब्द की निष्पत्ति हो सकती है, जिसका अर्थ है- सुख को धारण करे, मन या चित्त को धारण करे, वह कला है।[5]
6. कुछ विद्वान इसे 'कं' अर्थात् आनन्द को लाने वाला मानते हैं- 'कं आनन्दं लाति इति कला'।

'कला' शब्द का अर्थ

भारतीय वाङ्मय में 'कला' शब्द का प्रयोग लगभग बीस अर्थों में हुआ है, जिसमें मुख्य हैं- 16वाँ भाग, छोटा भाग, चन्द्रमा का 16वां भाग, काल का एक प्रमाण विशेष, मूल-ब्याज, राशि के 30वें भाग का 60वाँ भाग, कौशल, चातुर्य, कपट, सुन्दर, कोमल, नौका, हुनर, विद्या, युक्ति, शिल्प, शोभा आदि।[6] भारतीय परम्परा में 'कला' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम भरत नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है। नाट्यशास्त्र में ऐसा कोई ज्ञान नहीं, कोई शिल्प नहीं, कोई विद्या नहीं जो कला नहीं हो।[7]

'कला' का लोक प्रचलित अर्थ है- किसी भी कार्य को सर्वोत्तम ढंग से करने का तरीका।

कला की परिभाषाएँ

◗ वृहदारण्यक

''ब्रह्म-परमात्मा मूर्त और अमूर्त दोनों हैं, अमूर्त ब्रह्म के मूर्त रूप की अनुभूति-चेतना ही कला है। परमात्मा की मूर्तता-व्यक्तता ही कला है। कला का कार्य सौन्दर्य सृजन है, सौन्दर्य की विज्ञप्ति कला ही करती है, कला सौन्दर्य की

मापिका है।''[8]

◗ ध्वन्यालोक लोचना कौमुदी

''कला प्रस्तुत यथार्थ की यथावत् नकल नहीं उतारती बल्कि वह उसे आदर्शीकृत करती है और आदर्शीकरण की इसी प्रक्रिया में उस कला का रहस्य छिपा रहता है।''[9]

◗ हिन्दी साहित्य कोश

''कला में क्षोभ और श्रम का परिहार है, मन का रंजन और उद्‌बोधन है, विगत अनुभवों की सुखद पुनरावृत्ति है, यह सब मनुष्य ने जाना तभी तो आकांक्षा-मधुर कला-निमिति और कलानन्द का जन्म हुआ।''[10]

◗ अरस्तु

''स्वभाव के माध्यम से मनुष्य विभिन्न वस्तुओं का अनुकरण करता है। कुछ कलाकार रंगों और मूर्तियों के द्वारा अनुकरण करते हैं तथा अन्य शब्दों द्वारा। अत: कला को प्रकृति का अनुकरण-मात्र नहीं माना जा सकता, इसे हम प्रकृति की पुनर्कृति कह सकते हैं।''[11]

◗ "Man creates more adequate forms of beauty than he finds already in poetry existing in the world about him. Art is superior to Nature."[12]- Hegal

अर्थात् मानव अपने चारों ओर सृष्टि में जो सौन्दर्य पाता है, वह उससे भी उत्कृष्ट सौन्दर्य कल्पना के सहारे निर्मित करता है और इस प्रकार कला प्रकृति से श्रेष्ठ है।

◗ टाल्सटाय

''भावों को क्रिया, रेखा, रंग, ध्वनि या शब्द द्वारा इसप्रकार अभिव्यक्त करना कि उसे देखने या सुनने वाले में भी वही भाव जग जाए, वही कला है।''[13]

◗ फ्रायड

''कला अवचेतन मन की अतृप्त वासनाओं का समुन्नत रूप है।''[14]

◗ टैगोर

''कला की मूल प्रेरणा सौन्दर्य-भावना है। सौन्दर्य का बोध हमें विश्व की विभूतियों में आनन्द की प्रतीति देकर हमारी कला को सुन्दर और सम्पन्न बनाता

है। जब हम आत्मा के सौन्दर्य का बोध करते हैं, तो विश्वात्मा के परमानन्द का अनुभव, हमारी कला को कल्याण और प्रेम के मार्ग से असीम की ओर ले जाता है।''[15]

◗ एडीसन

''प्राकृतिक जगत् के उस शारीरिक और नैतिक सौन्दर्य का, जिससे हमें वस्तु-जगत् में आनन्द प्राप्त होता है, हम बारम्बार साक्षात्कार और अनुभव करना चाहते हैं; अतएव हम उसे दोहराते रहना चाहते हैं- वैसे ही ज्यों का त्यों नहीं, बल्कि जिस रूप में हमारी कल्पना हमें उसका मानस-साक्षात्कार कराती है। इस क्रिया से मनुष्य के समक्ष एक मौलिक और सार्थक कृति उत्पन्न हो जाती है, जिसे कलात्मक कृति कहते हैं।''[16]

◗ प्रसाद

''नव-नव स्वरूप प्रथोल्लेखशालिनी संवित् वस्तुओं में या प्रमाता है स्व को, आत्मा को परिमिति रूप में प्रकट करती है, इसी क्रम का नाम कला है।''[17]

◗ भोजराज

''व्यंजयति कर्तृशक्तिं कलेति तेनेह कथिता सा अर्थात् ईश्वर की कर्तृत्व शक्ति का संकुचित रूप जो हमको बोध के लिए मिलता है, वही कला है।''[18]

◗ "Art is a faithful mirror of the life and civilization of a period."[19]- Nehru

◗ जैनेन्द्र

''कला शब्द मनुष्य ने बनाया इसलिए कि उसके द्वारा वह अपने भीतर अनुभूत सत्य को प्रकट करना चाहता था।''[20]

◗ आचार्य तुलसी

''जिस कर्म से जीवन का अन्तर संपृक्त होता है, अध्यात्म शक्ति का विकास होता है, वह कर्म ही कला है। कला न तो पढ़ने की चीज है और न अभ्यास की वस्तु है। वह तो जीवनगत तत्त्व है, इसलिए वह जीवन के उन्मेष-निमेषों से संयुक्त है।''[21]

◗ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

''जिस प्रकार बाह्य प्रकृति के बीच वन, पर्वत, नदी, निर्झर की रूप-विभूति से हम सौन्दर्य मग्न होते हैं, उसी प्रकार अंत:प्रकृति की दया, दाक्षिण्य,

श्रद्धा, भक्ति आदि वृत्तियों की स्निग्धता, शीतलता में सौन्दर्य लहराता हुआ पाते हैं। यदि कहीं बाह्य और आभ्यंतर दोनों सौन्दर्य का योग दिखलाई पड़े तो फिर क्या कहना है, यह योग ही कला है।"[22]

कला की अनेकानेक परिभाषाएँ विश्व साहित्य में उपलब्ध हैं, किन्तु सार रूप में कहा जा सकता है कि 'कला' आत्माभिव्यक्ति भी है और रचनात्मक प्रक्रिया भी। कला एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें मानव-चेतना और बाह्य सृष्टि के रूपों की संश्लिष्ट अभिव्यंजना होती है। व्यापक अर्थ में 'कला' मानव की कर्तृत्व क्षमता का किसी भी मानसिक और शरीरिक उपयोगी या आनन्ददायी वस्तु के निर्माण के लिए किया गया कौशलयुक्त प्रयोग है और वह शिवत्व की उपलब्धि के लिए सत्य की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति है।

कला के तत्त्व

सामान्यत: प्रत्येक कला की अपनी-अपनी विशिष्टताएँ होती हैं, लेकिन कुछ ऐसे तत्त्व होते हैं जो प्रत्येक कला में यत्किंचित विद्यमान रहते हैं, जिन्हें हम कला की सामान्य विशेषताएँ कह सकते हैं, जिनका संक्षिप्त निदर्शन इस प्रकार है-

1. प्रत्येक कला किसी न किसी रूप में सौन्दर्य से अनुप्राणित होती है।
2. प्रत्येक कला का कोई न कोई मूर्त आधार होता है, भले ही कुछ मूर्त पत्थर, ईंटों की भांति स्थूल हों और कुछ नाद या शब्द की भांति अत्यन्त सूक्ष्म या विरल।
3. सौन्दर्य बोध चक्षुरिन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय से होता है।
4. ज्ञानेन्द्रियाँ मध्यस्थ का काम करती है। इनके द्वारा कलाकार के मनोभाव दर्शक या श्रोता के मन में प्रेषित और गृहीत होते हैं।
5. सभी कलाकृतियाँ प्रतीकात्मक होती है अर्थात् वे उन सौन्दर्य-तत्त्वों, भावों या अर्थों के वाहक मात्र हैं।
6. भारतीय कलाकार की यह विशेषता है कि वह केवल शारीरिक अनुरंजन को ही कला का विषय न मानकर सांस्कृतिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास का ध्यान रखकर कला का सृजन करता है, उस कला की अंतिम परिणति परमानन्द में ही होती है। उक्ति प्रसिद्ध है-

विश्रान्ति यस्य संभोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा पराकला।।

कला के प्रकार और भेद

भारतीय वाङ्मय के अनेक ग्रंथों में पुरुषों व स्त्रियों के लिए भिन्न-भिन्न कलाओं के परिज्ञान का उल्लेख मिलता है। 'कला' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम भरत के नाट्यशास्त्र में ही मिलता है, उन्होंने लिखा-

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।।[23]

कामसूत्र और शुक्रनीति में भी इसका वर्णन मिलता है।[24] प्रमुख रूप से रामायण, महाभारत, वाक्यपदीय, कलाविलास (क्षेमेन्द्र), दशकुमार चरित, ब्रह्माण्ड पुराण, भागवतपुराण की टीका, महिम्न स्तोत्र टीका, श्रृंगार प्रकाश, काव्यादर्श, शैवतनय, सप्तशती टीका, सौभाग्य भास्कर आदि हिन्दू ग्रंथों में कला के उल्लेख प्राप्त होते हैं। प्राय: सभी में 72 एवं 64 कलाएँ ही वर्णित हैं। केवल क्षेमेन्द्र ने 'कलाविलास' में कला के भेद-प्रभेदों की चर्चा की है और उनकी संख्या 100 से भी अधिक गिनाई है।[25]

जैन साहित्य में जहाँ कहीं भी अध्ययनीय विषयों की चर्चा हुई है वहाँ पर कलाओं का वर्णन विस्तार से हुआ है। ज्ञाताधर्मकथांग, समवायांगसूत्र, औपपातिकसूत्र, राजप्रश्नीयसूत्र, कल्पसूत्र, विपाकसूत्र, समरादित्य कथा, कुवलयमाला, प्रबन्धकोश, प्राकृतसूत्र रत्नमाला आदि ग्रंथों में 72 कलाओं और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि में 64 कलाओं का उल्लेख मिलता है। हरिभद्रसूरि ने यद्यपि 89 कलाओं का नामोल्लेख किया है, परन्तु जैन साहित्य में सामान्य रूप से पुरुषों के लिए 72 -'वावत्तरिकलापंडिया विपुरिरा' एवं स्त्रियों के लिए 64 कलाओं का विधान किया गया है। णायकुमार चरिउ एवं यशस्तिलकचम्पू आदि कुछ ग्रंथों में यद्यपि कलाओं की संख्या नहीं गिनाई गई है, फिर भी सभी कलाओं का प्रकारान्तर से वर्णन मिलता है।

भारतीय मनीषियों ने इन कलाओं का स्थूल रूप से दो वर्गों में विभाजन किया है-

(1) ललित कलाएँ, (2) उपयोगी कलाएँ या यांत्रिक कलाएँ। उपयोगी कला व्यवहारजनित और सुविधाबोधी है तथा ललितकला मन के संतोष के लिए

है, उसमें उस विशिष्ट मानसिक सौन्दर्य की योजना है, जो उपयोगितावाद से भिन्न वस्तु है।

ज्ञाताधर्मकथांग में कला

ज्ञाताधर्मकथांग में कथाशैली में संग्रथित धर्मकथानुयोग का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। कथाओं के माध्यम से आत्मबोध कराना ही इस ग्रंथ का लक्ष्य है। इस क्रम में इस ग्रंथ में विभिन्न भारतीय कलाओं को उकेरा गया है, जिनमें वास्तुकला, चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत-नृत्यकला, स्थापत्यकला, आयुर्वेद, युद्धकला, पाककला आदि प्रमुख है।

ज्ञाताधर्मकथांग में अग्रांकित बहत्तर कलाओं[26] का नामोल्लेख मिलता है-

1. लेहं - लेखन
2. गणियं - गणित
3. रूवं - रूप बदलना
4. नट्टं - नाटक
5. गीयं - गायन
6. वाइयं - वाद्य बजाना
7. सरगयं - स्वर जानना
8. पोक्खरगयं - पुष्कर नामक वाद्य बजाना
9. समतालं - समानताल जानना
10. जूयं - जुआ
11. जणवायं - वाद-विवाद करना
12. पासयं - पासों से खेलना
13. अट्ठावयं - चौपड़ खेलना
14. पोरेकच्च - नगर की रक्षा करना
15. दगमट्टियं - जल और मिट्टी के संयोग से वस्तु का निर्माण
16. अन्नविहिं - धान्य निपजाना
17. पाणविहिं - नया पानी उत्पन्न करना, पानी को संस्कार करके शुद्ध एवं उष्ण करना

18. वत्थविहिं - नए वस्त्र बनाना, रंगना, सीना और पहनना
19. विलेवणविहिं - विलेपन की वस्तु को पहचानना, तैयार करना
20. सयणविहिं - शय्या बनाना, शयन करने की विधि जानना
21. अज्जं - आर्या छंद को पहचानना और बनाना
22. पहेलियं - पहेलियां बनाना और बूझना
23. मागहियं - मागधिका अर्थात् मगध की भाषा में गाथा बनाना
24. गाहं - गाथा बनाना
25. गीइयं - गीति छंद बनाना
26. सिलोयं - श्लोक बनाना
27. हिरण्णजुतिं - हिरण्य बनाना
28. सुवन्नजुतिं - सुवर्ण बनाना
29. चुन्नजुतिं - चूर्ण, गुलाल, अबीर आदि बनाना और उनका उपयोग करना
30. आभरणविहिं - आभूषण बनाना और पहनना आदि
31. तरूणीपडिकम्मं - तरुणी की सेवा करना, प्रसाधन करना
32. इत्थिलक्खणं - स्त्री के लक्षण जानना
33. पुरिसलक्खणं - पुरुष के लक्षण जानना
34. हयलक्खणं - अश्व के लक्षण जानना
35. गयलक्खणं - हाथी के लक्षण जानना
36. गोणलक्खणं - गाय-बैल के लक्षण जानना
37. कुक्कुडलक्खणं - मुर्गों के लक्षण जानना
38. छतलक्खणं - छत्र के लक्षण जानना
39. डंडलक्खणं - दंड के लक्षण जानना
40. असिलक्खणं - खड्ग के लक्षण जानना
41. मणिलक्खणं - मणि के लक्षण जानना
42. कागणिलक्खणं - काकणी रत्न के लक्षण जानना
43. वत्थुविज्जं - वास्तु विद्या
44. खंधारमाणं - सेना के पड़ाव के प्रमाण आदि जानना

45. नगरमाणं - नगर-निर्माण
46. वूहं - व्यूह बनाना
47. पडिवूहं - विरोधी के व्यूह के सामने अपनी सेना का मोर्चा बनाना
48. चारं - सैन्य संचालन करना
49. पडिचारं - प्रतिचार यानी शत्रु सेना के समक्ष अपनी सेना को चलाना
50. चक्कवूहं - चक्रव्यूह बनाना
51. गरुलवूहं - गरुड़ के आकार की व्यूह रचना
52. सगडवूहं - शकट व्यूह रचना
53. जुद्धं - सामान्य युद्ध करना
54. निजुद्धं - विशेष युद्ध करना
55. जुद्धातिजुद्धं - अत्यन्त विशेष युद्ध करना
56. अट्ठिजुद्धं - अस्थि से युद्ध करना
57. मुट्ठिजुद्धं - मुष्टि युद्ध करना
58. बाहुजुद्धं - बाहुयुद्ध करना
59. लयाजुद्धं - लतायुद्ध करना
60. ईसत्थं - बहुत को थोड़ा और थोड़े को बहुत दिखलाना
61. छरूप्पवायं - खड्ग की मूठ आदि बनाना
62. धणुव्वेयं - धनुष-बाण सम्बन्धी कौशल
63. हिरन्नपागं - चाँदी का पाक बनाना
64. सुवन्नपागं - सोने का पाक बनाना
65. सुत्तखेडं - सूत्र का छेदन करना
66. वट्टखेडं - खेत जोतना
67. नालिया खेडं - कमल के नाल का छेदन करना
68. पत्तच्छेज्जं - पत्र-छेदन करना
69. कडगच्छेज्जं - कड़ा-कुण्डल आदि का छेदन करना
70. सज्जीवं - मृत को जीवित करना

71. निज्जीवं - जीवित को मृत करना

72. सउणरुअमिति - काक-घूक आदि पक्षियों की बोली पहचानना

उपर्युक्त कलाओं में से कुछ कलाओं का ज्ञाताधर्मकथांग में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से विस्तृत विवेचन मिलता है, जिनका उल्लेख इस प्रकार है-

लेहं

ज्ञाताधर्मकथांग में लेखिका का वर्णन मिलता है। जब द्रौपदी अपने स्वयंवर मण्डप में जाती है तब लेखिका दासी भी उनके साथ मण्डप में जाती है।[27] कृष्ण वासुदेव ने सारथी दारुक के साथ पद्मनाथ को पत्र (लेहं) भेजा।[28]

गणियं

ज्ञाताधर्मकथांग में गणित विषयक विभिन्न तत्त्वों का उल्लेख मिलता है जिनमें माप-तौल की इकाइयाँ व अंक हैं।

रूवं

अपनी विमल प्रभा से जीवलोक तथा नगरवर राजगृह को प्रकाशित करता हुआ दिव्य रूपधारी देव अभयकुमार के पास आ पहुँचा।[29] कच्छुल्ल नामक नारद संक्रामणी अर्थात् दूसरे के शरीर में प्रवेश करने की विद्या जानता था।[30] यह विद्या रूप बदलने की कला की उपस्थिति प्रकट करती है।

नट्टं

मेघकुमार के जन्मोत्सव पर श्रेणिक राजा ने नट (नड) आदि को अपनी कला प्रस्तुत करने के लिए बुलाया।[31] देवदत्ता गणिका नृत्य, गीत और वाद्य में मस्त रहती थी।[32] नंदमणिकारी की चित्रसभा में नाटक करने वाले वेतन पर रखे हुए थे।[33] नड (नट) शब्द का उल्लेख नाट्यकला का परिचायक है।

गीयं

मेघकुमार गीति में प्रीतिवाला, गीत और नृत्य में कुशल हो गया।[34] मेघकुमार के जन्मोत्सव व विवाहोत्सव पर मंगलगान गाए गए।[35] लोकान्तिक देव तीर्थंकर मल्लीभगवती के दीक्षामहोत्सव से पूर्व नृत्य-गीतों के शब्दों के साथ दिव्य भोग भोगते हुए विचर रहे थे।[36]

लवकुश को स्वर ज्ञान से सम्पन्न[37] बताकर वाल्मीकि ने स्वर-संगीत के प्रचलन की ओर इंगित किया है।

संगीत के साहचर्य में नृत्यु का भी पर्याप्त सेवन किया जाता था। इसका

समर्थन उत्तरकांड से होता है, जहाँ रावण को नृत्य और गान के साथ भगवान शंकर की आराधना करते हुए चित्रित किया गया है।[38]

वाइयं

ज्ञाताधर्मकथांग में विभिन्न वाद्ययंत्रों का उल्लेख मिलता है, जिनमें प्रमुख है- शंख, पणव, पटह[39], भेरी[40], झालर[41], खरमुखी[42], हुडुक्क[43], मृदंग[44], दुंदुभि[45], तंत्री, तल, ताल, घन[46], त्रुटिक[47], विविध प्रकार की वीणाएँ[48], बांसुरी।[49] अर्हत् अरिष्टनेमि के आगमन पर द्वारका नगरी के कौटुम्बिक पुरुषों ने कौमुदी भेरी बजाकर लोगों का आह्वान किया।[50] पद्मनाभराजा से युद्ध के समय वासुदेव कृष्ण ने पाञ्चजन्य शंख बजाकर उसकी एक तिहाई सेना को हत कर दिया।[51] धारिणी देवी को विभिन्न वाद्यों की ध्वनि सुनते हुए वनभ्रमण का दोहद उत्पन्न हुआ।[52] कनककेतु के कौटुम्बिकों ने घोड़ों को प्रशिक्षित करने के लिए विभिन्न प्रकार की वीणाएँ बजायी।[53]

सरगयं

ज्ञाताधर्मकथांग के उपर्युक्त संदर्भों में वर्णित वाद्ययंत्रों से स्पष्ट है कि उस समय स्वर जानने की कला (सरगयं) भी विकसित अवस्था में थी। देवदत्ता गणिका विभिन्न प्रकार के नृत्य, गीत और वाद्यों में मस्त रहती थी।[54]

पोक्खरगयं

उपर्युक्त संदर्भों में वर्णित विभिन्न वाद्ययंत्र बजाने की कला से स्पष्ट है कि उस समय वाद्ययंत्र सुधारने की कला भी रही होगी।

जूयं

ज्ञाताधर्मकथांग में जुए से संबंधित विभिन्न तथ्य मिलते हैं। विजयचोर द्यूत में आसक्त था। वह जुए के अखाड़ों को देखता फिरता था।[55] धन्यसार्थवाह का दास चेटक भी जुए में आसक्त था और वह जुआघरों में मजे से भटकता था।[56] विजयचोर जुआरियों का आश्रयदाता था।[57]

जणवायं

ज्ञाताधर्मकथांग में विभिन्न स्थानों पर वाद-विवाद का उल्लेख मिलता है। शुक परिव्राजक और थावच्चापुत्र अणगार के मध्य नीलाशोक उद्यान में धार्मिक विषयों पर वाद-विवाद हुआ।[58] विदेहराजवर कन्या मल्ली और चोक्खा परिव्राजिका के बीच भी विभिन्न धार्मिक विषयों पर वाद-विवाद हुआ।[59]

अट्ठावयं

धारिणी देवी ने अपने दोहदपूर्ण न होने पर चौपड़ खेलने का परित्याग कर दिया।[60] इससे स्पष्ट है कि चौपड़ खेलने की कला राजपरिवारों में विकसित थी।

पोरेकच्चं

ज्ञाताधर्मकथांग में नगर रक्षा उल्लेख विभिन्न रूपों में मिलता है। धन्यसार्थवाह के पुत्र देवदत्त का अपहरण होने पर उसने अपने पुत्र को खोज निकालने के लिए नगररक्षकों से फरियाद की।[61]

दगमट्टियं

दगमट्टियं का अर्थ है पानी और मिट्टी के संयोग से किसी वस्तु का निर्माण करना। ज्ञाताधर्मकथांग में इस कार्य के लिए कुम्भकार श्रेणी का उल्लेख मिलता है।[62] श्रेणिक राजा ने मेघकुमार के जन्मोत्सव पर कुंभकार आदि अट्ठारह प्रकार की श्रेणियों को बुलाया।[63] सुबुद्धि अमात्य ने कुम्हार की दुकान से नए घड़े लिए।[64]

अन्नविहिं

अन्नविहिं का अर्थ है धान्य निपजाना। मेघकुमार के जन्मोत्सव के अवसर पर श्रेणिकराजा ने किसानों आदि को बेगार से मुक्त कर दिया।[65] धन्यसार्थवाह की पुत्रवधू रोहिणी ने अपने कुलगृह के पुरुषों को धान्य निपजाने की क्रियाविधि बतलाई।[66]

पाणविहिं

पाणविहिं का अर्थ है नया पानी उत्पन्न करना, पानी को संस्कार करके शुद्ध करना एवं उष्ण करना।

सुबुद्धि अमात्य ने पानी को वैज्ञानिक विधि से शुद्ध करके अपने राजा जितशत्रु को पिलाया।[67] उष्ण जल से कपड़े प्रक्षालित करने का उल्लेख भी मिलता है।[68]

वत्थविहिं

वत्थविहिं का अर्थ है नए वस्त्र बनाना, रंगना, सीना और पहनना। ज्ञाताधर्मकथांग में विभिन्न स्थानों पर वस्त्र निर्माण, रंगना और पहनने का उल्लेख मिलता है।

धारिणी देवी के शयन कक्ष का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसमें कसीदा काढ़े हुए क्षौमदुकूल का चद्दर बिछा हुआ था। वह आस्तरक, मलक, नवत, कुशक्त, लिम्ब और सिंहकेसर नामक आस्तरणों से आच्छादित था।[69] श्रेणिक राजा ने पक्षी के पंख के समान अत्यन्त कोमल, सुगंधित और कषाय रंग से रंगे हुए वस्त्र से शरीर को पोंछा।[70] धारिणी देवी ने दोहद उत्पन्न होने पर विचार किया कि वे माताएँ धन्य हैं जो नासिका के निश्वास की वायु से उड़ने वाले अर्थात् अत्यन्त बारीक वस्त्र धारण करती है।[71] रक्षिका को दूष्य-रेशमी आदि मूल्यवान वस्त्रों की भाण्डागारिणी नियुक्त किया।[72] नागश्री ने टुकड़े-टुकड़े सांधे हुए वस्त्र पहन रखे थे।[73] कछुल्ल नारद ने काला मृगचर्म उत्तरासंग के रूप में वक्षस्थल पर धारण कर रखा था।[74] कनककेतु राजा के कौटुम्बिक पुरुष आकीर्ण नामक विशेष अश्वों को लाने के लिए अपने साथ कोयतक, कंबल, प्रावरण, नवत, मलय, मसग, शिलापट्टक (श्वेत वस्त्र) लेकर गए।[75]

युधिष्ठर के राजसूय यज्ञ में कम्बोज के राजा ने जो वस्त्र उपहार में दिए थे, वे सर्वोत्कृष्ट माने गए थे। भैंस के रोओं से बना बना 'और्ण' चूहों आदि के रोओं से बना 'वैल' एवं बिडाल के रोओं से बना 'वार्षदंश' आदि बहुमूल्य वस्त्र वे उपहार में लाए थे।[76]

उत्तरकुरु जीतने पर अर्जुन आदि को भी काफी चीजें मिली थी। उनमें भी बहुमूल्य वस्त्र, आभरण, क्षौम, चर्म आदि थे।[77]

विलेवणविहिं

इसका अर्थ है विलेपन की वस्तु को पहचानना, तैयार करना व लेप करना। ज्ञाताधर्मकथांग में विभिन्न स्थानों पर विलेपन का प्रयोग मिलता है। श्रेणिक राजा ने शतपात तथा सहस्रपाक आदि श्रेष्ठ सुगंधित तेल और गोशीर्ष चंदन का विलेपन और केशर का लेपन किया।[78]

सयणविहिं

इसका अर्थ है शय्या बनाना, शयन करने की विधि जानना।[79] इस कला का उल्लेख ज्ञाताधर्मकथांग में विभिन्न रूपों में मिलता है। धारिणीदेवी अपने उत्तम भवन में सुगंधित, कोमल, रोएंदार शय्या पर सो रही थी।[80] सागरपुत्र सुकुमालिका के साथ शयनागार में आया।[81] शयनागार का उल्लेख शयन करने की कला का परिचायक है। द्रौपदी के स्वयंवर में समागत विभिन्न राजाओं के शयन के लिए शय्याओं की व्यवस्था की गई थी।[82]

गीइयं

इसका अर्थ है गीति छंद बनाना। मेघकुमार गीति में प्रीति वाला, गीत और नृत्य में कुशल हो गया।[83]

चुन्नजुतिं

चुन्नजुतिं का अर्थ है- चूर्ण, गुलाब, अबीर आदि बनाना और उनका उपयोग करना। ज्ञाताधर्मकथांग में विभिन्न स्थानों पर इस कला का विविध रूपों में उल्लेख मिलता है। श्रेणिक राजा ने कौटुम्बिक पुरुषों से काला गुरु, कुंदुरुक्क, तुरुष्क (लोभान), श्रेष्ठ सुगंध के चूर्ण तथा धूप आदि जलान के लिए कहा।[84] द्रुपद राजा ने भी उपर्युक्त पदार्थों से स्वयंवर मण्डप को सुरभित करने का आदेश दिया।[85]

आभरणविहिं

आभरणविहिं अर्थात् आभूषण बनाना और पहनना। ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित इस कला के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं- श्रेणिक राजा ने निपुण कलाकारों द्वारा निर्मित मणियों और सुवर्ण के आभूषण धारण किए।[86] धारिणी देवी को विभिन्न आभरण पहनने का दोदह उत्पन्न हुआ जिसकी पूर्ति के लिए उसने नूपुर, मणिजटित करधनी, हार, कड़े, अंगूठियां और बाजूबंद धारण किए।[87] दीक्षा से पूर्व मेघकुमार को अट्ठारह लड़ों का हार, नौ लड़ों का अर्द्धहार, एकावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली, प्रालंब (कंठी), पाद प्रलम्ब (पैरों पर लटकने वाला आभूषण), कड़े, तुटिक, केयूर, अंगद, मुद्रिकाएँ, कंदोरा, कुंडल, चूडामणि तथा मुकुट आदि गहने धारण करवाए।[88]

तरुणीपडिकम्मं

इसका अर्थ है तरुणी की सेवा करना[89] और प्रसाधन करना।[90] अन्त:पुर की स्त्रियों द्वारा द्रौपदी को सब अलंकारों से विभूषित किया गया।[91]

पुरिसलक्खणं

इसका अर्थ है पुरुष के लक्षण जानना।[92]

हयलक्खणं

इसका अर्थ है अश्व के लक्षण जानना। ज्ञाताधर्मकथांग में कालिकद्वीप के आकीर्ण अश्वों के लक्षणों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वे विशुद्ध-निर्दोष, विनीत, प्रशिक्षित, सहनशील और वेगवान थे।[93]

गयलक्खणं

गयलक्खणं अर्थात् हाथी के लक्षण जानना। ज्ञाताधर्मकथांग में चतुरंगिणी सेना में हाथी को भी शामिल किया गया है[94], इससे स्पष्ट है कि लोग हाथी के लक्षणों से परिचित थे। श्रेणिक राजा का सेचनक नामक गंधहस्ती[95] और कृष्ण विजयनामक गंधहस्ती[96] पर आरूढ़ होने का स्थान-स्थान पर वर्णन मिलता है। ये गंधहस्ती उत्तम गजलक्षणों के समान थे।

गोणलक्खणं

इसका अर्थ है गाय-बैल के लक्षण जानना। ज्ञाताधर्मकथांग में गाय-बैल आदि का नामोल्लेख मिलता है। धन्य नामक सार्थवाह व थावच्चागाथा पत्नी के पास गाय, भैंस व बकरियां थी।[97] सार्थवाह के पुत्रों के पास हष्ट-पुष्ट बैल थे।[98]

कुक्कुडलक्खणं

इसका अर्थ है कि मुर्गों के लक्षण जानना। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि सार्थवाह पुत्रों ने मयूरी के अंडों को मुर्गी के अंडों के साथ मिला दिया।[99] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन समय में लोग मुर्गी आदि पालते थे और उन्हें प्रशिक्षित कर अपनी आजीविका चलाते थे।

छत्तलक्खणं

इसका अर्थ है छत्र के लक्षण जानना। ज्ञाताधर्मकथांग में छत्र का उल्लेख विभिन्न स्थानों पर मिलता है। श्रेणिक राजा को कोरंट वृक्ष के पुष्पों की माला वाला छत्र धारण कराया गया।[100] राजा ने देवदत्ता गणिका को छत्र, चामर और बाल व्यंजन प्रदान किए।[101] अर्हत् अरिष्टनेमि के अतिशय में छत्रातिछत्र का उल्लेख आया।[102] प्रतिबुद्धिराजा के मस्तक पर छत्र धारण किया गया।[103] युद्ध क्षेत्र के वर्णन में सब वीरों के सिर पर सफेद रंग का छत्र पाया जाता है। हाथी एवं रथ के ऊपर श्वेत छत्र सुशोभित होता था।[104]

डंडलक्खणं

इसका अर्थ है - दंड के लक्षण जानना। मेघकुमार के समीप दो तरुणियां विचित्र दंडी वाले चामर धारण करके खड़ी हुई।[105]

असिलक्खणं

असिलक्खणं का अर्थ है- खड्ग के लक्षण जानना। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि धन्यसार्थवाह के घर को लूटने जाते समय चिलात चोर-

सेनापति तलवार आदि शस्त्रों से सज्जित होकर गया।[106]

मणिलक्खणं

मणिलक्खणं का अर्थ है- मणि के लक्षण जानना। श्रेणिक राजा ने मणियों और स्वर्ण के अलंकार धारण किए।[107] अभयकुमार के मित्र देव ने मणियों, सुवर्ण और रत्नों से शोभित कटिसूत्र धारण कर रखा था।[108] धारिणीदेवी ने मणिजटित करघनी धारण कर रखी थी।[109] राजा श्रेणिक ने मेघकुमार के लिए एक ऐसी शिविका बनाने का आदेश दिया जो कुशल कारीगरों द्वारा निर्मित देदीप्यमान मणियों और रत्नों की घुंघरूओं के समूह से व्याप्त हो।[110] धारिणीदेवी के शयन कक्ष का फर्श पंचरंगी मणियों से जड़ा हुआ था।[111]

वत्थुविज्जं

वत्थुविज्जं का अर्थ है- वास्तुविद्या। ज्ञाताधर्मकथांग में विभिन्न जगहों पर वास्तुकला का प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में उल्लेख मिलता है। नन्दमणिकार सेठ ने श्रेणिक राजा से आज्ञा प्राप्त कर वास्तुशास्त्र के पाठकों की सलाहानुसार नंदापुष्करिणी, वनखंड, चित्रसभा, भोजनशाला, चिकित्साशाला और अलंकारशाला का निर्माण करवाया।[112]

स्थापत्य के क्षेत्र में रामायणकालीन आर्यों ने आश्चर्यजनक प्रगति कर ली थी। महलों में कई स्तम्भ हुआ करते थे, सहस्र स्तम्भों वाले प्रासादों का रामायण में दो स्थलों पर उल्लेख हुआ है।[113] 'पद्म' नाम के भवन कमलाकार होते थे। जिन मकानों में पूर्व की ओर द्वार नहीं होता था, वे 'स्वस्तिक' कहलाते थे और जिनमें दक्षिणाभिमुख द्वार नहीं होता था, वे 'वर्धमान' कहलाते थे।[114] लंका में वज्र और अंकुश के आकार के भी गृह बने थे। सुंदरकांड (सर्ग 6-7) में रावण के राजभवन का विस्तृत वर्णन है।

किसी नए नगर की नींव डालते वक्त भी पुरी नाप-जोख की जाती थी, शान्तिपाठ करके काम शुरू किया जाता था।[115] युधिष्ठिर के सभा-मण्डप का वर्णन भी अत्यन्त मनोमुग्धकारी है। सभागृह वास्तुकला का उत्कृष्ट नमूना था।[116]

खंधारमाणं

खंधारमाणं का अर्थ है- सेना के पड़ाव के प्रमाण आदि जानना। ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित युद्ध प्रसंगों में सेना के पड़ाव का उल्लेख मिलता है। कुम्भ राजा अपने देश की सीमा के बाहर सेना का पड़ाव डालकर जितशत्रु आदि छः राजाओं से युद्ध करने के लिए तत्पर हुआ।[117] कृष्ण तथा पाँच पांडवों ने

अपनी सेना का पड़ाव डालकर पौषधशाला में प्रवेश किया और कृष्णवासुदेव सुस्थितदेव का मन में अनुचिन्तन करने लगे।[118]

नगरमाणं

नगरमाणं से तात्पर्य नया नगर बसाने से है। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि पाण्डवों द्वारा दक्षिणी वेलातट पर पाण्डुमथुरा नगरी का निर्माण किया गया।[119]

वूहं

वूहं का अर्थ है- व्यूह रचना। ज्ञाताधर्मकथांग में व्यूह रचना का उल्लेख तो नहीं मिलता है लेकिन चतुरंगिणी सेना के प्रसंगों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि तत्कालीन समय में व्यूह रचना की कला विद्यमान थी।[120]

पडिवूहं

इसका अर्थ है विरोधी सेना के व्यूह के सामने अपनी सेना का मोर्चा बनाना। ज्ञाताधर्मकथांग में इसका भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता लेकिन सैन्य पड़ाव[121] के संदर्भ में इस कला को भी स्वीकारा जा सकता है।

चारं

चारं का तात्पर्य सैन्य संचालन से है। सैन्य संचालन में सेनापति का विशिष्ट महत्व है। ज्ञाताधर्मकथांग में सैन्य संचालन का तो स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता लेकिन सेनापति का उल्लेख मिलता है जो इस कला की विद्यमानता का परिचायक है।[122] कुम्भराजा और पद्मनाभ राजा ने अपने-अपने सेनापति को बुलाकर सेना को सुसज्जित करने को कहा।[123]

पडिचारं

प्रतिचार का अर्थ है- शत्रुसेना के समक्ष अपनी सेना का संचालन करना। इसका विवेचन भी उपर्युक्तानुसार समझा जा सकता है।

चक्कवूहं

चक्कवूहं का अर्थ चक्रव्यूह बनाने से है। गुरुवर द्रोणाचार्य ने इस व्यूह की रचना की थी।[124] दैत्यगुरु शुक्राचार्य महाभारतकार के ही चक्रव्यूह के लक्षण की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि जो चक्राकार गोल हो, मध्य में आठ भागों में विभक्त कुण्डली-आकार के बने हो, उसके अन्दर घुसने के लिए एक ही मार्ग हो तो ऐसी सेना पंक्ति को चक्रव्यूह कहते हैं।[125]

सगडवूहं

सगडवूहं का अर्थ है शकट व्यूह रचना करना। कर्ण के साथ वीर जब वार्तालाप करते हुए जा रहे थे तब द्रोणाचार्य ने अपनी सेना के द्वारा शकट व्यूह की रचना की।[126]

जुद्धं

जुद्धं का तात्पर्य सामान्य युद्ध करने से है। ज्ञाताधर्मकथांग में प्रसंग आता है कि मिथिलानगरी की सीमा पर कुम्भराजा और जितशत्रु आदि छः राजाओं के मध्य युद्ध हुआ।[127] पांडवों ने वासुदेव कृष्ण के समक्ष पद्मनाभराजा से युद्ध करने की इच्छा व्यक्त की।[128]

अट्ठिजुद्धं

अट्ठिजुद्धं से तात्पर्य है- अस्थि से युद्ध करना। ज्ञाताधर्मकथांग में अट्ठिजुद्धं का उल्लेख नहीं मिलता है लेकिन 'अट्ठि' शब्द का उल्लेख मिलता है। नगररक्षकों ने विजयचोर को अस्थि आदि से पीटा।[129] इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि अट्ठिजुद्धं की कला प्रचलित रही होगी।

मुट्ठिजुद्धं

मुट्ठिजुद्धं का अर्थ है- मुष्टियुद्ध करना। ज्ञाताधर्मकथांग में इसका उल्लेख विभिन्न रूपों में मिलता है। मेघकुमार के जन्मोत्सव के अवसर पर मौष्टिक (मुक्केबाज) आदि को अपनी कला प्रदर्शित करने के लिए बुलाया गया।[130] नगररक्षकों ने विजयचोर को मुष्टि से पीटा।[131] नंदमणिकार की चित्रसभा में मुष्टियुद्ध करने वाले भोजन एवं वेतन देकर रखे हुए थे।[132]

बाहुजुद्धं

इसका तात्पर्य है- बाहुयुद्ध करना। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि मेघकुमार बाहुयुद्ध कला में निपुण हो गया।[133]

ईसत्थं

ईसत्थं का अर्थ है- बहुत को थोड़ा और थोड़े को बहुत दिखलाना। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि विजयचोर न्यूनाधिक माप-तौल करने वाला था।[134]

धणुव्वेयं

इसका अर्थ है- धनुषबाण संबंधी कौशल होना। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख

मिलता है कि श्रीकृष्ण का धनुष शुक्लपक्ष की द्वितीया के अचिर-उदित चन्द्रमा और इन्द्रधनुष के समान वक्र था, अतीव दृप्त मदमाते उत्तम मषि के दृढ़ और सघन शृंगों के अग्रभागों से बनाया गया था, कृष्ण सर्प, श्रेष्ठ भैंसे के सींग, उत्तम कोकिला, भ्रमर-निकर और नील की गोली के सदृश उज्ज्वल स्निग्ध-काली कान्ति से युक्त उसका पृष्ठ भाग था, किसी कुशल कलाकार द्वारा उजाले गए चमकाए हुए-*मणिरत्नों की घंटियों के समूह से वेष्टित था, चमकती बिजली की* किरणों जैसे स्वर्ण-चिह्नों से सुशोभित था, दर्दर और मलयपर्वत शिखरों पर विचरण करने वाले सिंह की गर्दन के बालों (अयाल) तथा चमरों की पूंछ के केशों के एवं अर्द्धचन्द्र के लक्षणो-चिह्नों से युक्त था। काली, हरी, लाल, पीली और श्वेत वर्ण की नसों से उसकी जीवा (प्रत्यंचा) बंधी थी। वह धनुष शत्रुओं के जीवन का अंत करने वाला था।[135] नगररक्षकों ने विजयचोर को पकड़ने के लिए जाने से पूर्व अपने आप को आयुद्धों से सज्जित किया और धनुषरूपी पट्टिका पर प्रत्यंचा चढ़ाई।[136]

वट्टखेडं

वट्टखेडं यानी खेत जोतना। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि रोहिणी ने अपने कौटुम्बिकजनों को चावल निपजाने के लिए खेत जोतने को कहा।[137]

कडगच्छेज्जं

इससे तात्पर्य है- कड़ा-कुण्डल आदि का छेदन करना। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि कुम्भराजा ने सुवर्णकार की श्रेणी को बुलाकर मल्ली के कुण्डल-युगल के जोड़ को सांधने का कहा।[138]

सउणरुअं

सउणरुअं इसका अर्थ है काक-घूक आदि पक्षियों की बोली पहचानना। मेघकुमार ने कलाचार्य से यह कला भी सीखी।[139]

बहत्तर कलाओं में सम्मिलित शेष कलाओं-समतालं, पासयं, अज्जं, पहेलियं, मागहियं, गाहं, सिलोयं, हिरण्णजुतिं, सुवन्नजुतिं, इत्थिलक्खणं, कागणिलक्खणं, गरुलवूहं, निजुद्धं, लयाजुद्धं, छरुप्पवायं, हिरन्नपागं, सुवन्नपागं, सुत्तखेडं, नालियाखेडं, पत्तच्छेज्जं, सज्जीवं, निज्जीवं का ज्ञाताधर्मकथांग में सिर्फ नामोल्लेख[140] ही मिलता है।

ज्ञाताधर्मकथांग में इन बहत्तर कलाओं के अलावा वर्णित चित्रकला[141],

मूर्तिकला[142], काष्ठ शिल्प[143], चर्म शिल्प[144] आदि कलाओं का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत कृति के 'अर्थव्यवस्था' नामक अध्याय में किया गया है।

कलाओं का जीवन पर प्रभाव

किसी भी कार्य को सर्वोत्तम ढंग से करने की प्रविधि का नाम कला है। उस युग में विविध कलाओं का गहराई से अध्ययन कराया जाता था। पुरुषों के लिए बहत्तर कलाएँ और स्त्रियों के लिए चौंसठ कलाएँ थी। केवल ग्रंथों से ही नहीं, उन्हें अर्थ और प्रयोगात्मक रूप से भी सिखाया जाता था। इस प्रकार तत्कालीन जीवन का हर क्षेत्र कला पर अवलम्बित या कला द्वारा संचालित था।

वास्तुकला व स्थापत्य कला आदि ने जहाँ एक ओर नगर विन्यास को प्रभावी बनाया वहीं दूसरी ओर इनसे लोगों को रोजगार भी मिलता था। चित्र, संगीत व नृत्य आदि कलाओं द्वारा लोगों का मनोरंजन भी होता था तथा वे इनके द्वारा अपना आन्तरिक और बाह्य सौन्दर्य निखारते थे, जिससे सामाजिक जीवन में सरसता बनी रहती थी।

खेत जोतने व धान उपजाने की कलाओं ने कृषि कार्य को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया। विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनाने की कलाएँ उद्योग धन्धों को पल्लवित करने में योगभूत बनीं। तलवार, व्यूह रचना, धनुष-बाण व विभिन्न प्रकार के युद्ध आदि से सम्बन्धित कलाओं ने युद्ध के परिणाम को प्रभावित किया।

तत्कालीन समय में प्रचलित कलाओं से अनुप्रमाणित व्यक्ति ने अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण कला- मरने की कला (संलेखना-समाधिपूर्वक मरण) विकसित की, जिसका दिग्दर्शन अन्य किसी दर्शन के ग्रंथ में दुर्लभ है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि तत्कालीन संस्कृति की दिशा और दशा की निर्धारक 'बहत्तर' और 'चौंसठ' कलाएँ ही थीं। इन्हीं की धुरी पर तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन का चक्र चलायमान था।

ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित कलाएँ तत्कालीन सांस्कृतिक समृद्धि की परिचायक हैं। ये कलाएँ व्यक्ति के जीवन को एक नया मोड़ देती थी, इनके अध्ययन से जहाँ एक ओर जीवन में परिपूर्णता आती थी वहीं दूसरी ओर संस्कृति को विकास का एक नया आयाम उपलब्ध होता था।

संदर्भ-

1. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 256
2. साहित्य तरंग- पृ. 2
3. पाणिनीकृत धातु पाठ- पृ. 9
4. वही, पृ. 51
5. समीक्षा शास्त्र, पृ. 124
6. वृहत् हिन्दी पर्यायवाची शब्दकोश, पृ. 46
7. 'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला' -भरत का नाट्यशास्त्र, पृ. 1/116
8. वृहदारण्यक 2/3/1 - पृ. 179
9. ध्वन्यालोक लोचना, कौमुदी, पृ. 102
10. हिन्दी साहित्य कोश- पृ. 172
11. कला एवं साहित्य : प्रवृत्ति और परम्परा, पृ.5
12. वही, पृ. 6
13. व्हाट इज आर्ट, पृ. 123
14. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त- पृ. 34
15. कला एवं साहित्य : प्रवृत्ति और परम्परा, पृ.8
16. वही पृ. 4-5
17. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ. 15
18. तत्त्वप्रकाश
19. Wit and Wisdom of Gandhi, Nehru & Tagore, page-37
20. साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ. 41
21. एक बूंद : एक सागर (भाग-2), पृ. 491
22. कला एवं साहित्य : प्रवृत्ति और परम्परा, पृ.3
23. नाट्यशास्त्र 1/6
24. हिन्दी विश्वकोश खण्ड-2, पृ. 378
25. भारतकोश (भाग-3)
26. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/99
27. वही 1/16/119
28. वही 1/16/180
29. वही 1/1/69
30. वही 1/16/139
31. वही 1/1/90-91
32. वही 1/3/6
33. वही 1/13/15
34. वही 1/1/101
35. वही 1/1/90, 104
36. वही 1/8/163
37. 'स्वर सम्पन्नौ' वाल्मीकि रामायण 1/4/5
38. ततः सतामार्तिहरं परं वरं वर प्रदं चन्द्र मयूखभूषणम्। समर्चयित्वा च निशाचरा जगौ प्रसार्य हस्तान्प्रणवर्त चाग्रतः।। -उत्तरकाण्ड- 7/31/44
39. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/44
40. वही 1/1/44, 1/16/91, 172, 1/5/8
41. वही 1/1/44
42. वही 1/1/44
43. वही 1/1/44
44. वही 1/1/44,91, 1/3/6, 1/8/163
45. वही 1/1/44,134, 1/8/128
46. वही 1/3/6, 1/8/163
47. वही 1/8/163
48. वही 1/17/14
49. वही 1/17/30
50. वही 1/5/8
51. वही 1/16/87-88
52. वही 1/17/14,17
53. वही 1/17/14,17
54. वही 1/3/6
55. वही 1/2/9
56. वही 1/18/9
57. वही 1/18/12
58. वही 1/5/44-50
59. वही 1/8/112-115
60. वही 1/1/45
61. वही 1/2/26
62. वही 1/18/26
63. वही 1/1/90-91
64. वही 1/12/16
65. वही 1/1/91
66. वही 1/7/9
67. वही 1/12/16-18
68. वही 1/5/38
69. वही 1/1/17
70. वही 1/1/30
71. वही 1/1/44
72. वही 1/7/26
73. वही 1/16/28
74. वही 1/16/139
75. वही 1/17/15

76. और्णान् वैलान वार्षदंशान्
जातरूपपरिष्कृतान्। प्रावाराजिन मुख्यांश्च
काम्बोजः प्रददौ बहून्।।
-महाभारत (सभापर्व) 53/3
77. ततो दिव्यानि वस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि
च। क्षौमाजिनानि दिव्यानि तस्य ते प्रददुः
करम्।।
-वही, 28/16
78. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/29-30
79. वही 1/1/142
80. वही 1/1/17
81. वही 1/16/47
82. वही 1/16/111
83. वही 1/1/101
84. वही 1/1/26, 90
85. वही 1/16/115
86. वही 1/1/30
87. वही 1/1/45, 80
88. वही 1/1/142
89. वही 2/1/8
90. वही 1/18/75
91. वही 1/16/119
92. वही 1/3/6
93. वही 1/17/9
94. वही 1/1/78, 1/5/11
95. वही 1/1/78
96. वही 1/5/12
97. वही 1/2/6, 1/5/6
98. वही 1/3/9
99. वही 1/3/16
100. वही 1/1/30
101. वही 1/3/6
102. वही 1/5/12
103. वही 1/8/46
104. 'श्वेतच्छत्राष्यशोभन्ते वारणेषु रथेषु च'
-महाभारत (भीष्मपर्व) 50/58
105. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/148
106. वही 1/18/22
107. वही 1/1/30
108. वही 1/1/69
109. वही 1/1/81
110. वही 1/1/144
111. वही 1/1/17
112. वही 1/13/12-18
113. रामायण 5/15/16, 6/39/22
114. वही 5/4/7-8
115. 'ततः पुण्ये शिवे देशे शान्तिं कृत्वा
महारथाः। नगरं
मापयामासुर्द्वेषायनपुरोगमाः।।'
(i) आदि. 207/29,134/8
(ii) अश्व.- 84/12
116. महाभारत (सभापर्व), 1/13, 3/28
117. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/130
118. वही 1/16/174
119. वही 1/16/215
120. वही 1/8/130, 1/16/174, 1/1/44
121. वही 1/8/133, 1/16/117
122. वही 1/1/30, 1/5/5
123. वही 1/8/129, 1/16/184
124. द्रोणपर्व 34/13-23
125. शुक्रनीति 4/7 प्र. 265
126. महाभारत (द्रोणपर्व) 7/23-24
127. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/130-131
128. वही 1/16/185
129. वही 1/2/29
130. वही 1/1/90
131. वही 1/2/29
132. वही 1/13/15
133. वही 1/1/101
134. वही 1/2/, 1/18/11
135. वही 1/16/188
136. वही 1/2/28
137. वही 1/17/9
138. वही 1/8/87
139. वही 1/1/98
140. वही 1/1/99
141. वही 1/1/17,31, 1/8/97,99, 1/17/15
142. वही 1/8/35
143. वही 1/17/15
144. वही 1/17/15

नवम परिवर्त

ज्ञाताधर्मकथांग में प्रतिपादित धर्म-दर्शन

जीव-जगत्, आत्मा-परमात्मा, संयोग-वियोग, जन्म-मरण, सुख-दुःख तथा हेय-उपादेय की मीमांसा का नाम ही दर्शन है। दर्शन का अर्थ है देखना, गहरे उतरकर देखना, तत्त्व का साक्षात्कार करना। दर्शन के मुख्यतः तीन अंग है- तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा एवं नीतिमीमांसा या आचारमीमांसा। ज्ञाताधर्मकथांग के संदर्भ में धर्म-दर्शन के इन्हीं विभिन्न पहलुओं का विवेचन अग्रांकित शीर्षकों में किया गया है-

ज्ञाताधर्मकथांग में तत्त्वमीमांसा

मानव ने सर्वप्रथम जब प्रकृति की गोद में आँखें खोली तो उसकी आँखें चुँधिया गई। उसके समक्ष अद्भूत और चमत्कारी वस्तुएँ और घटनाएँ उपस्थित हुई। सर्वप्रथम उसकी दृष्टि ऊपर पड़ी- उसने देखे- सूर्य, चन्द्रमा और तारामण्डल। जब उसकी दृष्टि नीचे पड़ी तो उसके समक्ष थे पर्वत, समुद्र और नदियाँ। इन सबको देखकर उसके मानसपटल पर प्रश्न उभरे कि ये सब क्या हैं ? क्यों हैं ? कैसे हैं ? कब से हैं ? आदि।

जिस प्रकार मानव के मस्तिष्क में बाह्य विश्व के सम्बन्ध में प्रश्न उभरे ठीक उसी प्रकार आंतिरिक जगत् के गूढ़ और अति सूक्ष्म स्वरूप के विषय में भी उसके मन में जिज्ञासाएँ उत्पन्न हुईं- जगत् क्या है ? आत्मा क्या है ? परमात्मा क्या है ? आदि। इन प्रश्नों की उत्पत्ति ही तत्त्व ज्ञान की दिशा में प्रथम चरणन्यास है।

तत्त्वमीमांसा का विवेच्य विषय 'सत्' है। जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। 'सत्' की मीमांसा भी जैन दर्शन में इसी दृष्टिकोण से की गई है। इसलिए तत्त्वमीमांसा के अंतर्गत अनेकान्त की विवेचना सर्वप्रथम करणीय है।

अनेकान्त

अनेकान्त को जैन दर्शन का पर्याय माना जाता है। 'अनेक' और 'अन्त' इन दो शब्दों के योग से अनेकान्त शब्द बना है। अन्त का तात्पर्य यहाँ धर्म-स्वभाव से है। जिसमें अनेक विरोधी धर्मों का सह अवस्थान हो, वह अनेकान्त

है।[1]

सप्तभंगीतरंगिनी में कहा गया है- ''अनेकेअन्ता धर्मा: सामान्यविशेषपर्याया गुणायस्येति सिद्धोऽनेकान्त'' (30/2) अर्थात् जिसके सामान्य विशेष पर्याय व गुण रूप के अनेक अन्त या धर्म हैं, वह अनेकान्त रूप सिद्ध होता है।

एक द्रव्य में अनेक धर्म हों, यह कोई महत्वपूर्ण स्वीकृति नहीं है, किन्तु एक ही वस्तु में, एक ही काल में अनन्त विरोधी धर्म एक साथ रहते हैं, यह अनेकान्त दर्शन की महत्वपूर्ण स्वीकृति है।

जैन दर्शन की चिन्तन शैली का नाम अनेकान्त व प्रतिपादन शैली का नाम स्याद्वाद है। अनेकान्त ज्ञानात्मक और विचारात्मक स्थिति है, स्याद्वाद वचनात्मक स्थिति है। एक ही वस्तु को, शब्द को कितनी दृष्टियों से प्रतिपादित किया जा सकता है, किन अपेक्षाओं से स्वीकार या अस्वीकार किया जा सकता है, स्याद्वाद के माध्यम से यह स्पष्ट हो जाता है।

ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित अनेक संवाद अनेकान्त की आत्मा को उजागर करते हैं। शुक परिव्राजक और थावच्चापुत्र का संवाद इस संदर्भ में दृष्टव्य है-

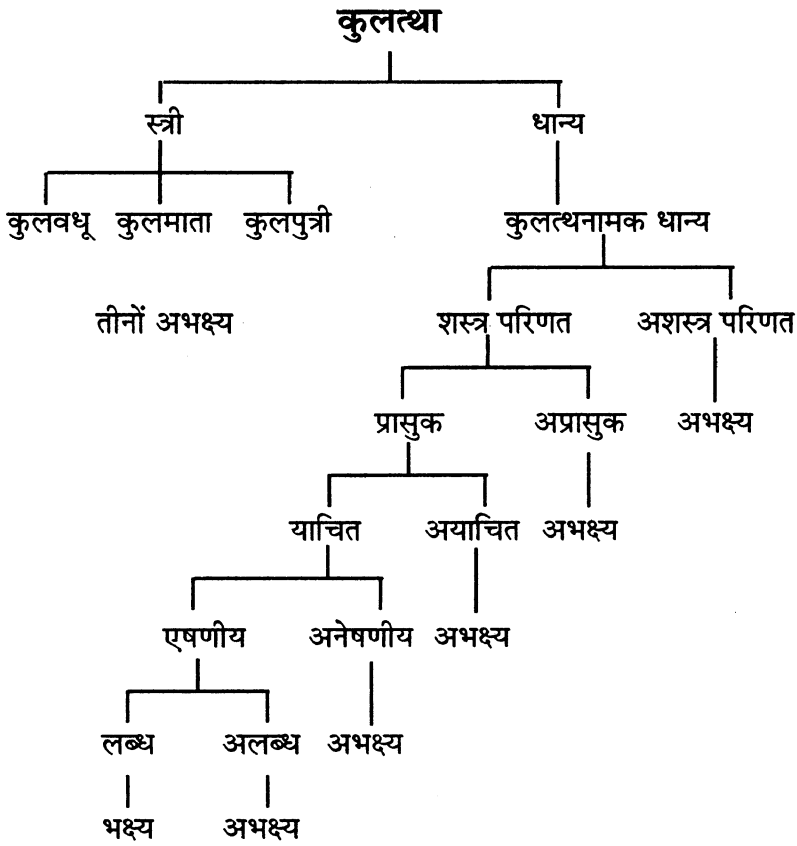
'सरिसवया ते भंते! भक्खेया अभक्खेया ?'

'सुया! सरिसवया भक्खेया वि अभक्खेया वि।[2]'

इस अनेकान्तिक वार्तालाप को स्याद्वाद शैली में आगे बढ़ाया गया है-

'सरिसवया' के दो प्रकार हैं- (1) मित्र, (2) धान्य (सरसों)। मित्र सरिसवया के तीन प्रकार हैं- (1) साथ जन्मे हुए, (2) साथ बढ़े हुए, (3) साथ-साथ खेले हुए। ये तीन प्रकार के मित्र सरिसवया श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं। धान्य सरिसवया के दो प्रकार हैं- (1) शस्त्र परिणत, और (2) अशस्त्र परिणत। शस्त्र परिणत भी दो प्रकार के हैं- (1) प्रासुक, (2) अप्रासुक। अप्रासुक अभक्ष्य है। प्रासुक दो प्रकार के हैं- (1) याचित, (2) अयाचित। अयाचित अभक्ष्य हैं। याचित दो प्रकार के हैं- एषणीय और अनेषणीय। अनेषणीय अभक्ष्य हैं। एषणीय के दो प्रकार हैं- (1) लब्ध, (2) अलब्ध। अलब्ध अभक्ष्य हैं। जो लब्ध हैं, वे निर्ग्रन्थों के लिए भक्ष्य हैं। इस अभिप्राय से सरिसवया भक्ष्य भी हैं और अभक्ष्य भी हैं।

इसी प्रकार के विकल्पों की श्रृंखला 'कुलत्था' के संदर्भ में भी कही गई है[3], जिसे अग्रांकित रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं-



उपर्युक्त विकल्प श्रृंखला (स्याद्वाद शैली) से स्पष्ट है कि 'कुलत्था' भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी है।

एक सामान्य से प्रश्न पर विभक्तिपूर्वक इतने सारे विकल्प प्रस्तुत करते चले जाने से स्पष्ट है कि जैन दर्शन अद्वैतवादी नहीं है। वह अनेक बाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार करता है।

जैन दर्शन में वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक माना गया है। सत्य के

अन्वेषण में अनेकान्त का कोई विकल्प नहीं है। एकान्त आग्रहपूर्ण दृष्टिकोण से सत्य के एक अंश को तो जाना जा सकता है, सम्पूर्ण सच्चाई को नहीं। पूर्ण सत्य को जानने के लिए अनेकान्त, अनाग्रही दृष्टिकोण अनिवार्य है। किसी भी पदार्थ, द्रव्य, तत्त्व, सत् को जानने के लिए अनेकान्त ही आधार है। इस तथ्य को ज्ञाताधर्मकथांग में बहुत ही सहजता के साथ प्रस्तुत किया गया है, अत: यहाँ अनेकान्त ही आधार है। इस तथ्य को ज्ञाताधर्मकथांग में बहुत ही सहजता के साथ प्रस्तुत किया गया है, अत: यहाँ अनेकान्त के हार्द को आसानी से समझा जा सकता है।

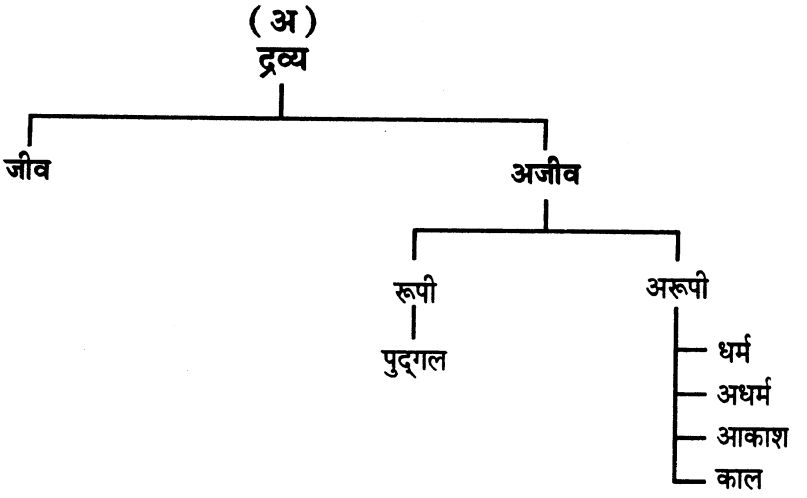
द्रव्य

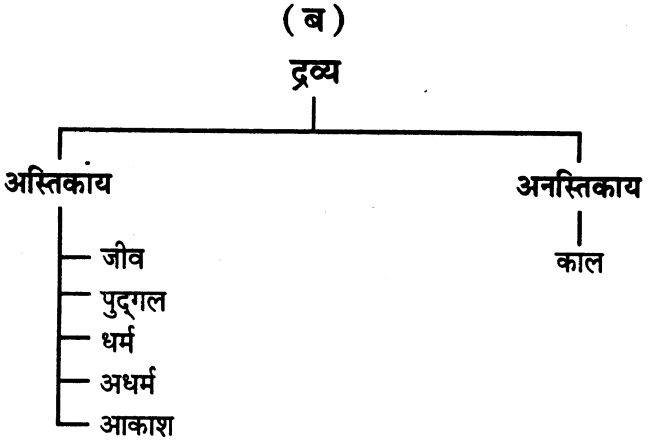
आगमों में द्रव्य की सत् संज्ञा नहीं थी। जब अन्य दर्शनों में 'सत्' शब्द को समाविष्ट किया गया तो जैन दार्शनिकों के समक्ष भी प्रश्न उभरा कि सत् क्या है ? वाचक उमास्वाति ने कहा कि द्रव्य ही सत् है अर्थात् सत् द्रव्य लक्षणम्। सत् को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा- 'उत्पाद्व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'[4] यानी सत् वही होता है जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त हो तथा वही द्रव्य कहलाता है। उन्होंने द्रव्य की परिभाषा दी- 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्।'[5]

जैन दर्शन के अनुसार हमारा ज्ञान जब संश्लेषणात्मक होता है तब द्रव्य उपस्थित रहता है और पर्याय गौण हो जाता है। जब ज्ञान विश्लेषणात्मक होता है तब पर्याय प्रधान एवं द्रव्य गौण हो जाता है। ज्ञाताधर्मकथांग में थावच्चापुत्र शुकपरिव्राजक को द्रव्य-पर्याय सम्बन्ध अनेकान्त के आलोक में समझता है।[6]

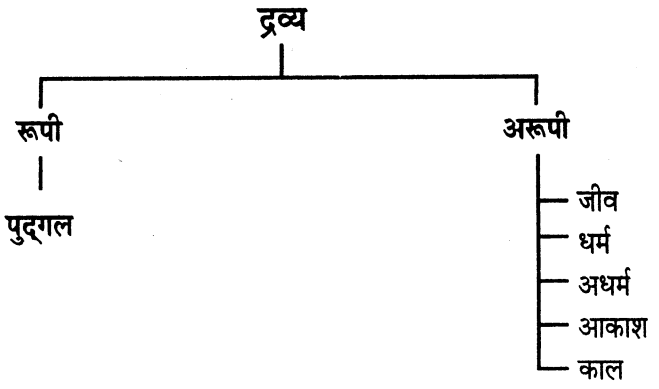
ज्ञाताधर्मकथांग में संक्षेप में जीव-अजीव - इन दो तत्त्वों का विशेष तथा नव तत्त्वों का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष उल्लेख प्राप्त होता है। कोई भी व्यक्ति जीव-अजीव आदि तत्त्वों को जानकर व श्रद्धाकर श्रावक बनता है। जितशत्रु राजा के संदर्भ में कहा गया है- ".....समणोवासए जाए अभिगयजीवाजीवे (जाव उबलद्धपुण्णपावे आसव-संवर-निज्जर-किरिया-अहिगरण-बंध-मोक्खकुसले असहेज्जे.....)"[7] इस प्रकार ये तत्त्व संयम की आधारशिला हैं।

द्रव्य के विभिन्न भेदोपभेदों को तीन दृष्टियों से अग्रांकित रेखाचित्रों द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।


(अ)
द्रव्य
जीव
अजीव
रूपी
पुद्गल
अरूपी
धर्म
अधर्म
आकाश
काल


(ब)
द्रव्य
अस्तिकाय
जीव
पुद्गल
धर्म
अधर्म
आकाश
अनस्तिकाय
काल

(स)



समग्र दृष्टि से कहा जा सकता है कि द्रव्य मूलत: दो ही हैं- जीव तथा अजीव। नव तत्त्वों की अवधारणा के अनुसार इनका विवेचन इस प्रकार है-

1. जीव

चेतन जीव का स्वरूप है और उपयोग उसका लक्षण है। वह सुख-दु:ख के प्रति संवेदनशील होता है। अपने शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता वह स्वयं है। जीव अरूपी है।

ज्ञाताधर्मकथांग में जीव के लिए प्राण, भूत, जीव व सत्व शब्दों का प्रयोग किया गया है।[8] तीन विकलेन्द्रिय वाले जीव 'प्राण', वनस्पतिकायिक जीव 'भूत', सभी पंचेन्द्रिय प्राणी 'जीव' और शेष चार स्थावर (पृथ्वी, पानी, अग्नि व वायु) जीव 'सत्व' कहलाते हैं। षट्जीवनिकाय- स्वरूप पर श्रद्धा रखने से ही संयम यात्रा अपने चरम तक पहुँच सकती है।[9] षट्जीवनिकाय हैं- पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय।

2. अजीव

जिस पदार्थ में ज्ञान-दर्शन रूप चैतन्य नहीं पाया जाए उसे अजीव कहते हैं। यह जीव का विरोधी भावात्मक पदार्थ है। इसके पाँच भेद हैं- धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल।

धर्म

जीव और पुद्गल जिस द्रव्य से गति करते हैं, उसे धर्म द्रव्य कहा जाता

है। यह अखण्ड रूप से सारे संसार में व्याप्त है।

अधर्म

जीव और पुद्गल द्रव्य को ठहरने यानी स्थिति में सहायता करने वाला द्रव्य विशेष अधर्म कहा जाता है। यह अखण्ड द्रव्य है, इसके असंख्यात प्रदेश हैं, यह सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त है।

आकाश

जो द्रव्य, पुद्गल, धर्म और अधर्म को स्थान देता है वह आकाश है। यह सर्वव्यापी, एक और अमूर्त है।

पुद्गल

जिस पदार्थ में स्पर्श, रस, गंध, रूप तथा शब्द पाया जाए उसे पुद्गल कहते हैं। पुद्गल परिणामी नित्य होता है। इस तथ्य की पुष्टि करने वाला प्रसंग ज्ञाताधर्मकथांग में आया है। अमात्य सुबुद्धि राजा जितशत्रु से कहता है-

एवं खलुसामी! सुब्भिसद्दा वि पुग्गला दुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति, दुब्भिसद्दा वि पोग्गला सुब्भिसद्दा परिणमंति।[10] इस प्रकार स्पष्ट है कि पुद्गल की अमनोज्ञता, मनोज्ञता आदि पर किसी प्रकार के विस्मय का अवकाश नहीं।

अमात्य सुबुद्धि परिखा के जल के संदर्भ में प्रयोग व स्वभाव से परिणमन स्वीकार करता है। वह विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा उस दुर्गन्ध वाले अमनोज्ञ जल को स्फटिकमणि के समान मनोज्ञ तथा आस्वादन करने योग्य बना देता है। उस उदक-रत्न को पान कर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ। राजा द्वारा पूछने पर अमात्य सुबुद्धि ने कहा- 'हे स्वामी! यह वही पानी है।'[11]

यहाँ दुर्गन्धयुक्त पानी का विनाश, सुरभियुक्त जलरत्न की उत्पत्ति व पानी पदार्थ की ध्रुवता स्पष्ट होती है।

काल

परिवर्तन का जो कारण है उसे काल कहा जाता है।

3. पुण्य

'पुणति-शुभी करोति पुनाति वा पवित्री करोत्यात्मानम् इति पुण्यम्' अर्थात् जो आत्मा को शुभ करता है अथवा उसे पवित्र बनाता है, वह शुभ-कर्म है।[12] ठाणांग में पुण्य नौ प्रकार के बताए गए हैं- अन्न पुण्य, पान पुण्य, वस्त्र पुण्य, लयन पुण्य, शयन पुण्य, मन पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य तथा नमस्कार

पुण्य।[13] ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि जब भी श्रमण पधारते थे तो प्रजा व राजा उनको वंदन-नमस्कार करने जाते थे, जो पुण्य का हेतु है।[14] इसी प्रकार श्रमणों को गोचरी देने का उल्लेख भी मिलता है।[15]

4. पाप

जिस अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा अशुभ कर्म का बंधन होता है, उपचार से उस अशुभ प्रवृत्ति को पाप कहा जाता है। ज्ञाताधर्मकथांग में जीव के नरक गति में जाने का कारण अठारह प्रकार के पाप बताए गए हैं।[16] ये इस प्रकार हैं- प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवार, रति-अरति, माया-मृषा और मिथ्यादर्शनशल्य।

5. आश्रव

जिस परिणाम से आत्मा में कर्मों का प्रवेश होता है, उसे आश्रव कहा जाता है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग- ये आश्रव के पाँच भेद हैं। ज्ञाताधर्मकथांग में थावच्चापुत्र कृष्णवासुदेव से कहता है- 'अज्ञान, मिथ्यात्व, अविरति और कषाय द्वारा संचित कर्मों का क्षय करने के लिए मैं संयम लेना चाहता हूँ।'[17]

6. संवर

आत्मा से संबद्ध होने के लिए आश्रव-द्वारों से कर्म समूह आते हैं, उन्हें जिन वृत्तियों के माध्यम से रोक दिया जाता है, वह संवर तत्त्व है।[18] संवर के पाँच भेद हैं- सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय तथा अयोग। यद्यपि ज्ञाताधर्मकथांग में इनका स्पष्ट उल्लेख तो नहीं मिलता, लेकिन विभिन्न पात्रों की गतिविधियों के माध्यम से उनकी संवर वृत्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। सुधर्मास्वामी सम्यक्त्व संवर की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं- ''नन्नत्व णाण-दंसण-चरित्ताणं वहणयाए..... ।।'' थावच्चापुत्र[19], महाबल[20] तथा पोट्टिला[21] आदि के द्वारा प्रव्रज्या अंगीकार करना सर्व व्रत संवर का उदाहरण है। इसी प्रकार दर्दुर भी जीवनपर्यन्त के लिए समस्त प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता है।[22] ज्ञातव्य है कि तिर्यंच गति में अधिक से अधिक पाँच गुणस्थान हो सकते हैं, अत: देशविरति तो संभव है, किन्तु सर्वविरति-संयम की संभावना नहीं है, तो फिर नंद के जीव दर्दुर ने सर्वविरति रूप प्रत्याख्यान कैसे कर लिया ? यद्यपि प्रस्तुत ग्रंथ में

टीकाकार की 2 गाथाएँ उद्धृत कर तिर्यंच में महाव्रत स्वीकार की बात कही है। किन्तु श्रीमद् भगवतीसूत्र के शतक 8 उद्देशक 5 में श्रावक व्रत ग्रहण करने के करण योग की अपेक्षा 49 विकल्प (भंग) बताये हैं। उनमें से प्रथम 3 करण 3 योग से त्याग को सर्वश्रेष्ठ विकल्प बताया है इससे श्रावक 11वीं उपासक प्रतिमा एवं मारंणितिकि संलेखना स्वीकार करने का उल्लेख आता है। इसमें करण योग की अपेक्षा भले ही छुट न हो पर महाव्रत में व इसमें अंतर है। अत: यह महाव्रत रूप चारित्र नहीं है अपितु देशविरति चारित्र का ही एक विकल्प होने से तिर्यंच श्रावक के व्रत ग्रहण के अंतर्गत है न कि महाव्रत रूप सर्वविरति के अंतर्गत। मूल पाठ में जिस प्रकार से इसका उल्लेख किया गया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि आगमकार को भी उसके प्रत्याख्यान में कोई अनौचित्य नहीं लगता। थावच्चापुत्र[23] तथा सुव्रता आर्या[24] पाँच समिति व तीन गुप्ति का पालन कर संवर के माध्यम से कर्मों को रोकते थे।

7. निर्जरा

तपस्या के द्वारा कर्मों का विच्छेद होने पर आत्मा की जो उज्ज्वलता होती है, वह निर्जरा है। तप के 12 भेद ही निर्जरा के 12 भेद हैं। इन भेदों का ज्ञाताधर्मकथांग के संदर्भ में विवेचन इसी अध्याय के 'आचार-मीमांसा' शीर्षक में किया गया है।

8. बंध

आत्म-प्रदेशों का कर्म पुद्गलों के साथ क्षीर-नीर की तरह मिल जाना बंध तत्त्व है।[25] प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध- ये बंध के चार प्रकार हैं।

ज्ञाताधर्मकथांग के मूल पाठ में बंध के संदर्भ में 'निबद्धाउए' और 'बद्धपएसिए' इन दो पदों का प्रयोग हुआ है।[26] टीकाकार के मतानुसार 'बद्धाउए' पद से प्रकृति, स्थिति और अनुभाग बंध सूचित किए गए हैं और 'बद्धपएसिए' पद से प्रदेश बंध का कथन किया गया है।

9. मोक्ष

आत्मा का सब प्रकार के कर्मों से सम्पूर्ण रूप में सदा के लिए छूट जाना मोक्ष तत्त्व है।[27] सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की आराधना से मोक्ष की प्राप्ति होती है। ज्ञाताधर्मकथांग में मोक्षमार्ग का निर्वचन करते हुए थावच्चापुत्र

अणगार सुदर्शन से कहते हैं, ''....विणयमूलएणं धम्मेणं अणुपुव्वेणं अट्ठकम्म-पगडीओ खवेत्ता लोयग्गपइट्ठाणे भवंति।''[28] इसी बात को प्रकट करते हुए सुधर्मा स्वामी कहते हैं- ''जो श्रमण पाँच इन्द्रियों के कामभोगों में आसक्त नहीं होता और अनुरक्त नहीं होता, वह इसी भव में बहुत से श्रमणों, श्रमणियों, श्रावकों और श्राविकाओं का पूजनीय होता है और परलोक में भी दु:ख नहीं पाता है..... उसे अनादि अनन्त संसार-अटवी में चतुरशीति शत सहस्र योनियों में भ्रमण नहीं करना पड़ता। वह अनुक्रम से संसार-कान्तार को पार कर जाता है- सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।''[29]

लेश्या

जिसके द्वारा जीव अपने को पुण्य और पाप से लिप्त करे उसको लेश्या कहते हैं।[30] तत्त्वार्थवार्तिक में कषाय के उदय से अनुरक्त योगप्रवृत्ति को लेश्या कहा है।[31] कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल- ये लेश्या के छ: प्रकार हैं। प्रथम तीन अशुभ तथा अंतिम तीन उत्तरोत्तर शुभ होती है। ज्ञाताधर्मकथांग में मेघकुमार को शुभ परिणामों एवं प्रशस्त अध्यवसायों एवं विशुद्ध होती हुई लेश्याओं के कारण जाति स्मरण ज्ञान होता है।[32] धर्मरूचि अणगार के पास तेजोलब्धि थी! लेकिन वे उसका उपयोग नहीं करते थे।[33]

कषाय

जो आत्मा को कषे अर्थात् चारों गतियों में भटकाकर दु:ख दे, कषाय है।[34] क्रोध, मान, माया और लोभ- ये चार कषाय हैं। जिसकी कषाय जितनी अधिक मंद या पतली-कृश होगी वो उतना ही जल्दी मोक्षगामी होगा। ज्ञाताधर्मकथांग में मेघमुनि मंद कषाय वाले थे।[35] अत: मेघकुमार अतिशीघ्र संसार यानी भव भ्रमण को समाप्त करने वाले हैं।

पर्याप्ति

आत्मा की एक शक्ति विशेष को पर्याप्ति कहते हैं। वह शक्ति पुद्गलों को ग्रहण करती है और उन्हें शरीर, इन्द्रियादि के रूप में परिणत करती है। जीव अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुँचकर प्रथम समय में जिन पुद्गलों को ग्रहण करता है और तदन्तर भी जिन पुद्गलों को ग्रहण करता है उनको शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन के रूप में परिवर्तित करता है। पुद्गलों को इस रूप में परिणत करने की शक्ति को ही पर्याप्ति कहा जाता है।[36] पर्याप्तियाँ छ: प्रकार की होती हैं- आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास

पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति व मन पर्याप्ति। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि काली देवी सूर्याभदेव की तरह भाषापर्याप्ति और मनपर्याप्ति आदि पाँच प्रकार की पर्याप्तियों से युक्त थी।[37] देवताओं के भाषा और मन पर्याप्ति एक साथ होती है अत: यहाँ पाँच पर्याप्ति कहा गया है।

शरीर

पौद्गलिक सुख-दु:ख की अनुभूति को जो साधन है, वह शरीर है।[38] शरीर के प्रकार बताते हुए तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है- 'औदारिकवैक्रियआहारक-तैजस्कार्मणाणि शरीराणि'[39]

1. औदारिक शरीर

औदारिक शरीर की निष्पत्ति स्थूल पुद्गलों से होती है। इसका छेदन-भेदन हो सकता है।

विदेहराजवरकन्या मल्ली जितशत्रु आदि राजाओं को प्रतिबोध देते हुए कहती है- 'औदारिक शरीर तो कफ को झराने वाला है, खराब उच्छ्वास-निश्वास निकालने वाला है, अमनोज्ञमूत्र एवं दुर्गन्धित मल से परिपूर्ण है, सड़ना, पड़ना, नष्ट होना और विश्वस्त होना इसका स्वभाव है।'[40]

2. वैक्रिय शरीर

वैक्रिय शरीर में विविध प्रकार की क्रियाएँ घटित होती हैं। यह शरीर छोटा, बड़ा, स्थूल, सूक्ष्म, आकाशचारी, पृथ्वीचारी, दृश्य-अदृश्य कैसा भी बनाया जा सकता है। ज्ञाताधर्मकथांग में अभयकुमार का मित्रदेव विचित्र विक्रिया से दिव्य रूप धारणकर अभयकुमार के पास पहुँचता है। इस विक्रियता के लिए वह वैक्रिय-समुद्घात करता है यानी उत्तर वैक्रिय शरीर बनाने के लिए जीव-प्रदेशों को बाहर निकालता है और फिर सारभूत पुद्गलों को ग्रहण करता है।[41] ग्रहण करके उत्तर वैक्रिय शरीर बनाता है।

3. आहारक शरीर

विशिष्ट योगशक्तिसम्पन्न, चतुर्दशपूर्वधर मुनि विशिष्ट प्रयोजनवश एक शरीर की संरचना करते हैं, उसे आहारक शरीर कहा जाता है।[42] समवायांग सूत्र में कहा गया है कि जब कभी चतुर्दशपूर्वपाठी मुनि को किसी सूक्ष्म विषय में संदेह हो जाता है और जब सर्वज्ञ का सन्निधान नहीं होता, तब वे अपना संदेह

निवारण करने के लिए औदारिक शरीर से क्षेत्रान्तर में जाना असंभव समझकर अपनी विशिष्ट ऋद्धि का प्रयोग करते हुए जो हस्त-प्रमाण छोटा शरीर निर्माण करते हैं, वह आहारक शरीर कहलाता है।[43]

4. तैजस् शरीर

जो शरीर तेजोमय होने के कारण ग्रहण किए हुए आहार आदि के परिपाक का हेतु और दीप्ति का निमित्त हो, वह तैजस् शरीर है।

5. कार्मण शरीर

क्षण-प्रतिक्षण ग्रहण किया जाने वाला कर्म का समूह ही कार्मण शरीर कहलाता है। तेजस् तथा कार्मण शरीर प्रत्येक संसारी जीव के होते हैं।

गति

गति नाम कर्म के उदय से जीव की पर्याय विशेष को अथवा जीव की संसारी अवस्था विशेष को गति कहते हैं। गति चार होती हैं, ज्ञाताधर्मकथांग के संदर्भ में इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

1. नरक गति

घोर पापाचरण करने वाले जीव अपने पापों को भोगने के लिए अधोलोक के जिन स्थानों में पैदा होते हैं, उन स्थानों को नरक कहते हैं। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि नागश्री ब्राह्मणी को अपने पापाचरण के कारण अर्थात् मासखमण का पारणा करने वाले धर्मरूचि अणगार को कड़वे तुम्बे का शाक देकर उनके प्राणों का हरण करने के कारण उसे कई बार नरक की यातनाएँ झेलनी पड़ी।[44]

2. तिर्यञ्च गति

जिसके तिर्यञ्च गति नाम कर्म का उदय हो वे तिर्यञ्च कहलाते हैं। जो जीव झूठ बोलते हैं, छल करते हैं, व्यापार आदि में धोखा करते हैं, वे मरकर एकेन्द्रिय, पशु-पक्षी आदि रूप में तिर्यञ्च भव में जाते हैं। नन्दमणियार का जीव पुष्करिणी में आसक्त होने के कारण तिर्यञ्च योनि में जन्म लेता है।[45] इसी प्रकार नागश्री का जीव नरक का आयुष्य पूर्णकर तिर्यञ्च गति की मत्स्ययोनि व उरगयोनि में जन्म लेता है।[46]

तिर्यञ्च के अड़तालीस भेद बताए गए हैं। प्राण, भूत, जीव, सत्व[47] में

तिर्यञ्च के सभी भेद आ जाते हैं।

3. मनुष्य गति

मनुष्य गति नामकर्म के उदय वाले जीवों को मनुष्य कहते हैं। जो जीव स्वभाव से भद्र, विनयवान, दयालु तथा किसी दूसरे से ईर्ष्या नहीं करते हैं, वे मरकर प्राय: मनुष्य गति में आते हैं। मेघकुमार ने अपने पूर्व के हाथी भव में अनुकम्पा भाव के कारण मनुष्यायु का बंध किया।[48]

4. देव गति

देव गति नामकर्म के उदय वाले जीवों को देवता कहते हैं। देव के चार भेद हैं- भवनपति, वाणव्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक।

ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि मेघ नामक अणगार चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा (सभी ज्योतिष्क) रूप ज्योतिषचक्र से बहुत योजन दूर जाकर सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत देवलोकों तथा तीन सौ अठारह नवग्रैवेयक के विमानवासों को लांघकर विजय नामक अनुत्तर महाविमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ।[49] इसी प्रकार लौकान्तिक देवों का नामोल्लेख भी मिलता है। जिस समय अरहन्त मल्ली ने तीन सौ अट्ठासी करोड़ अस्सी लाख जितनी अर्थसम्पदा दान देकर 'मैं दीक्षा ग्रहण करूं', ऐसा मन में निश्चय किया उस समय सारस्वत, वह्नि, आदित्य, वरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, आग्नेय व रिष्ट आदि ने नौ लोकान्तिक देव नृत्य-गीत के शब्दों के साथ दिव्य भोग भोगते हुए विचर रहे थे।[50]

ज्ञाताधर्मकथांग में कुछ देवों की स्थिति यानी आयु का उल्लेख भी किया गया है[51], यथा- ब्रह्मलोक नामक स्वर्ग की स्थिति दस सागरोपम[52], विजय नामक अनुत्तर विमान की तैंतीस सागरोपम[53] और जयन्त नामक अनुत्तर विमान के देवों की स्थिति बत्तीस सागरोपम[54] बताई गई है।

भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों ने तीर्थंकर मल्ली का जन्माभिषेक किया।[55]

देवों के साथ मनुष्यों का सम्पर्क

ज्ञाताधर्मकथांग के विभिन्न प्रसंगों में देव जाति के अस्तित्व को स्वीकार तो किया ही है और साथ ही उन देवों का मनुष्य जाति के साथ सम्पर्क होना या करना भी बतलाया गया है।

व्यंतर जाति के देव मनुष्य के अधिक निकट सम्पर्क में हैं। ये अपने आवासों के अलावा पर्वतों, गिरि-कंदराओं, समुद्रों आदि स्थानों में रहते हैं। इन्हें प्रसन्न करके मनुष्य अपने इष्ट को प्राप्त करता है लेकिन जब ये कुपित हो जाते हैं तो अनिष्ट भी कर डालते हैं। माकंदीपुत्र जिनरक्षित और जिनपालित रत्नद्वीप की देवी के आदेश की अवहेलना कर दक्षिण वन में चले जाते हैं। देवी यह जानते ही कुपित हो उन्हें मारने को उद्यत हो जाती है। जिनरक्षित देवी के हाथों मारा जाता है।[56]

ज्ञाताधर्मकथांग से यह भी पुष्टि होती है कि विशेष रूप से उनका आह्वान कर सहयोग भी लिया जा सकता है। महारानी धारिणी के मन में गर्भ के प्रभाव से अकाल-मेघ सम्बन्धी इच्छा (दोहद) उत्पन्न होती है। इस दोहद की संपूर्ति के लिए अभयकुमार विशिष्ट विधिपूर्वक तीन दिन तक अपने मन में मित्रदेव का चिन्तन करते हुए अनुष्ठान करता है। मित्रदेव अपने ज्ञान से जानकर अपने दिव्य रूप में प्रस्तुत हो अभय की इच्छा जानते हैं और उसी के अनुरूप वातावरण उत्पन्न कर महारानी के दोहद की पूर्ति करते हैं।[57] इसी विधि से श्रीकृष्ण भी सुस्थित देव को लवण समुद्र में मार्ग देने अर्थात् उसका पार करने की इच्छा से याद करते हैं और सुस्थित देव उसी रूप में उनकी सहायता करता है।[58] इसी प्रकार वचन प्रतिबद्धता के कारण पोट्टिलदेव तैतलिपुत्र को प्रतिबोध देने के लिए उपस्थित होते हैं और उसे धर्म में प्रतिष्ठित करके चले जाते हैं।[59] इसी प्रकार दर्दुरदेव एवं काली देवी भी अपने दिव्य परिवार के साथ भगवान महावीर को वंदना करने के लिए उपस्थित होते हैं तथा अपना नाम-गोत्र बताकर और अनेक प्रकार के नाटक दिखाकर लौट जाते हैं।[60]

तीर्थंकर

तीर्थंकर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हैं। ये सब प्रकार के दोषों से रहित होते हैं। ज्ञाताधर्मकथांग में कहा गया है कि वे धर्म की आदि करते हैं और तीर्थ की स्थापना करते हैं।[61] 'तीर्थ' के अंतर्गत साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका इन चार प्रकार के व्रतियों का समावेश होता है। मानव जीवन की ये चार अवस्थाएँ मुक्ति-प्राप्ति में सहायक होती हैं।

तीर्थंकर अपनी माता के गर्भ में जिस दिन प्रवेश करते हैं उस रात उनकी

माता को 14 प्रकार के स्वप्न दिखाई पड़ते हैं। तीर्थंकर मल्ली की माता प्रभावती द्वारा चौदह स्वप्न देखने का उल्लेख ज्ञाताधर्मकथांग में आया है, ये चौदह स्वप्न हैं[62]-1. गज, 2. वृषभ, 3. सिंह, 4. अभिषेक, 5. पुष्पमाला, 6. चन्द्रमा, 7. सूर्य, 8. ध्वजा, 9. कुम्भ, 10. पद्मयुक्त सरोवर, 11, सागर, 12. विमान, 13. रत्नों की राशि, 14. धूम्ररहित अग्नि।

तीर्थंकर कैसे बनते हैं ?

तीर्थंकरत्व की उपलब्धि सहज नहीं है। हर एक साधक आत्म साधनाकर मोक्ष तो प्राप्त कर सकता है, पर तीर्थंकर नहीं बन सकता है। विश्वकल्याण की भावना से अनुप्राणित साधक जब लोककल्याण की सुदृढ़ भावना भाता है तभी तीर्थंकर जैसी क्षमता को प्रदान करने में समर्थ 'तीर्थंकर नामगोत्र कर्म' का बंध करता है। ज्ञाताधर्मकथांग में इस कर्मबंध के बीस कारण बतलाए गए है[63]- 1. अरिहन्त, 2. सिद्ध, 3. प्रवचन-श्रुतज्ञान, 4. गुरु-धर्मोपदेशक, 5. स्थविर-जातिस्थविर, श्रुतस्थविर व पर्याय स्थविर, 6. बहुश्रुत तथा 7. तपस्वी- इन सातों के प्रति वत्सलता धारण करना यानी इनका यथोचित सत्कार-सम्मान करना, गुणोत्कीर्तन करना, 8. बारंबार ज्ञान का उपयोग करना, 9. दर्शन सम्यक्त्व की विशुद्धता, 10. ज्ञानादिक का विनय करना, 11. छः आवश्यक करना, 12. उत्तर गुणों और मूल गुणों का निरतिचार पालन करना, 13. क्षणलव यानी क्षण-एक लव प्रमाणकाल में भी संवेग, भावना एवं ध्यान का सेवन करना, 14. तप करना, 15. त्याग- मुनियों को उचित दान देना, 16. नया-नया ज्ञान ग्रहण करना, 17. समाधि- गुरु आदि को साता उपजाना, 18. वैयावृत्य करना, 19. श्रुत की भक्ति करना और 20. प्रवचन की प्रभावना करना। महाबलमुनि ने इन्हीं कारणों से तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया।

तीर्थंकर चौंतीस प्रकार के अतिशय यानी वैशिष्ट्य से युक्त होते हैं। ज्ञाताधर्मकथांग में अतिशय शब्द का नामोल्लेख करते हुए अरिष्टनेमि के कुछेक अतिशयों का संकेत मात्र किया गया है।[64] समवायांग में सभी चौंतीस अतिशयों[65] का उल्लेख मिलता है-

1. सिर के केश, दाढ़ी, मूंछ, रोम और नखों का मर्यादा से अधिक न बढ़ना, 2. शरीर का स्वस्थ एवं निर्मल रहना, 3. रक्त और मांस का गाय के दूध के समान श्वेत होना, 4. पद्मगंध के समान श्वासोच्छ्वास का सुगन्धित होना, 5. आहार और शौच क्रिया का प्रच्छन्न होना, 6. तीर्थंकर देव के आगे आकाश में

धर्मचक्र रहना, 7. उनके ऊपर तीन छत्र रहना, 8. दोनों और श्रेष्ठ चंवर रहना, 9. आकाश के समान स्वच्छ स्फटिक मणि का बना हुआ पादपीठ वाला सिंहासन होना, 10. तीर्थंकर देव के आगे आकाश में इन्द्रध्वज का चलना, 11. अशोक वृक्ष का होना, 12. पीछे मुकुट के स्थान पर तेजोमंडल का होना तथा अंधकार होने पर दस दिशाओं में प्रकाश होना, 13. भूभाग का समतल होना, 14. कंटकों का अधोमुख होना, 15. ऋतुओं का अनुकूल होना, 16. संवर्तक वायु का एक योजन पर्यन्त क्षेत्र का शुद्ध हो जाना, 17. मेघ द्वारा रज का उपशान्त होना, 18. पुष्पों की वृष्टि होना, 19. अमनोज्ञ शब्द, रूप, गन्ध, रस एवं स्पर्श का न होना, 20. मनोज्ञ शब्द, रूप, गंध, रस एवं स्पर्श का होना, 21. योजनपर्यन्त सुनाई देने वाला हृदयस्पर्शी स्वर होना, 22. अर्द्धमागधी भाषा में उपदेश करना, 23. अर्द्धमागधी भाषा का उपस्थित, आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु-पक्षी और सरिसृपों की भाषा में परिणत होना तथा उन्हें हितकारी, सुखकारी एवं कल्याणकारी प्रतीत होना, 24. अदया का अभाव होना, 25. अन्यतीर्थिकों का नतमस्तक होकर वंदना करना, 26. अरिहंत के समीप आकर अन्यतीर्थिकों का निरुत्तर होना, 27. पच्चीस योजन पर्यन्त चूहे आदि का उपद्रव न होना, 28. प्लेग आदि महामारी का उपद्रव न होना, 29. स्वसेना का विप्लव न करना, 30. अन्य राज्य की सेना का उपद्रव न होना, 31. अधिक वर्षा न होना, 32. वर्षा का अभाव न होना, 33. दुर्भिक्ष न होना, 34. पूर्वोत्पन्न उत्पात तथा व्याधियों का उपशान्त होना।

ज्ञाताधर्मकथांग में वर्तमान कालिक चौबीस तीर्थंकरों में से चार तीर्थंकरों (19वें मल्लीनाथ, 22वें अरिष्टनेमि, 23वें पार्श्वनाथ व 24वें महावीर) का उल्लेख मिलता है। मल्लीनाथ के शासनकाल में चालीस हजार साधु, पचपन हजार साध्वियाँ, एक लाख चौरासी हजार श्रावक और तीन लाख पैंसठ हजार श्राविकाएँ थी।[66] अरिष्टनेमि के शासनकाल में अठारह हजार साधु, चालीस हजार साध्वियाँ थी।[67] पार्श्वनाथ के समवसरण में सोलह हजार साधु और अड़तीस हजार साध्वियाँ थी।[68]

ज्ञाताधर्मकथांग में ज्ञान-मीसांसा

ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है। ज्ञान के अभाव में आत्मा की कल्पना ही नहीं की जा सकती। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि व्यवहारनय से आत्मा

और ज्ञान में भेद है किन्तु निश्चयनय से आत्मा और ज्ञान में कोई भेद नहीं है।[69] अतः आत्मा का स्वरूप समझने के लिए ज्ञान का स्वरूप समझना बहुत आवश्यक है।

आगमों में ज्ञान सम्बन्धी जो विचारधाराएँ मिलती हैं वे बहुत प्राचीन हैं। संभवतः ये मान्यताएँ भगवान महावीर से पहले की हों। राजप्रश्नीय सूत्र में श्रमण केशीकुमार अपने मुख से कहते हैं- हम श्रमण निर्ग्रंथ पाँच प्रकार के ज्ञान मानते हैं- आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान।[70]

ज्ञाताधर्मकथांग में यद्यपि ज्ञानमीमांसा का स्पष्ट स्वरूप तो नहीं मिलता है लेकिन ज्ञान के विभिन्न प्रकारों व उनके भेदों-प्रभेदों का नामोल्लेख मिलता है। ज्ञाताधर्मकथांग के संदर्भ में ज्ञान के विभिन्न प्रकारों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

1. गतिमान

जैन पारिभाषिकी में मननात्मक अवबोध को मतिज्ञान की संज्ञा दी गई है। उमास्वाति ने मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता एवं अभिनिबोध को एकार्थक बताया है।[71]

इन्द्रियों एवं मन के द्वारा होने वाले इस ज्ञान को ज्ञाताधर्मकथांग में विभिन्न विशेषणों से संबोधित किया गया है।[72] अभयकुमार के व्यक्तित्व को विश्लेषित करते हुए कहा गया है- 'ईहापोह-मग्गण-गवेसण-अत्थसत्थमई विसारए'[73] यानी ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा तथा चिन्तन में उसकी गति प्रखर थी।

सूत्रकार ने मतिज्ञान के मूलतः दो भेद[74] बताए हैं-

(1) **श्रुतनिश्रित**- जो मतिज्ञान श्रुतज्ञान के पूर्वकालिक संस्कार के आधार से उत्पन्न होता है किन्तु वर्तमान में श्रूत निरपेक्ष होता है, वह श्रुतनिश्रित मतिज्ञान कहा जाता है। इसके चार प्रकार हैं-

(अ) **अवग्रह**- यह पहला ज्ञान है। इन्द्रिय और वास्तु का सम्बन्ध होते ही सामान्य अव्यक्त ज्ञान व्यंजनावग्रह है। व्यंजनावग्रह की अपेक्षा कुछ व्यक्त किन्तु जाति, गुण आदि की कल्पना से रहित अर्थ का ग्रहण अर्थावग्रह है।

(ब) **ईहा**- अवगृहीतार्थ को विशेष रूप से जानने की ईच्छा ईहा है।[75] अवग्रह के बाद संशय होता है, संशय के बाद 'यह होना चाहिए'- इस प्रकार

का प्रत्यय ईहा है।

(स) **अवाय**- ईहितार्थ का विशेष निर्णय अवाय है।[76] निर्णयात्मक ज्ञान अवाय है जैसे- 'यह शब्द ही है।'

(द) **धारणा**- अवाय के बाद धारणा होती है। धारणा में ज्ञान इतना दृढ़ हो जाता है कि वह स्मृति का कारण बनता है। धारणा को स्मृति का हेतु कहा गया है।[77]

अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणा- इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रक्रिया के चार चरण हैं। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि स्वप्नपाठकों ने धारिणी के स्वप्न का फलादेश इसी प्रक्रिया से बताया।[78]

(2) **अश्रुतनिश्रित**- जिसमें श्रुतज्ञान के संस्कार की तनिक भी अपेक्षा नहीं रहती, वह अश्रुनिश्रित मतिज्ञान कहलाता है। इसके भी चार प्रकार हैं-

(अ) **औत्पत्तिकी बुद्धि**- सहसा उत्पन्न होने वाली सूझबूझ।

(ब) **वैनयिकी बुद्धि**- विनय से उत्पन्न होने वाली बुद्धि।

(स) **कार्मिकी बुद्धि**- कोई भी कार्य करते-करते, चिरकालीन अभ्यास से जो दक्षता प्राप्त होती है वह कर्मजा, कार्मिकी या कर्मसमुत्था बुद्धि कही जाती है।

(द) **पारिणामिकी बुद्धि**- उम्र के परिपाक से- जीवन के विभिन्न अनुभवों से प्राप्त होने वाली बुद्धि।

ज्ञाताधर्मकथांग में इन चारों बुद्धियों का उल्लेख विभिन्न प्रसंगों में आया है। अभयकुमार औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कार्मिकी व पारिणामिकी बुद्धि से संपृक्त था।[79] राजा श्रेणिक धारिणी के दोहद की सम्पूर्ति हेतु इन चारों बुद्धियों से चिन्तन करता है।[80] राजा शैलक के पंथक आदि पाँच सौ मंत्री इन चारों बुद्धियों से सम्पन्न थे।[81] मल्ली के टूटे कुण्डल जोड़ने के लिए विदेहराज कुम्भ द्वारा बुलवाए गए स्वर्णकार भी उपर्युक्त चारों प्रकार की बुद्धियों के धारक थे।[82] युद्ध में पराजित राजा कुम्भ, मिथिला राजधानी को घिरी जानकर, जितशत्रु आदि छहों राजाओं की सामरिक कमजोरियों का पता लगाने के लिए इन चारों बुद्धियों का सहारा लेता है।[83]

जातिस्मरण ज्ञान

पूर्वजन्म व पुनर्जन्म की प्रामाणिकता का एक सशक्त माध्यम है जातिस्मृति

ज्ञान। यह ज्ञान मतिज्ञान का ही एक भेद है। इस ज्ञान के माध्यम से व्यक्ति इस जीवन की सीमा पार कर इस जीवन से परे एक या अनेक जन्मों को जानने व देखने लगता है। जैन दर्शन के अनुसार कोई जीव अपने अतीत के अनेक संज्ञी जन्मों तक लौट सकता है अर्थात् अपने पिछले अनेक जन्मों को देख व जान सकता है। बीच में यदि उसका कोई असंज्ञी भव आ गया तो उससे आगे वह नहीं देख सकता। साथ ही पूर्व के संज्ञी भवों में यदि उसे कहीं जातिस्मृति या अवधिज्ञान हुआ हो तो उस आधार पर असंख्यात जन्मों की घटनाओं का भी वह साक्षात्कार कर सकता है।[84]

जातिस्मृति का उपादान कारण धारणा है। धारणा जितनी चिरस्थायी होती है, प्रतिष्ठा और कोष्ठा बुद्धि का जितना विकास होता है, जातिस्मृति की संभावनाएँ उतनी ही अधिक हो जाती है। पूर्व जन्म में अनुभूत वस्तुओं, परिचित व्यक्तियों आदि को देखकर, तत्सदृश घटनाओं को देखकर या सुनकर जब व्यक्ति ईहा-अपोह-मार्गणा-गवेषणा करता है तो लेश्या विशुद्धि, चित्त की एकाग्रता एवं संस्कार-प्रबोध से जातिस्मरण ज्ञान हो जाता है।

श्री भिक्षु आगम विषय कोष में कहा गया है कि जब व्यक्ति अपनी बुद्धि का विशिष्ट प्रयोग करते हुए अपने अतीत में प्रवेश करता है तब अतीत के जीवन को, अतीत के जीवन से जुड़ी घटनाओं को पूर्णतः यथार्थ रूप में जान, देख सकता है, इसे जातिस्मृति कहा जाता है अर्थात् जब व्यक्ति की चित्तवृत्ति सघन रूप से एकाग्र हो जाती है, विकल्प शान्त हो जाते हैं और मन की ऊहापोह शान्त हो जाती है तब व्यक्ति को जाति-स्मरण ज्ञान की उपलब्धि होती है।[85]

ज्ञाताधर्मकथांग के अनेक प्रसंग जाति-स्मरण से जुड़े हुए हैं।

मेघकुमार जब अपने अतीत में प्रवेश कर स्पष्ट रूप से जान लेता है कि इस शरीर से पहले वह किस रूप में मेरूप्रभ व सुमेरूप्रभ हाथी के रूप में अपनी जीवन यात्रा तय कर रहा था।[86] मेघ के जातिस्मरण का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि मेघ को अपने पूर्व भवों को महावीर से सुनकर, शुभ परिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय, विशुद्ध होती लेश्याओं व ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय के क्षयोपशम से उस विषय में ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा करते हुए जाति-स्मरण ज्ञान हुआ।[87]

इसी प्रकार पोट्टिल देव का निमित्त पाक तैतलिपुत्र को भी शुभ परिणाम उत्पन्न होने से जातिस्मरण ज्ञान की प्राप्ति हुई।[88]

जातिस्मृति ज्ञान की यह स्थिति जैन दर्शन के अनुसार केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है। तिर्यञ्च प्राणी में भी कुछ विशेष कारणों से ईहा-अपोह-मार्गणा-गवेषणा आदि करते हुए इस अतीन्द्रिय क्षमता का विकास हो सकता है। ज्ञाताधर्मकथांग के एक प्रसंग से यह स्पष्ट भी होता है कि एक तिर्यञ्च प्राणी को किस प्रकार शुभ अध्यवसाय से जातिस्मरण ज्ञान होता है- नन्दा पुष्करिणी के पास स्थित दर्दुर एक ही दिशा में जाते हुए लोगों को देखता है, मन में विचार उत्पन्न होता है- सब एक ही दिशा की ओर क्यों जा रहे हैं? आते-जाते लोगों की बातचीत से समाधान मिलता है कि सब भगवान महावीर के दर्शन एवं वंदना करने जा रहे हैं। भीतर एक तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। चिन्तन एक ही दिशा में विशेष गहराई में चला जाता है और दर्दुर (मेढ़क) अतीत की स्मृति प्राप्त कर लेता है। अपने पूर्वभव के रूप में नंदमणिकार की स्थिति, भगवान महावीर आदि की स्मृति प्रत्यक्ष हो जाती है और वह उसी समय श्रावकोचित व्रतों को अंगीकार कर लेता है और भगवान महावीर को वन्दनार्थ प्रस्थान करता है।[89]

2. श्रुतज्ञान

शब्द, संकेत आदि द्रव्यश्रुत के सहारे होने वाले, दूसरों को समझाने में समर्थ ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा जाता है। केवल श्रुतज्ञान ही वचनात्मक है, परार्थ है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार श्रुत ज्ञान मतिपूर्वक होता है और इसके दो भेद हैं- अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। अंगबाह्य अनेक प्रकार का है जबकि अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं।[90]

ज्ञाताधर्मकथांग में इसे 'मइपुव्वएणं' शब्द से प्रकट किया गया है। राजा श्रेणिक रानी धारिणी के स्वप्न का फलादेश अपने स्वाभाविक मतिपूर्वक बुद्धि विज्ञान अर्थात् श्रुतज्ञान से बतला देता है।[91]

आवश्यक निर्युक्ति में कहा गया है कि जितने अक्षर है और उनके जितने विविध संयोग हैं उतने ही श्रुतज्ञान के भेद हैं, अतः उसके सारे भेद गिनाना संभव नहीं है। श्रुतज्ञान के चौदह मुख्य प्रकार हैं- अक्षर, संज्ञी, सम्यक्, सादिक, सपर्यवसित, गमिक और अंगप्रविष्ट- ये सात तथा अनक्षर, असंज्ञी, मिथ्या, अनादिक, अपर्यवसित, अगमिक तथा अंगबाह्य ये सात इनसे विपरीत हैं।[92]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि समूचे भाषात्मक व्यवहार की सार्थकता का मेरूदण्ड है- श्रुतज्ञान[93]। तीर्थंकर महावीर द्वारा प्ररूपित सम्पूर्ण आगम

वाङ्मय श्रुतनिधि ही है। सुधर्मास्वामी[94], थावच्चापुत्र[95], जितशत्रु आदि छः राजा[96] व महापद्मराजा[97] चौदहपूर्वों के ज्ञाता थे जबकि मेघकुमार[98], अमात्य सुबुद्धि[99], पोट्टिला[100], द्रौपदी[101], कंडरीक[102] तथा काली आर्या[103] ने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। चौदह पूर्व व ग्यारह अंग श्रुतज्ञान के ही अंश हैं।

3. अवधिज्ञान

इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना सूक्ष्म और स्थूल, व्यवहित और अव्यवहित, दूरस्थ और निकटस्थ पदार्थों को साक्षात् करने की ज्ञानशक्ति का नाम अवधिज्ञान है। अवधि का अर्थ है 'सीमा' अथवा 'वह जो सीमित है।' अवधिज्ञान की क्या सीमा है? अवधि का विषय केवल रूपी पदार्थ है।[104] जो रूप, रस, गंध और स्पर्शयुक्त है वही अवधि का विषय है, इससे आगे अरूपी पदार्थों में अवधि की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में कहें तो छः द्रव्यों में से केवल पुद्गल ही अवधिज्ञान का विषय हो सकता है।

इस ज्ञान के दो प्रकार हैं- भवप्रत्यनिक एवं गुणप्रत्यनिक। नैरयिक एवं देवताओं का अवधिज्ञान भवप्रत्यनिक है जबकि मनुष्य और तिर्यञ्च का अवधिज्ञान गुणप्रत्यनिक होता है।

ज्ञाताधर्मकथांग में अवधिज्ञान के उपयोग से जुड़े अनेक प्रसंग हैं। अभयकुमार द्वारा स्मरण किए जाने पर उसके पूर्व मित्र सौधर्मकल्पवासी देव ने अपने अवधिज्ञान का उपयोग लगाकर अभयकुमार की स्थिति को जाना।[105] इसी प्रकार अर्हन्नक श्रद्धा से विचलित होता है या नहीं, इसे जानने के लिए देव ने[106], मल्ली के प्रव्रज्या संकल्प को जानने के लिए लोकान्तिक देवों ने[107] तथा माकन्दी पुत्रों को देखने के लिए रत्नद्वीप की देवी[108] ने तथा शैलक ने अपना अवधिज्ञान लगाया। दर्दुर देव ने अपने अवधिज्ञान से सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को देखा।[109] मल्ली भगवती की समण सम्पदा में दो हजार अवधिज्ञानी साधु थे।[110]

4. मनःपर्यवज्ञान

मन एक प्रकार का पौद्गलिक द्रव्य है। जब व्यक्ति किसी विषय का विचार करता है तब उसके मन का विविध पर्यायों में परिवर्तन होता है। मनःपर्यज्ञानी उन पर्यायों का साक्षात्कार करता है। उस साक्षात्कार के आधार पर वह यह जान सकता है कि यह व्यक्ति इस समय अमुक बात सोच रहा है।

मनःपर्ययज्ञान के दो प्रकार हैं- ऋजुमति और विपुलमति।[111]

ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति का ज्ञान विशुद्धतर होता है क्योंकि विपलुमति ऋजुमति की अपेक्षा मन के सूक्ष्मतर परिणामों को भी जान सकता है। दूसरा अन्तर यह है कि ऋजुमति प्रतिपाती है किन्तु विपुलमति नष्ट नहीं हो सकता। वह केवलज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त अथवा जिस भव में उत्पन्न हुआ उस भव पर्यन्त अवश्य रहता है।[112]

ज्ञाताधर्मकथांग में कहा गया है कि प्रव्रजित होते ही मल्ली भगवती को, साधारण मनुष्यों को न होने वाला मन:पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।[113] मल्ली भगवती की शिष्ट सम्पदा में आठ सौ साधु मन:पर्ययज्ञानी थे।[114]

5. केवलज्ञान

यह ज्ञान विशुद्धतम है। मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय क्षायोपशमिक ज्ञान है। केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान है। क्षायिकभाव पूर्णत: अखण्ड एवं सकल होता है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि केवलज्ञान का विषय सर्वद्रव्य और सर्वपर्याय है।[115]

ज्ञाताधर्मकथांग में मल्ली भगवती प्रसंग से केवलज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है- अरिहन्त मल्ली को अनन्त अर्थात् अनन्त पदार्थों को जानने वाला और सदा काल स्थायी, अनुत्तर- सर्वोत्कृष्ट, निर्व्याघात- सब प्रकार के व्याघातों से रहित- जिसमें देश या काल सम्बन्धी दूरी आदि कोई बाधा उपस्थित नहीं हो सकती, निरावरण- सब आवरणों से रहित, सम्पूर्ण और प्रतिपूर्ण केवलज्ञान की उत्पत्ति हुई।[116] मेघकुमार जब प्रव्रज्या के लिए जाते हैं तो सम्पूर्ण जनमेदिनी मंगलकामना करती है- अज्ञानान्धकार से रहित सर्वोत्तम केवलज्ञान को प्राप्त करो।[117] थावच्चापुत्र[118], शुक परिव्राजक[119], शैलक[120], तैतलीपुत्र[121] आदि के प्रसंग में उनके केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति का उल्लेख है। मल्ली की श्रमण सम्पदा में तीन हजार दो सौ केवलज्ञानी थे।[122]

ज्ञाताधर्मकथांग में आचारमीमांसा

आचार, विचार की खान से निकलने वाला हीरा है। आचार जब विचार से समन्वित या सम्पृक्त होता है तब जीवन में विवेक प्रकट होता है। सभी प्राणियों में मानव श्रेष्ठ है और सभी मानवों में ज्ञानी श्रेष्ठ हैं तथा सभी ज्ञानियों में आचारवान् श्रेष्ठ है। आचार मुक्तिमहल में प्रवेश करने का भव्य द्वार है।

जैन ग्रंथों में आचार शब्द को अनेक रूपों में परिभाषित किया है-

''आचाल्भ्यतेऽनेनातिनिविडं कर्मादीत्याचाल:'' अर्थात् जिसके द्वारा अतिसघन कर्मों को आचालित यानी प्रकम्पित किया जाता है वह आचाल अथवा आचार है।[123]

आचार्य हरिभद्र ने शिष्ट व्यक्तियों द्वारा आचीर्ण ज्ञान-दर्शन आदि के आचरण-अभ्यास की विधि को आचार कहा है।[124]

साधना की दृष्टि से सम्यक्दर्शन का स्थान पहला है। दर्शन के बिना ज्ञान, ज्ञान के बिना चारित्र और चारित्र के बिना मोक्ष प्राप्ति असंभव है। इसलिए आचारमीमांसा की पीठिका के रूप में सम्यक्दर्शन की विवेचना करणीय है-

सम्यक्दर्शन

प्रत्येक संसारी जीव दु:खी है और दु:खों से छुटकारा पाना चाहता है, पर उसे मोक्ष-मार्ग का ज्ञान न होने से वह दु:खों से मुक्त नहीं हो पाता है। समस्त जैन वाङ्मय में मोक्ष-मार्ग बतलाने का प्रयत्न किया गया है। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है- ''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष मार्ग:।''[125] ज्ञाताधर्मकथांग के आधार पर कहा जा सकता है कि शंका, कांक्षा या विचिकित्सा से रहित होकर तत्त्वों पर श्रद्धा करना, सम्यग्दर्शन है।[126] सम्यक्त्व के अभाव में जीव मोक्ष का वरण कर सकता है। मिथ्यात्व की चर्चा करते हुए ज्ञाताधर्मकथांग में कहा गया है कि नन्दमणिकार श्रेष्ठी, साधुओं के दर्शन न होने से, उनकी उपासना न करने से, उनका उपदेश न मिलने से और वीतराग के वचन सुनने की इच्छा न होने से सम्यक्त्व के पर्यायों की क्रमश: हीनता होती चली जाने से और मिथ्यात्व के पर्यायों की क्रमश: वृद्धि होते रहने से, मिथ्यात्वी हो गया।[127]

ज्ञाताधर्मकथांग में सम्यक्दर्शन अर्थात् तत्त्वों पर श्रद्धा से संबंधित अनेक प्रसंग आए हैं- अंडक नामक तीसरी कथा तो पूरी तरह सम्यक्दर्शन का बोध कराने वाली ही है। जिनदत्तपुत्र अपनी दृढ़ श्रद्धा के कारण ही मयूरी-बालक प्राप्त कर सका।[128] मेघकुमार ने अपने मेरूप्रभ (हाथी) के भव में प्राणानुकम्पा से संसार परिमित किया।[129] जितशत्रु राजा का अमात्य सुबुद्धि जीवाजीवादि तत्त्वों का ज्ञाता था, सम्यग्दृष्टि श्रमणोपासक था।[130] उसने राजा जितशत्रु को भी सम्यग्दर्शन का बोध कराकर श्रावक पद पर प्रतिष्ठित किया।[131] राजगृह नगर का नन्दमणिकार भी श्रमणोपासक था, कालान्तर में वह मिथ्यात्वी हो गया लेकिन मेंढ़क के भव में उसने पुन: सम्यक्त्व को प्राप्त किया और अपने भवभ्रमण को कम कर लिया।[132]

सम्यग्दर्शन पर आधारित आचार ही अपनी मंजिल यानी मोक्ष को प्राप्त

कर सकता है।

ज्ञाताधर्मकथांग में आचार

आचरण की अपेक्षा से धर्म के दो भेद हैं :- (अ) गृहस्थ धर्म (अगार धर्म), (ब) श्रमणधर्म (अनगार धर्म)। इन्हें दो आश्रम के रूप में स्वीकार किया जाता है। व्रतपालन के दृष्टिकोण से धर्म दो प्रकार का होता है- (अ) महाव्रत- गृहत्यागी मुनियों के लिए और (ब) अणुव्रत- संसारवर्ती गृहस्थों के लिए।

ज्ञाताधर्मकथांग में अगार और अनगार दोनों धर्मों का उल्लेख मिलता है। सागार अवस्था में श्रमणोपासक बनकर अगार धर्म का पालन और अनगार अवस्था में मुनिचर्या का पालनकर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए क्रमशः विभिन्न श्रावकों व मुनियों को देखा जा सकता है।

दोनों धर्मों का आचरण-मीमांसा के परिप्रेक्ष्य में विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है-

गृहस्थधर्म या श्रावकाचार

अगार धर्म की आराधना का आधार सम्यक्त्व सहित बारह व्रत हैं। अगार धर्म को देशविरति भी कहा गया है।[133] पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षा व्रत- इन बारह व्रतों को धारण कर श्रमणोपासक बनने के विभिन्न उदाहरण ज्ञाताधर्मकथांग में मिलते हैं।[134]

पाँच अणुव्रत

अणुव्रत का अर्थ है- छोटे-छोटे व्रत या नियम। श्रावक के व्रतों में मुनि की तरह पूर्ण त्याग की अपेक्षा अंश (देश) त्याग को महत्व दिया गया है। इसे एक देश संयम भी कहा जाता है।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह- ये पाँच अणुव्रत हैं, जिनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

(1) अहिंसाणुव्रत

अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए रागद्वेषपूर्वक किसी निरपराध जीव को मन-वचन-कर्म से पीड़ा पहुँचाना हिंसा है। इस प्रकार की हिंसा के स्थूल-त्याग को अहिंसाणुव्रत कहते हैं।

(2) सत्याणुव्रत

गृहस्थ के लिए झूठ का सर्वथा त्याग संभव नहीं है, अतः उसके लिए

स्थूल झूठ का त्याग करना ही श्रेयस्कर है। जिस झूठ से समाज में प्रतिष्ठा न रहे, प्रामाणिकता न रहे, प्रामाणिकता खण्डित होती हो, लोगों में अविश्वास उत्पन्न होता हो तथा राजदण्ड का भागी बनना पड़े, इस प्रकार के स्थूल झूठ का मन, वचन व काय से सर्वथा त्याग करना सत्याणुव्रत है।

(3) अचौर्याणुव्रत

अहिंसा के परिपालन के लिए चोरी का त्याग भी आवश्यक है। जिस वस्तु पर अपना स्वामित्व नहीं है, ऐसी किसी भी वस्तु को बिना अनुमति के ग्रहण करना चोरी है। वह मार्ग में पड़ी हुई, अधिक मूल्य वाली किसी भी वस्तु को ग्रहण नहीं करता। अचौर्याणुव्रती उपर्युक्त सभी प्रकार की चोरियों का परित्याग कर देता है।

(4) ब्रह्मचर्याणुव्रत

काम प्रवृत्ति के त्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं।

(5) परिग्रह-परिमाण व्रत

धन-धान्यादि बाह्य पदार्थों के प्रति ममत्व, मूर्च्छा या आसक्ति को परिग्रह कहते हैं। अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप धन-धान्यादि पदार्थों को सीमा में बांधकर उससे अधिक का त्याग करते हुए उनके प्रति ममत्व का विसर्जन करना परिग्रह-परिमाणव्रत है।

तत्त्वार्थसूत्र में- ''क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्ण धनधान्यदासीदासकुप्य प्रमाणतिक्रमाः''[135] कहकर परिग्रह-परिमाणव्रत के पाँच अतिचार बतलाए हैं।

तीन गुणव्रत

जिन व्रतों से अणुव्रतों का विकास होता है, उन्हें गुणव्रत कहते हैं। गुणव्रत तीन हैं- दिग्व्रत, भोगोपभोग परिमाण व्रत, अनर्थदण्ड विरमणव्रत।

(1) दिग्व्रत (दिशाव्रत)

जीवनपर्यन्त के लिए दसों दिशाओं में आने-जाने की मर्यादा बना लेना दिग्व्रत है। लोभ के शमन के लिए दिग्व्रत लिया जाता है। तत्त्वार्थ सूत्र में इसके पाँच अतिचार बतलाए गए हैं- ऊर्ध्व-व्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्-व्यतिक्रम, क्षेत्र वृद्धि, विस्मरण।[136]

(2) भोगोपभोग परिमाण व्रत

भोजन-पान आदि एक ही बार उपयोग में आने वाली वस्तु को भोग

कहते हैं तथा वस्त्राभूषण आदि बार-बार उपयोग में आने वाली सामग्री उपभोग कहलाती है।[137]

भोग-उपभोग के साधनों की जीवनपर्यन्त के लिए मर्यादा करना भोगोपभोग परिमाणव्रत कहलाता है।[138] दूसरे शब्दों में कहें तो इन वस्तुओं की अनन्तता को समाप्त कर व्यक्ति उनकी निश्चित मर्यादा स्थित कर ले, यही उपयोग-परिभोग परिमाणव्रत है।

उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत के पालन में कुछ दोष हो जाने की आशंका रहती है, अतः इनके प्रति श्रावक को जागरूक रहना चाहिए। ये दोष या अतिचार अग्रांकित हैं- सचित्ताहार, सचित्त प्रतिबद्धाहार, अपक्वाहार, दुष्पक्वाहार, तुच्छोषधिभक्षण।

(3) अनर्थदण्ड विरमणव्रत

इसके दो वाच्यार्थ हैं- निष्प्रयोजन हिंसा से दूर होना और अनर्थकारी पाप से दूर होना। एक श्रावक पर यह दायित्व आता है कि वह बिना प्रयोजन कोई गलत काम नहीं करे। प्रयोजनवश कोई उपाय आचरण करना पड़े तो उसमें भी उस प्रवृत्ति से अपना बचाव करे, जो किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के लिए अनिष्ट अथवा अहितकर हो।

चार शिक्षा व्रत

यहाँ 'शिक्षा' शब्द के लोक प्रचलित अर्थ के स्थान पर विशिष्ट अर्थ प्रकट हुआ है, यहाँ शिक्षा का अर्थ है, अभ्यास। वह क्रियाकलाप, जिसकी व्यक्ति द्वारा नित्यप्रति पुनरावृत्ति की जाती है, शिक्षा कहा गया है। शिक्षाव्रत चार हैं- सामायिकव्रत, देशावकाशिकव्रत, पौषधोपवासव्रत, अतिथि संविभागव्रत।

(1) सामायिकव्रत

आत्मा के गुणों का चिन्तन कर समता का अभ्यास करना सामायिक है। शब्द संरचना के अनुसार यह दो पदों- 'सम' और 'आय' का योग है। सम का अर्थ है- समता का भाव और आय का आशय है- लाभ या प्राप्ति। वास्तव में सामायिक ऐसी क्रिया है जिसके द्वारा कर्ता को समभाव का लाभ होता है। इसमें दोष या पापपूर्ण प्रकृति का त्याग एवं धर्ममय प्रवृत्तियों का आचरण होता है। अन्य व्रतों की भांति सामायिक के भी पाँच अतिचार हैं- मनोदुष्प्रणिधान,

वचनदुष्प्रणिधान, कायदुष्प्रणिधान, स्मृत्यकरण, अनवस्थितता।

(2) देशावकाशिकव्रत

इस व्रत में श्रावक प्रतिज्ञा करता है कि मैं अमुक सीमा-क्षेत्र-भूभाग से आगे बढ़कर कोई प्रवृत्ति नहीं करूंगा। जितने क्षेत्र की मर्यादा की जाती हे, कर्ता उसके बाहर नहीं जाता, किसी को उसके बाहर से बुलाता भी नहीं और न ही उस क्षेत्र के बाहर किसी को भेजता ही है। वह क्षेत्र के बाहर से लाई गई वस्तु का उपयोग भी नहीं करता। तात्पर्य यह है कि निर्धारित मर्यादा के बाहर वह किसी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं करता। इस व्रत के भी पाँच अतिचार हैं-

आनयन प्रयोग : मर्यादित क्षेत्र से बाहर की वस्तु मंगाना।

प्रेष्य प्रयोग : मर्यादित क्षेत्र से बाहर कोई वस्तु भेजना।

शब्दानुपात : जिस क्षेत्र में स्वयं न जाने का नियम ग्रहण किया हो, वहाँ संदेशादि शब्द-संकेतों के माध्यम से कार्य करना।

रूपानुपात : मर्यादित क्षेत्र के बाहर कोई वस्तु आदि भेजकर उसके माध्यम से काम करना।

पुद्गल-प्रेक्षप : मर्यादित क्षेत्र से बाहर के किसी व्यक्ति का ध्यान येनकेनप्रकारेण अपनी ओर आकर्षित करना।

(3) पौषधोपवपासव्रत

ज्ञाताधर्मकथांग में पौषध व पौषधशाला का उल्लेख कई बार आया है।[139] 'पौषध' का आशय है- धर्मस्थान में रहना अथवा धर्माचार्यों के संग रहना। पौषधोपवास का अर्थ है- धर्मस्थान में रहकर उपवास रखना। पौषण का एक अन्यार्थ- 'पोषण' भी है। पौषधव्रत द्वारा आत्मा को पोषण प्राप्त होता है। इस व्रत में काया को निराहार रखकर आत्मा का तृप्त करने की व्यवस्था है। श्रावक इस व्रत को ग्रहणकर धर्मस्थानों में धर्मगुरुओं के सान्निध्य में धर्मचिन्तन करता है, वह तत्त्व जिज्ञासा, स्वाध्याय आदि में व्यस्त रहता है। आहार के साथ-साथ हिंसक प्रवृत्तियों, कायिक शृंगार, अब्रह्मचर्य आदि का पूर्ण रूप से त्याग करते हुए श्रावक इस व्रत के अधीन श्रमण के समान आठ प्रहर साधनाशील रहता है। पौषधव्रत के पाँच अतिचार हैं-

अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित - पौषध हेतु उपयुक्त शय्या-

शय्यासंस्तारक		संस्तारक (बिछाने की वस्तु) का भली प्रकार से निरीक्षण न करना।
अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्यासंस्तारक	-	पौषध हेतु उपयुक्त शय्या-संस्तारक आदि का भली प्रकार साफ किए बिना या देखे बिना उपयोग करना।
अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित उच्चार-प्रस्रवण भूमि	-	मल-मूत्र त्यागने के स्थान का निरीक्षण न करना।
अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चार-प्रस्रवण भूमि	-	मल-मूत्र आदि त्यागने की भूमि को स्वच्छ किए बिना अथवा अच्छी तरह साफ किए बिना उपयोग करना।
पौषधोपवास-सम्यगननुपालनता	-	पौषधोपवास का सम्यक् रीति से पालन न करना।

ज्ञाताधर्मकथांग में अभयकुमार[140] व नन्दमणिकार[141] ने अष्टमभक्त उपवास पौषधयुक्त एवं अतिचार रहित किया।[142]

पौषध में देवता को नमस्कार या वार्ता नहीं करते। इसीलिए अभयकुमार ने पौषध पालकर (पूर्णकर) फिर अपने मित्र-देव से बातचीत की।[143]

(4) अतिथि संविभागव्रत

यह व्रत नि:स्वार्थ त्याग और सत्कारसेवा का प्रतीक है। श्रावक गृहस्थ ही होता है, जिसके यहाँ अतिथियों का आगमन स्वाभाविक ही है। श्रमणों का आगमन सहसा, आकस्मिक होता है या ये बिना पूर्व निश्चित तिथि के ही पहुँच जाते हैं- इसी कारण ये 'अतिथि' होते हैं। गृहस्थ अपने घर में अपने उपयोगार्थ या निमित्त जो भोजन बनाता है, उस भोजन का अतिथि (श्रमण) के आगमन पर संविभाग करता है अर्थात् कुछ हिस्सा श्रमण को दान करता है, इसे ही अतिथि संविभागव्रत कहते हैं। इस व्रत के पाँच अतिचार हैं-

सचित्त निक्षेप : अचित्त वस्तु (आहार) को सचित्त वस्तु पर रखना।

सचित्तपिधान : सचित्त वस्तु से ढककर रखना।

कालातिक्रम : समय पर दान न देना, असमय में दान के लिए कहना।

परव्यपदेश : दान न देने की भावना से अपनी वस्तु को पराई बता देना या पराई वस्तु को अपनी वस्तु बताकर देना।

मात्सर्य : ईर्ष्या व अहंकार की भावना से दान करना।

प्रत्येक श्रावक का यह कर्तव्य है कि वह पूरी जागरूकता के साथ उपर्युक्त अतिचारों से अपने आचरण को सुरक्षित रखकर अतिथिसंविभाग का पूर्णत: पालन करे। यह व्रत श्रावक के व्यवहार को मानवीयता, सदाशयता, त्याग और विनय के सद्गुणों से सज्जित कर देता है। श्रावक के द्वार से कोई निराश नहीं लौटना चाहिए। उसे सहायता के पात्र व्यक्ति की यथाशक्ति सहायता करनी चाहिए। जैन परम्परा में दान दो प्रकार के बताए गए हैं- अनुकंपादान और सुपात्रदान। भूखे-प्यासे दीन:दुखी को देखकर करुणा की अपेक्षित सहायता करता है, यह अनुकम्पादान कहलाता है। ज्ञाताधर्मकथांग में इस अनुकम्पादान से प्रेरित होकर राजा कुम्भ[144], नन्दमणिकार[145], तैतलिपुत्र[146] व सागरदत्त[147] द्वारा भोजनशालाएँ और दानशालाएँ बनाने का उल्लेख मिलता है।

साधु-साध्वियों को दिया जाने वाला दान सुपात्रदान कहलाता है। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि पोट्टिला[148] व सुकुमालिका[149] ने आर्याओं को आहार दान दिया। श्रमण को उचित आहार नहीं देने या अखाद्य आहार देने पर श्रावक का भव भ्रमण बढ़ जाता है।[150] पोट्टिला श्रमणोपासिका साधु-साध्वियों को चौदह प्रकार का दान देती थी[151]- (1) अशन (2) पान (3) खादिम (4) स्वादिम (5) वस्त्र (6) पात्र (7) कम्बल (8) पाद प्रोंछन (9) औषध (10) भेषज (11) पीढ़ा (12) पाटा (13) शय्या-उपाश्रय (14) संस्तारक।

ज्ञाताधर्मकथांग में उपर्युक्त बारह व्रतधारी अनेक श्रमणोपासकों का उल्लेख मिलता है जो निष्ठापूर्वक इन व्रतों का पालन करते थे। श्रमणोपासक श्रावक जीव-अजीव तत्त्वों के ज्ञाता होते हैं। अर्हन्नक श्रावक श्रावकत्व की कसौटी पर खरा उतरता है और अपने धर्म के प्रति गहरी श्रद्धा एवं श्रावकत्व में मजबूत रहने के कारण देवता को भी झुका लेता है।[152] सुबुद्धिनामक अमात्य ने भी अपने श्रावकत्व से राजा का मन जीत लिया[153] और उसे भी श्रमणोपासक बना दिया।[154]

इसके अलावा अर्हन्नक[155], सुदर्शन सेठ[156], राजा कुम्भ[157], राजा

अजितशत्रु[158], नन्दमणिकार[159], कुंभ राजा[160], राजा कनकध्वज[161] व राजा पुण्डरीक[162] आदि भी श्रमणोपासक थे।

स्त्रियाँ भी श्रमणोपासिका थीं। रानी प्रभावती[163], पोट्टिला[164] तथा सुकुमालिका[165] आदि श्रमणोपासिका श्राविकाएँ थीं। नन्दमणिकार के जीव मेंढ़क[166] द्वारा बारह व्रत धारण करने के प्रसंग के आधार पर कहा जा सकता है कि सन्नी तिर्यंच भी श्रमणोपासक हो सकता है।

अभिगम

श्रावक को धर्म स्थान में जाने से पूर्व जिन बातों का विवेक रखना चाहिए कि वे अभिगम है। ज्ञाताधर्मकथांग में पाँच प्रकार के अभिगमों का उल्लेख मिलता है। मेघकुमार[167] व कृष्ण वासुदेव[168] ने क्रमशः भगवान महावीर और अर्हत् अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ जाते समय पाँच अभिगमों का पालन किया। ये पाँच अभिगम इस प्रकार हैं-

(1) सचित्त का त्याग

जीवयुक्त अप्रासुक वस्तुएँ जो सचित्त हैं, उन्हें धर्म स्थान में नहीं ले जाना, जैसे- पुष्प, पान आदि।

(2) सचित्त विवेक

अहंकार सूचक वस्तुएँ- वस्त्र, अलंकार, छड़ी, बेल्ट, घड़ी, जूते, पगड़ी, छत्र आदि धर्म स्थान में नहीं ले जाना।

(3) उत्तरासंगधारण

एक दुपट्टा मुँह पर लगाना जिससे गुरुजनों आदि से बात करते समय अपना थूक आदि दूसरों पर न पड़ें और वायुकाय के जीवों की रक्षा भी हो जाए।

(4) दृष्टिवंदन

गुरु आदि श्रमणों पर दृष्टि पड़ते ही दोनों हाथ जोड़ना।

(5) मन को एकाग्र करना एवं विधिवत् वंदन

मन को एकाग्र करके विधिपूर्वक तीन बार प्रदक्षिणा- दक्षिण की ओर से आरम्भ करके वंदना नमस्कार करते हैं।

इन पाँच अभिगम और बारह व्रतों के अलावा श्रावक रात्रि भोजन एवं समस्त कुव्यसन- जुआ, माँस, शराब, चोरी, शिकार, परस्त्री/पुरुष, वेश्यागमन आदि का भी त्याग करता है। यद्यपि ज्ञाताधर्मकथांग में इन कुव्यसनों को श्रावक

के व्रतों में तो शामिल नहीं किया गया है लेकिन इनका सेवन करने के कारण विजय चोर[169] और चिलात दासचेटक[170] को अव्रती, अधर्मी, व्रतहीन और गुणहीन बतलाया गया है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि इन सप्त कुव्यसनों से दूर रहना श्रमणोपासक के लिए अनिवार्य था।

श्रमणाचार

जैसा कि कहा जाता है कि श्रमणाचार मोम के दाँतों से लोहे के चने चबाने के समान है। जैन धर्म में जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति बतलाया गया है। मोक्ष-मार्ग अत्यन्त दुष्कर है। इसके लिए मुमुक्षु को दीक्षा से लेकर मोक्ष-मंजिल तक पहुँचने के लिए कठोर श्रमणाचार का पालन करना होता है। ज्ञाताधर्मकथांग में श्रमणाचार के विविध अंग यत्र-तत्र मिलते हैं। इन सभी का शोधपरक समुचित सिंहावलोकन इस प्रकार है-

दीक्षा

संसार के विषयों से निरासक्त एवं मुक्ति का अभिलाषी प्रत्येक व्यक्ति जाति, कुल, आयु और लिंग के भेदभाव के बिना दीक्षा अंगीकार कर सकता है। संसार के विषय-भोगों में आसक्त व्यक्ति श्रेष्ठ जाति व कुल में उत्पन्न होकर भी इसके अयोग्य है जबकि सदाचार पालन करने की सामर्थ्यवाला प्रत्येक व्यक्ति जो संसार के विषयों से विरक्त होकर मुक्ति की अभिलाषा रखता है, दीक्षा लेने का अधिकारी है।

दीक्षा के लिए अनुमति

मेघकुमार आदि सभी मुमुक्षु दीक्षा लेने से पूर्व माता-पिता व सम्बन्धीजनों से अनुमति लेते हैं।[171] महाबल आदि छहों राजा, पाण्डव व महापुण्डरीक ने घर के ज्येष्ठ पुत्रादि को संपत्ति आदि सौंपकर दीक्षा ली।[172] यदि माता-पिता पुत्र को दीक्षा के लिए अनुमति न देकर भोग-विलास की ओर प्रशस्त करें तो दीक्षा लेने वाले का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है कि वह माता-पिता को समझाने का प्रयत्न करे और उनको संतुष्ट करने के पश्चात् ही दीक्षा ले।

ज्ञाताधर्मकथांग में एक भी व्यक्ति ऐसा दिखाई नहीं देता जिसने बिना आज्ञा दीक्षा ली हो। यह एक बहुत ही सुन्दर और सामाजिकता-आध्यात्मिकता के संबंध को पुष्ट करने वाली परम्परा रही है, जिसका पालन आज भी किया जा रहा है।

दीक्षार्थी की परीक्षा

दीक्षार्थी के अभिभावक उसके वैराग्य को कसौटी पर कसते और इस बात का पता लगाते कि कहीं उसका वैरागय हल्दी के रंग की तरह तो नहीं है जो कष्टों की जरा-सी धूप लगते ही उड़ जाय। इसके लिए दीक्षार्थी को पहले श्रणमधर्म की कठोरता बतलाई जाती। ज्ञाताधर्मकथांग में मेघकुमार[173] को उसके माता-पिता तथा थावच्चापुत्र को कृष्ण-वासुदेव[174] संयमी जीवन की कठिनाइयाँ बतलाकर उसके वैराग्य की उत्कृष्टता जाँचते हैं।

श्रमण जीवन की कठोरता बताने के पश्चात् मुमुक्षु को भौतिक प्रलोभन दिए जाते हैं। मेघकुमार[175] व थावच्चापुत्र[176] को अपनी नवविवाहित पत्नियों के साथ विपुल काम-भोग भोगने का प्रलोभन दिया गया।

मेघकुमार की माता धारिणी आँखों से आँसू बहाकर उसके वैराग्य के रंग को धुलाने का प्रयास करती है।[177]

कई बार माता-पिता या भाई दीक्षा की भावना रखने वाले को राजसिंहासन पर बिठाकर कहते हैं- 'तू राजा है, हम तेरी प्रजा हैं।'[178] शायद ऐसा करके वे देखना चाहते हैं कि सत्ता मोह से इसका वैराग्य डिगता है या नहीं?

इस प्रकार जब अभिभावकगण को यह विश्वास हो जाता है कि उसका वैराग्य उत्कृष्ट है तो वे उसे दीक्षा की अनुमति प्रदान कर देते हैं।

आलोच्य ग्रंथ के सांगोपांग अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि अभिभावक दीक्षार्थी का परीक्षण अवश्य करते थे, किन्तु कोई भी अभिभावक यह नहीं कहता कि दीक्षा लेना अनुचित है। इससे स्पष्ट है कि वे संयम की महत्ता से परिचित थे।

अभिनिष्कक्रमण महोत्सव व धर्म दलाली

जब साधक दीक्षा ग्रहण करना चाहता था तो वह गुपचुप दीक्षा नहीं लेता था अपितु व्यवस्थित रूप से अभिनिष्क्रमण महोत्सव मनाया जाता था। जब थावच्चापुत्र भगवान अरिष्टनेमि के पावन उपदेश को श्रवण कर दीक्षा लेना चाहता है तो उसकी माता वासुदेव कृष्ण के दरबार में उपस्थित होकर अभिनिष्क्रमण महोत्सव के लिए छत्र-चामर आदि की याचना करती है। श्रीकृष्ण थावच्चापुत्र के दृढ़ वैराग्य को जानकर आह्लादित होते हैं और स्वयं की देखरेख में दीक्षा महोत्सव का आयोजन करते हैं।[179]

इस प्रकार के महोत्सवों में जन-जन के हृदय की अपार श्रद्धा अभिव्यक्त होती है और लोगों को संयमपथ पर बढ़ने की प्रेरणा भी मिलती है।

वस्त्राभूषण-त्याग व केश लोच

ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि दीक्षित होने वाला साधक अपने वस्त्राभूषणों को त्यागकर अपने सिर पर दाढ़ी के बालों को मुट्ठियों से स्वयं ही उखाड़ता है[180], जिसे केश लोच या पंचमुष्टि लोच (पाँच मुट्ठियों से उखाड़ने के कारण) कहा जाता है।

मेघकुमार का मुण्डन पहले नापित करता है[181] फिर मेघकुमार स्वयं पंचमुष्टि लोच करता है।[182] इससे प्रश्न उठता है कि दो बार केश लोच की आवश्यकता क्यों हुई ?

शुक परिव्राजक द्वारा शिखा लोच[183] करने के प्रसंग के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि परिव्राजक एक शिखा को छोड़कर अन्य सारे नापित से कटवाते थे और प्रतीक-लुंचन के रूप में शिखा का लोच करते थे।

उपर्युक्त प्रक्रिया से गुजरने के पश्चात् साधक श्रमण जीवन में प्रवेश करता है और उसका आचरण श्रमणाचार कहा जाता है जिसका ज्ञाताधर्मकथांग के आलोक में निदर्शन इस प्रकार है-

बाह्य उपकरण या उपधि

ज्ञाताधर्मकथांग में साधु के बाह्य वेष व उपकरण आदि के विषय में जो संकेत मिलते हैं उनसे पता चलता है कि साधु दीक्षा लेते समय अपने घर से या गृहस्थ से पात्र एवं रजोहरण आदि उपकरण लाते थे। मेघकुमार की दीक्षा से पूर्व राजा श्रेणिक अपने कौटुम्बिक जनों को कुत्रिकापाण (वर्तमान समय के डिपार्टमेंटल स्टोर के समान) से दो लाख स्वर्ण मोहरें देकर पात्र एवं रजोहरण मंगवाता है।[184] इस स्थल पर वस्त्र या साधुओं के उपयोग में आने वाली अन्य वस्तु का कोई संकेत नहीं मिलता लेकिन स्थविरकल्पी मुनियों की विधि के अनुसार मेघकुमार ने वस्त्रों का उपयोग किया। एक अन्य प्रसंग में श्रमणोपासिका पोट्टिला द्वारा वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि चौदह प्रकार की वस्तुएँ साधु-साध्वियों को दान देने का उल्लेख भी मिलता है।[185]

वसति या उपाश्रय

ज्ञाताधर्मकथांग में साधु के ठहरने के स्थान को वसति या उपाश्रय कहा

गया है। ये उपाश्रय प्राय: नगर के बाहर उद्यान आदि के रूप में होते थे। सभी श्रमण सर्वप्रथम उपाश्रय की याचना करते और मालिक की आज्ञा मिलने पर ही वहाँ प्रवास करते थे। साधु किसी एक स्थान या उपाश्रय में स्थायी रूप से निवास नहीं करते थे अपितु उनके लिए वर्षाकाल को छोड़कर शेषकाल में एक ग्राम से दूसरे ग्राम में इन्द्रियनिग्रहपूर्वक विचरण करने का उल्लेख मिलता है।[186]

आहार

भोजन के बिना कोई भी कार्य करना संभव नहीं है क्योंकि भोजन से ही इन्द्रियाँ पुष्ट होकर देखने, सुनने और विचार करने का सामर्थ्य प्राप्त करती है। ज्ञाताधर्मकथांग में ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना के लिए आहार करना बताया है न कि शरीर को मोटा-ताजा करने के लिए।[187] भगवान महावीर ने मेघकुमार को प्रमाणयुक्त एवं क्षुधा वेदनादि निवारणार्थ भोजन करने की शिक्षा दी।[188]

स्थानांग[189], उत्तराध्ययन[190] एवं मूलाचार[191] में आहार ग्रहण और त्याग के छ:-छ: कारणों का उल्लेख मिलता है।

आहार-ग्रहण के छ: कारण

(1) क्षुधावेदना की शान्ति के लिए, (2) वैयावृत्य (सेवा) के लिए, (3) ईर्यासमिति के पालन हेतु, (4) संयम के लिए, (5) प्राण रक्षा के लिए, (6) धर्म चिन्तन के लिए। इन छ: कारणों से जो श्रमण अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य- ये चार प्रकार के आहार ग्रहण करता है वह चारित्र धर्म का पालन करने वाला है।

आहार-त्याग के छ: कारण

(1) भंयकर रोग हो जाने पर, (2) आकस्मिक संकट (उपसर्ग) आ जाने पर, (3) ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए, (4) जीवों की रक्षा के लिए, (5) तप करने के लिए, (6) संलेखना-संथारा करने के लिए। इन छ: कारणों में से किसी एक के भी उपस्थित होने पर आहार का त्याग कर देना चाहिए।

सुधर्मा स्वामी जम्बू को कहते हैं कि श्रमण को संयम पालने और मोक्ष प्राप्त करने के लिए आहार करना चाहिए, इन्द्रियासक्त होकर नहीं करना चाहिए।[192] कुण्डरीक सरस एवं पौष्टिक आहार करने के कारण इन्द्रियों में आसक्त होकर संयम से च्युत हो गया था।[193]

निर्ग्रन्थ श्रमणों को आधाकर्मी, औद्देशिक, क्रीतकृत, स्थापित, रचित,

दुर्भिक्षभक्त, कान्तारभक्त, वर्दलिका भक्त, ग्लानभक्त आदि दूषित आहार ग्रहण करना नहीं कल्पता है। इसी प्रकार मूल का भोजन, कंद का भोजन, फल का भोजन, शालि आदि बीजों का भोजन अथवा हरित का भोजन करना भी नहीं कल्पता है।[194]

साधु के लिए सामान्य रूप में दिन का तीसरा प्रहर भोजन-पान के लिए नियत किया गया है। श्रमण को मधुकर वृत्ति से थोड़ा-थोड़ा आहार सब घरों से लेना चाहिए।[195] ग्रहण किए गए आहार का भी प्रतिलेखन किया जाता था।[196] साधु के उपयोग में न आने वाली वस्तु यदि पात्र में आ जाए तो उसे एकान्त-आवागमन रहित उचित भूमि में परठने का विधान भी है।[197]

पाँच महाव्रत

श्रमण का हर क्रियाकलाप देशविरति से सर्वविरति की ओर बढ़ने की दिशा में केन्द्रित होता है। सर्वविरति अर्थात् सर्वत्याग के लिए वह महाव्रतों का पालन करता है। महाव्रत पाँच हैं- सर्वप्राणातिपात, सर्वमृषावाद, सर्वअदत्तादान, सर्वमैथुन, सर्वपरिग्रह से विरमण। इन पाँचों महाव्रतों का पूर्णतः त्याग तीन करण और तीन योग से किया जाता है। इस प्रकार के त्याग को नवकोटि- प्रत्याख्यान कहा जाता है क्योंकि इसमें हिंसा आदि करना, कराना और अनुमोदन करना रूप तीन करणों का मन, वचन और काय रूप तीन योगों से प्रतिषेध किया जाता है। इन महाव्रतों का ज्ञाताधर्मकथांग के विशेष परिप्रेक्ष्य में विवेचन अग्रांकित है-

(1) अहिंसा महाव्रत

किसी भी जीव को मन, वचन, काय से पीड़ा पहुँचाना हिंसा है। इस हिंसा का पूर्णतया परित्याग करना अहिंसा महाव्रत है।

पाँच महाव्रतों की स्थिरता के लिए पाँच-पाँच भावनाएँ हैं।[198] जैसे किसी बीज को धरती में बोने के बाद समय-समय पर उसे सींचना और खाद-पानी देते रहना अनिवार्य है तभी उन बीजों का सम्यक् पल्लवन होता है, उसी प्रकार गृहीत महाव्रतों की स्थिरता के लिए कुछ विशिष्ट प्रकार की भावनाएँ भायी जाती हैं। ये भावनाएँ साधक को उन तमाम भौतिक और मानसिक परिस्थितियों से बचाती हैं, जो व्रतों को मलिन बनाती हैं।

अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनाएँ

वचन गुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदान निक्षेपण समिति और आलोकित-

पान भोजन- ये अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

मुख से अच्छे बुरे किसी प्रकार के शब्द न बोलकर मौन रहना वचन गुप्ति है। मन को अशुभ भावों से बचाकर आत्महिकारी शुभ विचारों में लगाना मनोगुप्ति है। किसी जीव को क्लेश न हो इस प्रकार सावधानीपूर्वक चार हाथ आगे की भूमि देखकर चलना ईर्यासमिति है। अपने उपकरणों को उठाते-रखते समय अवलोकन व प्रमार्जन करके रखना और उठाना आदान-निक्षेपण समिति है। प्राकृतिक प्रकाश में भली-भांति देख-शोधकर खाना-पीना आलोकित-पान भोजन है।

(2) सत्य महाव्रत

असत्य वचन तथा दूसरों को संताप देने वाले सत्य वचन का त्याग करना सत्य महाव्रत है।

सत्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ- क्रोध त्याग, लोभ त्याग, भय त्याग, हास्य त्याग और अनुवीचि (निर्दोष वचन) भाषण हैं। क्रोध, लोभ, भय और हंसी मजाक में असत्य वचन की संभावना रहती है, अत: सत्य महाव्रत की रक्षा के लिए क्रोध, लोभ, भय और हास्य का त्यागकर निर्दोष वचन बोलना चाहिए।

ज्ञाताधर्मकथांग में सत्य महाव्रत का पालन अधिकतर मुनियों के द्वारा किया जाता है, लेकिन एक प्रसंग ऐसा भी आता है जिसमें शैलक राजर्षि क्रोध के वशीभूत होकर अपने शिष्य पंथकमुनि को भला-बुरा कहते हैं।[199] यह आचरण के प्रतिकूल ही कहा जाएगा।

(3) अचौर्य महाव्रत

बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करना चोरी है, इसके परिपूर्ण त्याग को अचौर्य महाव्रत कहते हैं।

अस्तेयव्रत की दृढ़ता एवं सुरक्षा के लिए पाँच भावनाएँ हैं- सोच-विचारकर वस्तु की याचना करना, आचार्य आदि की अनुमति से भोजन करना, परिमित पदार्थ स्वीकार करना, पुन:-पुन: पदार्थों की मर्यादा करना, साधर्मिक (साथी श्रमण) से परिमित वस्तुओं की याचना करना।[200]

(4) ब्रह्मचर्य महाव्रत

मैथुन कर्म को कुशील कहते हैं। इसका मन, वचन, काय से त्याग करना ब्रह्मचर्य महाव्रत है। साधु बाल, युवा एवं वृद्ध सभी प्रकार की नारियों से दूर रहते

हैं तथा साध्वियाँ सभी प्रकार के पुरुषों से दूर रहती है। इतना ही नहीं, वे किसी भी प्रकार के कामोत्तेजक अथवा इन्द्रियाकर्षक पदार्थ से अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ते।

ब्रह्मचर्य महाव्रत के पालन के लिए पाँच भावनाएँ निम्नोक्त हैं- स्त्रीकथा न करना, स्त्री के अंगों को अवलोकन न करना, पूर्वानुभूत काम-क्रीड़ा आदि का स्मरण न करना, मात्रा का अतिक्रमणकर भोजन न करना, स्त्री आदि से सम्बद्ध स्थान में न रहना।[201] जिस प्रकार श्रमण के लिए स्त्रीकथा आदि का निषेध है, उसी प्रकार श्रमणी के लिए पुरुषकथा आदि का निषेध है।

(5) अपरिग्रह महाव्रत

मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं। धन-धान्य, कुटुम्ब-परिवार और अपने शरीर के प्रति उत्पन्न आसक्ति परिग्रह है। इस परिग्रह का पूर्णतया त्याग करना अपरिग्रह महाव्रत है। संयम निर्वाह के लिए वह जो कुछ भी अल्पतम उपकरण अपने पास रखता है, उन पर भी उसका ममत्व नहीं होता।[202]

अपरिग्रह महाव्रत की पाँच भावनाएँ ये हैं- संसार में अनेक प्रकार के विषय हैं, उनमें से कुछ मनोज्ञ तथा कुछ अमनोज्ञ पदार्थ हैं। मनोज्ञ विषयों के प्राप्त होने पर राग बढ़ता है और अमनोज्ञ विषयों के मिलने पर द्वेष बढ़ता है। राग-द्वेष के कारण ही उनके संचय और त्याग की भावना आती है, अत: अपरिग्रह महाव्रत की रक्षा के लिए मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द इन्द्रियों के इन पाँचों विषयों में राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए, जिससे कि उनके ग्रहण और त्याग का विकल्प ही न बचे।[203]

रात्रिभोजन विरमणव्रत

दशवैकालिक के तीसरे अध्ययन में निर्ग्रन्थों के लिए औद्देशिक भोजन, क्रीत भोजन, आमंत्रण स्वीकार कर किया हुआ भोजन यावत् रात्रि भोजन का निषेध किया गया है।[204]

षड्जीवनिकाय नामक चतुर्थ अध्ययन में पाँच महाव्रतों के साथ रात्रि-भोजन विरमण का भी प्रतिपादन किया गया है एवं उसे छठा व्रत भी कहा गया है।[205] आचार-प्रणिधि नामक आठवें अध्ययन में स्पष्ट किया गया है कि रात्रि भोजन हिंसादि दोषों का जनक है। अत: निर्ग्रन्थ सूर्यास्त से लेकर सूर्योदय तक किसी प्रकार के आहारादि की इच्छा न करें।[206] इस प्रकार जैन आचार ग्रंथों में

सर्वविरति के लिए रात्रिभोजन का त्याग अनिवार्य मानते हैं।

अष्ट प्रवचन माता

पाँच समितियों और तीन गुप्तियाँ- ये आठ प्रवचन माता कहलाती है। ये माता की तरह मुनियों की प्रतिपालक हैं। उन्हें राग-द्वेष, आस्रव-बंध रूप संसार से बचाती हैं और चारित्र की रक्षाकर उन्हें मोक्ष-प्राप्ति में सक्षम बनाती हैं, अत: इन्हें अष्ट प्रवचनमाता कहते हैं।

पञ्च समितियाँ

समिति का तात्पर्य है सम्यक् प्रवृत्ति। आध्यात्मिक क्षेत्र में इसका अर्थ है- अनन्त ज्ञानादि स्वभाव वाली आत्मा में लीन होना, उसका चिन्तन करना।[207] सच्चा मुनि समिति के पालन में अन्तर्मुखी हो जाता है। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और उत्सर्ग- इन पाँच समितियों से उपर्युक्त पाँच महाव्रतों की रक्षा होती है।

(1) ईर्या समिति

किसी भी जीव-जन्तु को क्लेश न हो, इस प्रकार सावधानीपूर्वक चार हाथ आगे की भूमि देखकर चलना ईर्या समिति है। ज्ञाताधर्मकथांग में भगवान महावीर मेघकुमार को दीक्षा देने के बाद समिति-गुप्ति का ज्ञान करवाते हैं। भगवान महावीर मेघ को ईर्या समिति का बोध करवाते हुए कहते हैं कि पृथ्वी पर युगमात्र दृष्टि रखकर चलना, निर्जीव भूमि पर खड़ा होना आचार संगत है।[208]

(2) भाषा समिति

निन्दा व चापलूसी आदि दूषित भाषाओं को त्यागकर संयत, नपे-तुले, हितकारी वचन बोलना भाषा समिति है। ज्ञाताधर्मकथांग में भगवान महावीर मेघ को हित, मित और मधुर भाषा का प्रयोग करने का उपदेश देते हैं।[209]

(3) एषणा समिति

उद्‌गम, उत्पादन आदि आहार सम्बन्धी बयालीस दोषों से रहित प्रासूक अन्नादि का ग्रहण स्वाध्याय और ध्यान की सिद्धि के लिए करना 'एषणा' समिति है। मेघकुमार के माता-पिता मेघकुमार को संयम की कठिनाईयों का बोध करवाते हुए कहते हैं कि श्रमण को आधाकर्मी, औद्देशिक आदि दूषित आहार ग्रहण करना नही कल्पता है।[210] धर्मघोष स्थविर धर्मरूचि अनगार को प्रासूक और एषणीय अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ग्रहण करके उसका आहार करने के

लिए कहते हैं।[211]

(4) आदान निक्षेपण समिति

शास्त्र, पात्र, वस्त्र आदि उपकरणों को सावधानीपूर्वक परिर्माजन कर उठाना-रखना आदान-निक्षेपण समिति है।

(5) परिष्ठापना समिति

भली-भांति देखकर शुद्ध और निर्जन्तुक स्थान पर अपने मल-मूत्र तथा अन्य त्याज्य वस्तुओं एवं स्थंडिल भूमि की प्रतिलेखना-प्रमार्जना करना परिष्ठापन समिति है। धर्मघोष स्थविर ने धर्मरूचि अनगार को कहा कि वह नागश्री द्वारा बहराए गए तिक्त तुम्बे के शाक को एकान्त, आवागमन रहित, अचित्त भूमि में परठ दे।[212] धर्मरूचि अनगार ने स्थंडिल भूमि की प्रतिलेखना की।[213]

इन पाँचों समितियों का पालन करने से मुनि षट्कायिक जीवों की हिंसा से बच जाता है तथा संसार में रहता हुआ पापों से लिप्त नहीं हो पाता।[214]

तीन गुप्तियाँ

पाप क्रियाओं से आत्मा को बचाना गुप्ति है। मन को राग-द्वेष से अप्रभावित रखना मनोगुप्ति है। असत्य वाणी का निरोध करना अथवा मौन रहना वचन गुप्ति है। शरीर को वश में रखकर हिंसादि क्रियाओं से दूर रहना काय गुप्ति है। भगवान महावीर मेघकुमार को पुनः प्रव्रजित करने के पश्चात् उसे तीन गुप्तियों के पालन का उपदेश देते हैं।[215] सुव्रता नामक आर्या तीन गुप्तियों का पालन करती थी।[216]

पंचेन्द्रिय विजेता

ज्ञाताधर्मकथांग में भगवान महावीर मुनि मेघ को संयम में स्थिर करने के लिए कहते हैं कि हे मेघ! तुम इन्द्रियों का गोपन करना।[217] आलोच्य ग्रंथ में इन्द्रिय संयम को कुर्म के शरीर के गोपन के समान बताया है जो जीव अपनी इन्द्रियों को जीत लेता है, वह इस संसार-सागर को पार कर जाता है और यदि इस संसार-सागर में रहता है तो वह वंदनीय, पूजनीय.... देवस्वरूप एवं चैत्यस्वरूप तथा उपासनीय बनता है।[218] जो इन्द्रियों के विषयों-कामभोगों में लिप्त होता है उसका यह भव और परभव दोनों बिगड़ जाते हैं जैसे जिनरक्षित ने अपनी इन्द्रियों में आसक्त होकर दुर्लभ मानव जीवन को बर्बाद कर दिया।[219] लेकिन जिनपलिक ने इन्द्रिय संयम का परिचय देते हुए अपना जन्म-मरण सुधार लिया।[220] ज्ञाताधर्मकथांग में आकीर्ण घोड़ों के समान इन्द्रियों में आसक्त, गृद्ध,

मुग्ध होता है वह इस लोक में बहुत श्रमण-श्रमणियों, श्रावक-श्राविकाओं की अवहेलना का पात्र होता है[221] और जो निर्ग्रन्थ इनमें आसक्त नहीं होता वह इस संसार अटवी को पार कर जाता है, सुखी हो जाता है।[222]

स्पष्ट है कि इन्द्रियों और कषायों के वश में रहने वाला साधु निश्चित ही अपने संयम से भ्रष्ट हो जाता है। उसका ज्ञान, दर्शन और चारित्र निरर्थक हो जाता है। इन्द्रिय संयमी होना साधु का प्रधान लक्षण है अन्यथा वह संयम और आचार से पतित हो जाता है।

षडावश्यक

अवश्य करने योग्य क्रियाएँ आवश्यक कहलाती हैं। आवश्यक छः हैं:- सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा कायोत्सर्ग।

1. **सामायिक**- सम की आय करना अर्थात् समस्त प्राणियों के प्रति समता धारणकर आत्मकेन्द्रित होना सामायिक है। इसे समता भी कहते हैं।
2. **स्तुति**- चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का स्तवन करना स्तुति है।
3. **वन्दना**- अरिहन्त, सिद्ध एवं आचार्यादि को मन, वचन, काय से प्रणाम करना वंदना है।
4. **प्रतिक्रमण**- प्रतिक्रमण का अर्थ है- पुनः लौटना। अपनी मर्यादाओं का अतिक्रमण करके अपनी स्वभाव दशा से निकलकर विभाव दशा में चले जाने पर पुनः स्वभाव सीमाओं में प्रत्यागमन करना प्रतिक्रमण है- जो पाप मन, वचन और काया से स्वयं किए जाते हैं, दूसरों से करवाए जाते हैं और दूसरों के द्वारा किए हुए पापों का अनुमोदन किया जाता है, उन सभी पापों की निवृत्ति हेतु आलोचना करना, निन्दा करना प्रतिक्रमण है। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है- शुभ योगों से अशुभ योगों में गए हुए अपने आपको पुनः शुभ योगों में लौटा लाना प्रतिक्रमण है।[223]

   प्रतिक्रमण त्रैकालिक परिशुद्धि की विधि है। अतीत में लगे हुए दोषों की आलोचना तो प्रतिक्रमण में की जाती है। वर्तमान काल में साधक संवर साधना में लगे रहने से पापों से निवृत्त

रहता है। साथ ही प्रतिक्रमण में वह प्रत्याख्यान ग्रहण करता है जिससे भावी दोषों से भी बच जाता है। ज्ञाताधर्मकथांग में मुनि मेघकुमार[224], धन्य सार्थवाह[225], थावच्चापुत्र, पंथकमुनि शैलक[226], मल्लीभगवती[227], पोट्टिला[228], धर्मरूचि अणगार[229], धन्य[230], पाण्डव, द्रौपदी[231], पुण्डरीक[232] आदि संयम अंगीकार करने वाले सभी पात्र जब-जब दोष उत्पन्न होता है उस समय और जीवन के अंतिम समय में, व्रतों में हुई स्खलनाओं के लिए, आलोचना-प्रतिक्रमण करते हैं लेकिन सुकुमालिका व कालि आदि उपर्युक्त प्रसंग उपस्थित होने पर भी प्रतिक्रमण नहीं करती हैं।[223]

काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण के भेद[234]

काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण के पाँच प्रकार बताए गए हैं- दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक।[235]

क. **दैवसिक**- दिन के अंत में किए जाने वाला प्रतिक्रमण दैवसिक है।

ख. **रात्रिक**- रात्रि के अंत में किया जाने वाला प्रतिक्रमण। रात्रि में लगे हुए दोषों की आलोचना करना।

ग. **पाक्षिक**- पक्ष (पन्द्रह दिन) के अंत में पापों की आलोचना करना।

घ. **चातुर्मासिक**- चार माह के पश्चात् कार्तिकी पूर्णिमा, फाल्गुनी पूर्णिमा, आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन चार माह में लगे हुए दोषों की आलोचना करना।

ड. **सांवत्सरिक**- आषाढ़ी पूर्णिमा के 49वें या 50वें दिन वर्ष भर में लगे दोषों का प्रतिक्रमण करना। यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि जब हम प्रतिदिन प्रातः-सायं नियमित प्रतिक्रमण करते हैं तो फिर पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण की क्या आवश्यकता है ? समाधान है- प्रतिदिन मकान की सफाई करते हैं तथा पर्व आदि अवसरों पर विशेष रूप से सफाई की जाती है। वैसे ही प्रतिदिन प्रतिक्रमण में अतिचारों की आलोचना की जाती है किन्तु पर्व के दिनों में विशेष रूप से जागरूक रहकर जीवन का निरीक्षण-परीक्षण और पापों का प्रक्षालन किया जाना आवश्यक है।

5. **कायोत्सर्ग**- शरीर के ममत्व को त्यागकर पंच परमेष्ठियों का स्मरण

अथवा आत्मस्वरूप में लीन होना कायोत्सर्ग है।

6. **प्रत्याख्यान**- भविष्य में लग सकने वाले दोषों से बचने के लिए अयोग्य वस्तुओं का त्याग करना प्रत्याख्यान है। अविरति और असंयम के प्रतिकूल रूप में मर्यादा स्वरूप आगार के साथ प्रतिज्ञा ग्रहण करना प्रत्याख्यान है।[236]

ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि दर्दुर ने अपने पूर्व जन्म का स्मरण करते हुए भगवान महावीर के समीप समस्त प्राणातिपात, परिग्रह और चार प्रकार के आहारों का पूर्ण प्रत्याख्यान किया।[237]

दस प्रत्याख्यान

भगवती सूत्र, स्थानांग वृत्ति, आवश्यक निर्युक्ति और मूलाचार में दस प्रत्याख्यानों[238] का वर्णन इस प्रकार मिलता है:-

(1) अनागत

पर्युषण आदि पर्व में जो तप करना चाहिए वह तप पहले कर लेना जिससे कि पर्व के समय वृद्ध, रूग्ण, तपस्वी आदि की सेवा सहज रूप से की जा सके।

(2) अतिक्रान्त

जो तप पर्व के दिनों में करना चाहिए वह तप पूर्व के दिना में सेवा आदि का प्रसंग उपस्थित होने से न कर सकें तो उसे अपर्व के दिनों में करना चाहिए।

(3) कोटि सहित

जो तप पूर्व में चल रहा हो उस तप को बिना पूर्ण किए ही अगला तप प्रारम्भ कर देना, जैसे- उपवास का बिना पारणा किए ही अगला तप प्रारम्भ करना।

(4) नियंत्रित

जिस दिन प्रत्याख्यान करने का विचार हो उस दिन रोग आदि विशेष बाधाएँ उपस्थित हो जाएँ तो भी उन बाधाओं की परवाह किए बिना जो मन में प्रत्याख्यान करने का लक्ष्य धारण किया है तद्नुसार प्रत्याख्यान कर लेना।

(5) सागार

प्रत्याख्यान करते समय मन में विशेष आगार कि अमुक प्रकार का कोई कारण विशेष उपस्थित हो जाएगा तो मैं उसका आगार रखता हूँ- इस प्रकार मन

में अपवाद की कल्पना करके जो त्याग किया जाता है, वह सागार प्रत्याख्यान है।

(6) निरागार

यह प्रत्याख्यान बिना किसी प्रकार के अपवाद की छूट रखे किया जाता है। निरागार प्रत्याख्यान में दृढ़ मनोबल की अपेक्षा होती है।

(7) परिमाणकृत

श्रमण भिक्षा के लिए जाते समय या आहार ग्रहण करते समय यह प्रतिज्ञा ग्रहण करता है कि मैं आज इतना ही ग्रास ग्रहण करूंगा या भोजन लेने के लिए गृहस्थ के यहाँ पर जाते समय मन में यह विचार करना कि अमुक प्रकार का आहार प्राप्त होगा तो ही मैं ग्रहण करूंगा, जैसे- भिक्षु प्रतिमाधारी श्रमण दत्ति आदि की मर्यादा करके ही आहार लेते हैं।

(8) निरवशेष

असन, पान, खादिम और स्वादिम- चारों प्रकार के आहार का पूर्ण रूप से परित्याग करना।

(9) सांकेतिक

जो प्रत्याख्यान संकेतपूर्वक किया जाता है, जैसे- मुट्ठी बाँधकर, किसी वस्त्र में गाँठ लगाकर- जब तक में मुट्ठी या गाँठ नहीं खोलूंगा तब तक कुछ भी वस्तु मुँह में नहीं डालूंगा। इस प्रकार यह प्रत्याख्यान सांकेतिक है। इसमें साधक अपनी सुविधा के अनुसार प्रत्याख्यान करता है। वर्तमान में अंगूठी के प्रत्याख्यान या नमो अरिहंताणं बोलकर खाना आदि प्रत्याख्यान इसी के अंतर्गत हैं।

(10) अद्धा

समय विशेष की निश्चित मर्यादा के अनुसार प्रत्याख्यान करना। इस प्रत्याख्यान के नवकारसी, पोरसी, पूर्वार्द्ध, एकासन, एकस्थान, आयंबिल (आचाम्ल), उपवास, दिवसचरिम, अभिग्रह, निर्विकृतिक- ये दस प्रत्याख्यान अद्धा के अंतर्गत आते हैं। 'अद्धा' का अर्थ 'काल' है।

प्रत्याख्यान में आत्मा मन, वचन और काया की दुष्ट प्रवृत्तियों को रोककर शुभ प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होती है। आस्रव के निरून्धन होने से साधक पूर्ण निस्पृह हो जाता है और अमुक पदार्थों का परित्याग करता है। जो पदार्थ वह ग्रहण करता है उनमें भी आसक्त नहीं होता। इस कारण उसमें विशेष गुण समुत्पन्न होते हैं।

ये षडावश्यक मुनियों द्वारा नित्य किए जाते हैं।

बाईस परीषह

परीषह का तात्पर्य है- जो सहे जाएं। कर्मों की संवर और निर्जरा प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करने के लिए परीषहों को मुनि अपने सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र के आधार पर सहन करता है। इन परीषहों को सहन करने से साधक सांसारिक भोगों से निरासक्त बनता जाता है और साधनावस्था में मनुष्यकृत, तिर्यञ्चकृत अथवा देवकृत उपसर्गों को सहन करने का उसका सामर्थ्य भी बढ़ता जाता है।

ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेख मिलता है कि मेघकुमार को उसके दीक्षा प्रसंग पर शुभकामनाएँ देते हुए जनसमुदाय कहता है- परीषह रूपी सेना का हनन करके, परीषहों और उपसर्गों से निर्भय होकर शाश्वत एवं अचल परमपद रूप मोक्ष को प्राप्त करो।[239] परीषहों की संख्या बाईस बताई गई है[240]- 1. क्षुधा, 2. पिपासा, 3. शीत, 4. उष्ण, 5. दंशमशक, 6. अचेल, 7. अरति, 8. स्त्री, 9. चर्या, 10. निषधा, 11. शय्या, 12. आक्रोश, 13. बध, 14. याचना, 15. अलाभ, 16. रोग, 17. तृण-स्पर्श, 18. मल, 19. सत्कार-पुरस्कार, 20. प्रज्ञा, 21. अज्ञान, 22. अदर्शन।

साधु इन सभी प्रकार के परीषहों को शान्ति और धैर्य से सहन करता है। उसे एक साथ अधिकतम उन्नीस परीषह सहन करने पड़ते हैं। शीत और उष्ण में से कोई एक तथा शय्या, चर्या और निषधा में से कोई एक परीषह होता है। देशकाल आदि के भेद से इन परीषहों की संख्या और भी अधिक हो सकती है। ज्ञानावरण के सद्भाव में प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते हैं। चारित्रमोह के सद्भाव में अचेल, अरति, स्त्री, निषधा, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार परीषह होते हैं।

अट्ठारह पापस्थान

जिस अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा अशुभ कर्म (पाप) का बंधन होता है, उपचार से उस अशुभ प्रवृत्ति को पाप कह दिया जाता है।

ज्ञाताधर्मकथांग में मेघमुनि अपने जीवन के अंतिम समय में अट्ठारह पापस्थानों का प्रत्याख्यान करते हैं, ये अट्ठारह पापस्थान[241] हैं-

1. प्राणातिपात, 2. मृषावाद, 3. अदत्तादान, 4. मैथुन, 5. परिग्रह, 6.

क्रोध, 7. मान, 8. माया, 9. लोभ, 10. राग, 11. द्वेष, 12. कलह, 13. अभ्याख्यान, 14. पैशुन्य, 15. परपरिवाद, 16. रति-अरति, 17. मायामृषा, 18. मिथ्यादर्शनशल्य।

साधु को इन अट्ठारह पापस्थानों का सेवन नहीं करना चाहिए, इनसे बचकर रहना चाहिए।

बारह भिक्षु प्रतिमाओं (विशिष्ट प्रतिज्ञाएँ) की साधना

बारह भिक्षु प्रतिमाएँ साधु-जीवन में निराहार, अल्पाहार, स्वावलंबन और स्वाश्रयत्व सिद्ध करने तथा आत्मशक्ति बढ़ाकर कर्मक्षय हेतु पुरुषार्थ करने की प्रतिज्ञाएँ हैं।

ज्ञाताधर्मकथांग में मुनि मेघकुमार[242] और महाबल आदि सातों मुनियों[243] ने भिक्षु प्रतिमाओं को न केवल धारण किया अपितु निर्विघ्न रूप से उनका पालन भी किया। थावच्चामुनि भी सुदर्शन को अणगार का स्वरूप बतलाते हुए भिक्षु प्रतिमाओं का उल्लेख करते हैं।[244]

ये बारह भिक्षु प्रतिमाएँ इस प्रकार हैं-

प्रथम प्रतिमा

एक दत्ति अन्न की और एक दत्ति पानी की लेना। इसकी अवधि एक माह की होती है।

द्वितीय प्रतिमा से सप्तम प्रतिमा तक

द्वितीय प्रतिमा में दो दत्ति आहार की और दो दत्ति पानी की, इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी और सातवीं प्रतिमा में क्रमशः तीन, चार, पाँच, छः और सात दत्ति अन्न की और उतनी ही पानी की ग्रहण करना।

इनमें से प्रत्येक प्रतिमा का समय एक मास का है।

आठवीं प्रतिमा

यह सात अहोरात्रि की होती है। इनमें एकान्तर चौविहार उपवास करना तथा गाँव के बाहर उत्तानासन (आकाश की ओर मुँह करके लेटना), पार्श्वासन (एक करवट से लेटना) या निषधासन (पैरों को बराबर करके बैठना) से ध्यान लगाना एवं उपसर्ग आए तो शान्तचित्त से सहना आदि प्रक्रियाएँ हैं।

नौवीं प्रतिमा

यह प्रतिमा भी सात अहोरात्रि की होती है। इसमें चौविहार बेले-बेले पारणा करना, ग्राम से बाहर एकान्त स्थान में दण्डासन, लगुडासन अथवा

उत्कटुकासन से ध्यान करना आदि प्रक्रियाएँ हैं।

दसवीं प्रतिमा

यह प्रतिमा भी सात अहोरात्र की होती है। इसमें चौविहार तेले-तेले पारणा करना, ग्राम के बाहर गोदुहासन, वीरासन या आम्रकुब्जासन से ध्यान करना आदि प्रक्रियाएँ हैं।

ग्यारहवीं प्रतिमा

यह प्रतिमा एक अहोरात्रि यानी आठ प्रहर की होती है। चौविहार बेले के द्वारा इसकी आराधना होती है। इसमें नगर के बाहर दोनों हाथों को घुटनों की ओर लम्बे करके दण्डायमान रूप में खड़े होकर कायोत्सर्ग किया जाता है।

बारहवीं प्रतिमा

यह प्रतिमा एक रात्रि की होती है। इसकी आराधना केवल एक रात की है। इसमें चौविहार तेला करके गाँव के बाहर निर्जन स्थान में खड़े होकर मस्तक को थोड़ा-सा झुकाकर किसी एक पुद्गल पर दृष्टि रखकर निर्निमेय दृष्टि से निश्चलतापूर्वक कार्योत्सर्ग किया जाता है। उपसर्गों के आने पर समभाव से सहन किया जाता है।

प्रतिलेखन/प्रमार्जना

वस्त्र-पात्र आदि को अच्छी तरह से खोलकर चारों ओर से देखना, प्रतिलेखना कहलाती है और रजोहरण आदि के द्वारा अच्छी तरह साफ करना प्रमार्जना है। प्रतिलेखना और प्रमार्जना दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं। पहले प्रतिलेखना होती है और बाद में प्रमार्जना।

ओघनिर्युक्ति के अनुसार शरीर, उपाश्रय, उपकरण, स्थंडिल-मल-मूत्र विजर्सन की भूमि, अवस्तंभ (सहारा) और मार्ग ये प्रतिलेखनीय हैं।[245]

ज्ञाताधर्मकथांग में अभयकुमार[246] द्वारा अष्टमभक्त तप ग्रहण करने से पूर्व प्रमार्जन-प्रतिलेखन करने का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार मुनि मेघ[247] तथा थावच्चापुत्र अनगार[248] ने संलेखना धारण करने से पूर्व पृथ्वी शिलापट्टक आदि का प्रतिलेखन किया।

प्रतिलेखन की विधि का वर्णन करते हुए उत्तराध्ययन सूत्र[249] में लिखा है- उकडू आसन से बैठकर वस्त्र को भूमि से ऊँचा रखकर प्रतिलेखन करना, वस्त्र को दृढ़ता से स्थिर रखना, उपयोगयुक्त होकर जल्दी न करते हुए प्रतिलेखन

करना, वस्त्र के तीन भाग करके उसे दोनों ओर से अच्छी तरह देखना, देखने के बाद यतना से धीरे-धीरे झड़कना, झड़कने के बाद वस्त्रादि पर लगे हुए जीव को यतना से प्रमार्जित कर हाथ से लेना और एकान्त में परिष्ठापन करना।

ब्रह्मचर्य की नववाड़[250]

जिस प्रकार किसान अपने बोए हुए खेत की रक्षा के लिए उसके चारों ओर बाड़ लगता है, वैसे ही आचार्य या ब्रह्मचारी पुरुष धर्म के बीज रूप ब्रह्मचर्य की रक्षा करने के लिए नौ प्रकार की बाड़ (गुप्ति) लगाते हैं यानी नौ प्रकार की ब्रह्मचर्य गुप्तियों से अपने ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखते हैं। ये नौ ब्रह्मचर्य-गुप्तियाँ इस प्रकार हैं-

1. विविक्त शय्यासन- स्त्री, पशु, नपुसंक रहित विविक्त स्थान, 2. मनोरम स्त्री कथा वर्जन, 3. स्त्रियों का अतिसंसर्ग वर्जन, 4. स्त्रियों के अंगोपांग निरीक्षण वर्जन, 5. स्त्रियों के कामवर्धक शब्द-गीत स्मरण वर्जन, 6. पूर्वभुक्त कामभोगों के स्मरण का निषेध, 7. कामोत्तेजक भोजन-पान वर्जन, 8. अत्यधिक भोजन-पान वर्जन, 9. स्नान-शृंगार वर्जन।

साधु इन नववाड़ों के संरक्षण में दृढ़ता से निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। अब्रह्मचर्य को अधर्म का मूल, महादोषों का स्रोत समझकर मन से भी पास में नहीं आने देते।

तीन शल्य

जो काँटे की तरह अन्दर ही अन्दर चुभता है उसे शल्य कहते हैं। मनोविज्ञान की भाषा में मनुष्य की आन्तरिक कुण्ठा और ग्रन्थियों को शल्य कह सकते हैं। शल्य तीन प्रकार का होता है- मायाशल्य, मिथ्याशल्य, निदानशल्य।

1. माया शल्य

आत्मवंचना पूर्वक तपश्चरण या व्रताचरण करना माया शल्य है। ज्ञाताधर्मकथांग में महाबल मुनि ने तपश्चरण में माया का सेवन किया जिससे उनको स्त्री पर्याय का बंध हुआ।[251]

2. मिथ्या शल्य

सम्यग्दर्शन से विरहित धार्मिक प्रवृत्ति मिथ्याशल्य है। ज्ञाताधर्मकथांग में नन्दमणियार अपने सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर मिथ्यात्व को प्राप्त हो गया और उसी के अनुरूप आचरण करने लगा।[252]

3. निदान शल्य

भावी भोगों की आकांक्षा से व्रताचरण या तपश्चरण करना और उसमें ही दत्तचित्त रहना निदानशल्य है। ज्ञाताधर्मकथांग में सुकुमालिका आर्या ने अपने तप, नियम और ब्रह्मचर्य के फल के रूप में पाँच पतियों का निदान किया।[253]

ज्ञाताधर्मकथांग में मेघमुनि ने इन तीनों शल्यों से रहित होकर समाधिमरण का वरण किया।[254]

शल्य मनुष्य के मन में आकुलता, तनाव और कुण्ठा उत्पन्न करता है। नि:शल्य व्यक्ति का ही व्रताचरण यथार्थ होता है, अत: इन तीनों शल्यों से रहित होकर ही व्रताचरण करना चाहिए- ''निशल्यो व्रती'' (तत्त्वार्थसूत्र 7/18), यही व्रती का लक्षण है।

तप

इच्छा के निरोध को तप कहते हैं। ऐहिक आकांक्षाओं से ऊपर उठकर कर्मक्षय के लिए देह, इन्द्रिय विषयों की प्रवृत्ति और मन को रोककर उन्हें तपाना तप है। तप वही है जिसमें विषयों का निग्रह हो।

तप के भेद

तप के बारह भेद हैं। अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रस परित्याग, काया क्लेश, प्रतिसंलीनता- ये छ: बाह्य तप हैं। बाह्य द्रव्यों के आलम्बनपूर्वक होने तथा बाहर प्रत्यक्ष दिखने के कारण इन्हें बाह्य तप कहते हैं। प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग- ये छ: भेद आभ्यन्तर तप के हैं। मनोनिग्रह से सम्बन्ध होने के कारण इन्हें आभ्यन्तर तप कहते हैं। बाह्य तप भी आभ्यन्तर तप की अभिवृद्धि के उद्देश्य से ही किए जाते हैं। आभ्यन्तर तप साध्य हैं, बाह्य तप उनके साधक हैं।

I. बाह्य तप

बाह्य तप छ: प्रकार का होता है। बाह्य तप सामान्यतया शरीर की बाह्य क्रिया से सम्बद्ध होता है। वस्तुत: बाह्य का उद्देश्य आभ्यन्तर तप के सम्यक् पालन हेतु परिस्थिति उत्पन्न करना है। सर्वप्रथम मुनि अपनी बाह्य शारीरिक क्रियाओं को संयमित करता है, तत्पश्चात् वह अपने आभ्यन्तर को संयमित एवं परिशुद्ध करने का प्रयत्न करता है।

1. अनशन तप

अनशन का तात्पर्य है, आहार ग्रहण न करना। यह अल्पकालिक एवं दीर्घकालिक अथवा सावधिक और निरवधिक दो प्रकार का होता है।

(i) सावधिक तप

इस तप में एक निश्चित समय के बाद भोजन ग्रहण कर लिया जाता है। साधारणत: इसके छ: प्रकार बतलाए गए हैं:-

(क) श्रेणी तप

इस तप के अंतर्गत उपवास इस क्रम में रखा जाता है कि उसकी एक श्रेणी बन जाए अर्थात् दो, तीन, चार दिनों का क्रमिक उपवास।

(ख) प्रतर तप

श्रेणी तप की आवृत्ति को प्रतर तप कहते हैं। यथा- 1,2,3,4-2,3,4,1-3,4,1,2-4,1,2,3=4×4=16 कोष्ठक में अंक आवे ऐसा तप।

(ग) घन तप

श्रेणी तप और प्रतर तप के गुणक को घन तप कहते हैं अर्थात् 16×4=64 कोष्ठक में अंक आवे, ऐसा तप।

(घ) वर्ग तप

जब घन तप घन तप से ही गुणित हो जाता है, तो उसके परिणाम को वर्ग तप कहते हैं अर्थात् 64×64=4096 कोष्ठकों में अंक आवे, ऐसा तप।

(ड़) वर्ग-वर्ग तप

वर्ग तप के वर्ग को वर्ग-वर्ग तप कहते हैं अर्थात् 4096×4096=1677216 कोष्ठकों में अंक आवे, ऐसा तप।

(च) प्रकीर्ण तप

जब साधक बिना किसी उपवास संख्या को ध्यान में रखकर अपनी शक्ति के अनुसार व्रत रखता है, तो उसे प्रकीर्ण तप कहा जाता है। इसके कनकावती आदि अनेक प्रकार हैं।

(ii) निरवधिक/मरणकाल तप

इस तप को निरवकांक्ष या स्थायी तप भी कहा जाता है। इसमें साधक किसी भी प्रकार के आहार की आकांक्षा नहीं रखता है। यह तप साधारणत: मृत्युकाल के निकट आने पर शरीर त्याग होने तक किया जाता है। शारीरिक

क्रिया के आधार पर मरणकाल अनशन तप के दो भेद हैं-

सविचार- इस तप में शरीर हिल-डुल सकता है।

अविचार- यह तप किसी भी प्रकार की शारीरिक चेष्टा से रहित होता है।

मरणकाल अनशन तप के निम्नलिखित प्रकार भी उत्तराध्ययन सूत्र[255] में मिलते हैं-

(i) **सपरिकर्म** - इस तप में साधक दूसरों द्वारा सेवा करा सकता है।

(ii) **अपरिकर्म** - इसमें किसी भी प्रकार की सेवा नहीं की जा सकती है।

(iii) **निर्हारी** - यह तप ग्राम-नगर आदि में किया जाता है। इसमें मृत्यु के पश्चात् शव को बाहर निकालना होता है।

(iv) **अनिर्हारी** - यह तप स्थान से संबंधित है अर्थात् पर्वत, गुफाओं एवं कन्दराओं में किए जाने वाले मरणकाल तप को निर्हारी कहा जाता है। इसमें मृत्यु के पश्चात् शव को हटाना नहीं पड़ता।

ज्ञाताधर्मकथांग में मेघमुनि द्वारा उपवास, बेला, तेला, चोला, पंचोला, ... अर्द्धमासखमण, मासखमण[256] तथा गुणरत्न संवत्सर तप[257] तथा महाबल आदि सातों अनगारों द्वारा क्षुल्लक सिंह निष्क्रीड़ित[258], लघुसिंहनिष्क्रीड़ित-तप[259] और महासिंह निष्क्रीड़ित तप[260] करने का उल्लेख मिलता है।

2. ऊणोदरी तप

भूख से कम खाना, ऊणोदरी तप है। अधिक खाने से मस्तिष्क पर रक्त का दबाव बढ़ जाता है। परिणामत: स्फूर्ति कम हो जाती है और नींद आने लगती है। इसके अतिरिक्त अधिक खाने से वायुविकार आदि अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं। ऊनोदरी तप बहुत उपयोगी है। इससे ब्रह्मचर्य की सिद्धि भी होती है तथा यह निद्रा विजय का साधन है। इसे अवमौदर्य भी कहते हैं। इसके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्यवचरक की दृष्टि से पाँच भेद हैं।

ज्ञाताधर्मकथांग में मुनि शैलक[261] रूखा-सूखा आहार एवं सहज रूप से जितना मिलता है उतना ही आहार करते हुए देखे जा सकते हैं।[262]

3. भिक्षाचर्या तप

भिक्षा द्वारा प्राप्त वस्तु से ही जीवन-यापन करना भिक्षाचर्या तप है।[263] ज्ञाताधर्मकथांग में मधुकर वृत्ति से थोड़ा-थोड़ा आहार सब घरों से लेना बताया

है।[264]

4. रस-परित्याग तप

स्वाद रहित आहार ग्रहण करना ही रस-परित्याग तप है। रस का अर्थ है प्रीति बढ़ाने वाला, जो भोजन में रूचि पैदा करता है अर्थात् उसमें आसक्ति के भाव पैदा करता है। घी, दूध, दही, तेल, मीठा और नमक- इन छः प्रकार के रसों के संयोग से भोजन स्वादिष्ट होता है तथा अधिक खाया जाता है। इनके अभाव में भोजन नीरस हो जाता है। इन्द्रिय विजय के लिए इनमें से किसी एक, दो या सभी रसों का त्याग करना रस परित्याग तप है।

ज्ञाताधर्मकथांग में महाबल आदि राजा[265] विभिन्न प्रकार के तप करते हुए रस परित्याग अर्थात् पाँच विगयों का त्याग करते हुए देखे जाते हैं।

5. कायक्लेश तप

यह तप शारीरिक निश्चलता एवं अप्रमत्ता प्राप्त करने में सहायक होता है। इस तप के लिए उग्र अर्थात् कठिन आसनों का अभ्यास किया जाता है, जिससे आत्मसुख की प्राप्ति होती है।

ज्ञाताधर्मकथांग में मेघमुनि[266] विभिन्न प्रकार के आसनों से इन्द्रिय विजयी/आत्मनिष्ठ होने में सहायक होते हुए देखे जाते हैं।

6. प्रतिसंलीनता/विविक्त शय्यासन

ब्रह्मचर्य, ध्यान, स्वाध्याय आदि की सिद्धि के लिए एकान्त स्थान पर शयन करना तथा आसन लगाना एवं अपनी इन्द्रियों का निग्रह करना ही प्रतिसंलीनता तप है।

ये छहों तप बाह्य वस्तु की अपेक्षा के कारण तथा दूसरों द्वारा प्रत्यक्ष होने के कारण बाह्य तप कहलाते हैं।

ज्ञाताधर्मकथांग में इन सभी प्रकार के तपों को अनेक पात्रों के द्वारा आसेवित करते हुए एवं अपने लक्ष्य तक पहुँचते हुए देखा जाता है।

II. आभ्यन्तर तप

छः प्रकार के आभ्यन्तर तप बताए गए हैं-

1. प्रायश्चित तप

स्वयं द्वारा सम्पादित कार्यों तथा आचारगत दोषों की परिशुद्धि के लिए

पश्चाताप करना ही प्रायश्चित तप है। ज्ञाताधर्मकथांग में मुनि मेघकुमार भगवान महावीर के समक्ष प्रायश्चित करते हुए देखे जाते हैं। वे संयम की प्रथम रात्रि में संयम से विचलित हो जाते हैं और भगवान महावीर के समझाने पर संयम-स्थिर हो जाते हैं और आत्मग्लानि से अभिभूत होकर भगवान महावीर के समक्ष प्रायश्चित करते हैं।[267] इससे अपराधों का शोधन हो जाता है।

2. विनय तप

गुरु आदि के प्रति विनम्रता का व्यवहार करना विनय तप है। इसके चार भेद हैं- (1) ज्ञान विनय (ज्ञान-ग्रहण, अभ्यास और स्मरण), (2) दर्शन विनय (जिनोपदेश में नि:शंक होना), (3) चारित्र विनय (उपदेश के प्रति आदर प्रकट करना), (4) उपचार विनय (आचार्य को वन्दनादि करना)। गुरु के समक्ष खड़े होना, हाथ जोड़कर नमस्कार करना, आसन देना, गुरु के प्रति भक्ति रखना तथा हृदय से गुरु की सेवा करना आदि 'उपचार विनय' तप के प्रकार है। मुनि मेघकुमार[268] एवं मुनि पंथक[269] आदि अनेक साधक इस तप में लीन देखे जाते हैं।

3. वैयावृत्य तप

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैख्य, ग्लान, गण, कुल, संघ-साधु आदि पर यदि किसी प्रकार की व्याधि या परीषह आए तो उनकी अग्लान भाव से सेवा शुश्रूषा करना वैयावृत्य तप है। ज्ञाताधर्मकथांग में मुनि पंथक द्वारा अपने गुरु शैलक की अग्लान भाव से सेवा करके उनकी मनोवृत्ति को पुन: संयम में स्थिर करने का उल्लेख मिलता है।[270]

4. स्वाध्याय तप

ज्ञानार्जन हेतु शास्त्र आदि का अध्ययन करना स्वाध्याय तप है। इससे मनुष्य के ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है। यह तप पाँच प्रकार का होता है[271]-

(i) वाचना

वाचना का तात्पर्य अध्ययन एवं अध्यापन से है। वाचना से जीव के कर्मों की निर्जरा होती है।

(ii) पृच्छना

पूर्व पठित शास्त्र के सम्बन्ध में शंका निवृत्ति के लिए गुरु से प्रश्न पूछना तथा सूत्र और अर्थ में उत्पन्न संशय को दूर करना पृच्छना है।

(iii) परिवर्तना

पठित पाठ को अनेक बार दुहराना, जिससे पाठ स्थिर होता है एवं पाठक को एक-एक शब्द के समानार्थी अनेक शब्दों का ज्ञान होता है।

(iv) अनुप्रेक्षा

सूत्रार्थ का चिन्तन एवं मनन करना अनुप्रेक्षा तप है।

(v) धर्मकथा

प्राप्त ज्ञान को प्रवचन द्वारा व्यक्त करना धर्मकथा है।

5. ध्यान तप

चित्त की एकाग्रता ही ध्यान तप है। गमन, भोजन, शयन और अध्ययन आदि विभिन्न क्रियाओं में भटकने वाली चित्तवृत्ति को एक क्रिया में रोक देना 'निरोध' है और यही निरोध ध्यान कहलाता है। ध्यान के चार भेद हैं-

(i) आर्त्तध्यान

संयोग-वियोग, अनिष्ट एवं सांसारिक क्लेशों का मनन करना आर्त्तध्यान है। ज्ञाताधर्मकथांग में धारिणी अपने पुत्र से दीक्षा की बात सुनकर आर्त्तध्यान में लीन हो जाती है।[272]

(ii) रौद्रध्यान

हिंसा से सम्बन्धित विचारों का ध्यान रौद्रध्यान है।

(iii) धर्मध्यान

एकाग्र होकर स्वाध्याय करना तथा धर्म का चिन्तन करना ही धर्मध्यान है।

(iv) शुक्लध्यान

शुद्ध आत्म-तत्त्व का ध्यान करना शुक्लध्यान है।

6. व्युत्सर्ग/कायोत्सर्ग

व्युत्सर्ग का अर्थ है- त्याग। वह दो प्रकार का है- बाह्य और आभ्यन्तर। शयन करने, बैठने, खड़े होने में व्यर्थ की शारीरिक चेष्टाओं का त्यागकर शरीर को स्थिर करना बाह्य व्युत्सर्ग तप है और क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व आदि आभ्यन्तर दोषों की निवृत्ति आभ्यन्तर व्युत्सर्ग है। इसे कार्योत्सर्ग नाम से भी अभिहित किया जाता है। शरीर को स्थिर रखकर ध्यान में लीन होने से साधक अतीत और वर्तमान के प्रायश्चित योग्य अतिचारों का विशोधन करता है।

संलेखना/समाधिमरण

यह एक विशिष्ट तप है, जिसमें शरीर, कषाय व आहार को उत्तरोत्तर कृश किया जाता है। शरीर, कषाय आदि के यथाविधि कृशीकरण का नाम ही संलेखना है। जब उपसर्ग, रोग और दुर्बलता के कारण शरीर धार्मिक क्रियाएँ करने में असमर्थ हो जाता है तो साधक शान्ति एवं दृढ़तापूर्वक शरीर के संरक्षण का भाव छोड़ देता है। आहार के साथ लौकिक और पारलौकिक कामनाओं को छोड़कर आत्मसाक्षात्कार की ओर गतिमान होता है।

ज्ञाताधर्मकथांग में आए लगभग सभी साधकों ने मृत्यु समीप जानकर अनशन स्वीकार कर लिया। मेघमुनि[273], धन्यसार्थवाह[274], थावच्चापुत्र अनगार[275], शुक अनगार[276], महाबल आदि सातों अनगार[277], पोट्टिला[278] व धर्मरूचि अनगार[279] आदि ने शुद्ध भावना और उत्साह के साथ संलेखना-संथारापूर्वक मृत्यु का वरण कर लिया।

इसी प्रकार उपसर्ग को निकट जानकर अर्हन्नक श्रावक ने सागारी संथारा स्वीकार किया।[280] मेढक (नन्दमणियार का जीव) ने अपना अंतिम समय समीप जानकर समाधिमरण का वरण किया।[281]

संलेखना के अतिचार

संलेखना व्रत के पाँच अतिचार कहे हैं-

1. इहलोकाशंसा प्रयोग

इस लोक में कुछ पद आदि पाने की अभिलाषा से संलेखना करना।

2. परलोकाशंसा प्रयोग

परलोक में कुछ पद आदि पाने की अभिलाषा से संलेखना करना।

3. जीविताशंसा प्रयोग

संलेखना में प्रवृत्त होने पर लोगों के द्वारा पूजा, सत्कार से आकृष्ट होकर जीने की अभिलाषा करना।

4. मरणाशंसा प्रयोग

दु:खी होने पर जल्दी मरने की कामना करना।

5. कामभोगशंसा प्रयोग

भावी जीवन में किन्हीं भौतिक उपलब्धियों को प्राप्त करने का निश्चय

करना।

इन अतिचारों का परित्याग करके अशुभ संसार परिभ्रमण, जन्म-मरणादि स्वरूप दुःखमय संसार का चिन्तन करना चाहिए।

समाधिमरण अनशन के प्रकार

(i) भक्त प्रत्याख्यान

जिस समाधिमरण में साधक स्वयं शरीर की सार-संभाल करता है और दूसरों की भी सेवा स्वीकार कर सकता है, वह भक्तप्रत्याख्यान कहलाता है।

(ii) इंगित करण

इसे स्वीकार करने वाला स्वयं तो शरीर की सेवा करता है किन्तु किसी अन्य की सहायता अंगीकार नहीं करता। भक्तप्रत्याख्यान की अपेक्षा इसमें अधिक साहस और धैर्य की आवश्यकता होती है।

(iii) पदोपगमन समाधिमरण

यह साधना की चरम सीमा की कसौटी है। इसमें शरीर की सार-संभाल न स्वयं के द्वारा की जाती है और न दूसरों के द्वारा कराई जाती है। इसे अंगीकार करने वाला साधक समस्त शारीरिक चेष्टाओं का परित्याग करके पादप-वृक्ष की कटी हुई शाखा के समान निश्चेष्ट, निश्चल, निस्पंद हो जाता है। अत्यन्त धैर्यशाली, सहनशील और साहसी साधक ही इस समाधिमरण को स्वीकार करते हैं।

समाधिमरण साधनामय जीवन की चरम और परम परिणति है, साधना के भव्य प्रासाद पर स्वर्ण-कलश आरोपित करने के समान है। जीवन-पर्यन्त आन्तरिक शत्रुओं के साथ किए गए संग्राम में अंतिम रूप से विजय प्राप्त करने का महान् अभियान है। इस अभियान के समय वीर साधक मृत्यु के भय से सर्वथा मुक्त हो जाता है। मेघ अणगार तथा थावच्चापुत्र अणगार ने इसी प्रकार के समाधिमरण का वरण किया।[282]

अनुप्रेक्षा/भावना

अनुप्रेक्षा का तात्पर्य है- बारम्बर चिन्तन करना। चिन्तन करने के लिए साधक के समक्ष ऐसे बारह विषय रखे गए हैं जिन पर उसे सदैव विचार करते रहना चाहिए।[283] वैराग्य की स्थिरता के लिए इन पर चिन्तन करते रहना नितान्त

आवश्यक है।

बहिर्भाव से अन्तर्भाव में रमण करना ही अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा में मानव जीव और जगत् के सम्बन्ध में गहराई से चिन्तन-मनन करता है। अनुप्रेक्षा के अर्थ में ही जैन आगम साहित्य में भावना शब्द व्यवहृत हुआ है।

वैराग्य को उद्बुद्ध करने वाली जितनी भावनाएँ हैं, उन सभी का समावेश वैराग्य भावना में होता है। वैरागय का वर्णन आगम साहित्य में सर्वत्र मुखरित हुआ है। इन भावनाओं के चिन्तन से वैराग्य भावना परिपुष्ट होती है और उसकी प्रेरणा प्राप्त होती है। आचार्यों ने वैराग्य भावना के बारह प्रकार बताए हैं, वे इस प्रकार हैं-

1. अनित्य भावना

संसार के पदार्थ अनित्य और क्षणभंगुर हैं, अत: उनके वियोग में दु:खी होना व्यर्थ है- ऐसा चिन्तन करना, अनित्य भावना है। ज्ञाताधर्मकथांग में मेघकुमार जब अपने माता-पिता से दीक्षा की अनुमति मांगते हैं और माता-पिता उन्हें संसार के सुखों को भोगने के लिए प्रेरित करते हैं तब मेघकुमार यही कहते हैं कि संसार के पदार्थ अनित्य हैं, अशाश्वत हैं, क्षणभंगुर हैं, अध्रुव हैं, पानी के बुलबुले के समान हैं, अत: आगे का पीछे अवश्य ही त्याग करने योग्य है। मेघकुमार ऐसा बार-बार अनुचिन्तन करता हुआ उन्हें समझाने का प्रयास करता है।[284]

2. अशरण भावना

संसार के दु:खों से बचाने वाला कोई नहीं। मात्र वीतरागी द्वारा प्ररूपित धर्म ही शरण है- इस प्रकार का विचार करना, अशरण भावना है। इससे सांसारिक भावों से ममत्व हट जाता है।

ज्ञातार्धकथांग में धर्मघोष स्थविर अपने प्रवचन में इसी भावना, 'जिनशासन के सिवाय अन्यत्र कोई संसार सागर से पार लगाने वाला नहीं है', का उपदेश देते हैं।[285] कृष्णवासुदेव के यह कहने पर कि तुम दीक्षा न लेकर मेरी भुजाओं की छाया के नीचे रहकर मनुष्य सम्बन्धी कामभागों को भोगों तब थावच्चापुत्र कहते हैं कि यदि आप मेरे जीवन का अंत करने वाले मरण को रोक दें और शरीर के रूप-सौन्दर्य का विनाश करने वाली जरा को रोक सकें, तो मैं आपकी भुजाओं के नीचे रहकर मनुष्य सम्बन्धी विपुल काम-भोग भोगता हुआ विचरूँ- इस प्रकार कहने पर कृष्ण वासुदेव ने थावच्चापुत्र से कहा- हे देवानुप्रिय! मरण और

जरा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता, तब थावच्चापुत्र कहते हैं कि संसार के दुःखों से बचाने वाला धर्म के अलावा कोई नहीं है। सच्चा शरणभूत धर्म ही है और थावच्चापुत्र उसी की शरण को ग्रहण करता है।[286]

3. संसार भावना

कर्मों के कारण जन्म-जन्मान्तर ग्रहण करना संसार है। यह जीव अनन्तानन्त योनियों में परिभ्रमण करता हुआ सहस्रों दुःख पाता है। इस संसार में न तो कोई स्वजन है और न कोई परजन, क्योंकि प्रत्येक जीव के साथ तरह-तरह के सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर में हुए हैं। यह संसार हर्ष-विषाद, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों का स्थान है और सचमुच कष्टमय है- इस प्रकार का गहन चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है।

ज्ञाताधर्मकथांग में इस भावना को मुनि मेघकुमार[287] एवं मल्लिभगवती और उनसे प्रतिबोध पाए छहों राजाओं[288] ने भाया था। मल्लीकुमारी ने अपने पिछले भव का वृत्तान्त सुनाकर उन्हें ब्याहने आए छः राजाओं को प्रतिबोध दिया और उन्हें भी जाति स्मरण ज्ञान हो गया। उन्होंने भी संसार की विषमताओं का चिन्तन किया और मुक्त हुए।[289]

5. एकत्व भावना

आत्मा के अकेलेपन का चिन्तन करना एकत्व अनुप्रेक्षा है। बन्धुजन श्मशान तक के ही साथी होते हैं। धर्म ही एकमात्र शाश्वत साथी है।

ज्ञाताधर्मकथांग में तैतलिपुत्र का जब कोई भी आदर-सत्कार नहीं करते तब वह आत्महत्या करने का प्रयत्न करता है लेकिन जैसे ही पोट्टिला देव प्रतिबोध देते हैं तो उसे जाति स्मरण ज्ञान हो जाता है और वह मन ही मन चिन्तन करता है कि इस संसार में अपना कोई नहीं है, अपना तो आधार केवल एक धर्म ही है।[290]

5. अन्यत्व भावना

शरीर से आत्मा के अन्यत्व का चिन्तन करना अन्यत्व अनुप्रेक्षा है। इसकी प्राप्ति के लिए शरीर और आत्मा की भिन्नता पर चिन्तन करना।

ज्ञाताधर्मकथांग में धन्यसार्थवाह और विजयचोर के वृत्तान्त के माध्यम से आचार्य सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामी को आत्मा और शरीर की भिन्नता को बताते हुए अन्यत्व भावना की ओर प्रेरित करते हुए देखे जाते हैं।[291]

6. अशुचि भावना

शरीर की अपवित्रता का चिन्तन करना अशुचि भावना है। शरीर का आदिकारण वीर्य और रज है, जो स्वयं अत्यन्त अपवित्र है। शरीर मल-मूत्र, रक्त, पीप आदि का भण्डार है। इस प्रकार शरीर की अशुचिता पर चिन्तन करना।

ज्ञाताधर्मकथांग में मेघकुमार अपने माता-पिता के समक्ष इस भावना को प्रकट करते हुए कहते हैं कि शरीर अशुचिमय है। इसमें वमन-पित्त-कफ-शुक्र-शोणित झरता है, मल-मूत्र और पीव से परिपूर्ण है। यह पहले या पीछे अवश्य त्याग करने योग्य है।

माणुस्सगा कामभोगा असुईअसासया वंतासवा पित्तासवा खेलासवा सुक्कासवा सोणियासवा दुरुस्सासनीसासा दुरुयमुत्त-पुरीस-पूय बहुपडिपुन्ना उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-वंत-पित्त-सुक्क सोणितसंभवा अधुवा अणियया असासया सडण-पडण-विद्वंसणधम्मा पच्छ्छापुरं च णं अवस्सविप्पजहणिज्जा।[292]

ज्ञाताधर्मकथांग में मल्ली ने जितशत्रु आदि राजाओं को भी इस अनुप्रेक्षा के द्वारा मार्गदर्शन दिया। मल्ली ने कहा यह औदारिक शरीर तो कफ को झराने वाला है, खराब उच्छ्वास और निश्वास निकालने वाला है, अमनोज्ञ मूत्र एवं दुर्गन्धित मल से परिपूर्ण है, सड़ना, गलना, नष्ट होना और विध्वस्त होना इसका स्वभाव है, तो इसका परिणमन कैसा होगा?

ओरालियसरीरस्स खेलासवस्स वंतासवस्स पित्तासवस्स सुक्कसोणिय-पूयासवस्स दुरूवऊसास-नीसासस्स दुरूव-मूत्तपूतिय-पुरीसपुणास्स सडण-पडण-छेयण-विद्वंसणधम्मस्स केरिसए परिणामे भविस्सई।[293]

7. आस्रव भावना

कर्मों का आना आस्रव है। आस्रव के दोषों का विचार करना आस्रवानुप्रेक्षा है अर्थात् आस्रव के अनिष्ट परिणामों का चिन्तन करना आस्रव अनुप्रेक्षा है।

8. संवर भावना

कर्मों के आगमन के कारणों को बन्द कर देना संवर है। यह आत्मनिग्रह से ही हो सकता है। आस्रव के द्वारों को बन्द करने के लिए सद्वृत्ति के गुणों का चिन्तन करना संवर भावना है।

9. निर्जरा भावना

आंशिक रूप से कर्मों का खिरना (आत्मा से अलग होना) निर्जरा कहलाती

है अर्थात् वेदना के विपाक को निर्जरा कहते हैं। नवीन कर्मों का संचय न होना और पुराने कर्मों का नाश हो जाना मोक्ष का कारण है। निर्जरा से ही ये दोनों कारण प्राप्त होते हैं। परीषहजय, तप आदि से निर्जरा होती है। इसके चिन्तन से चित्त निर्जरा के लिए तत्पर हो जाता है।

10. लोक भावना

लोक के स्वरूप पर चिन्तन करना लोक भावना है।

11. बोधिदुर्लभ भावना

आत्मज्ञान अथवा सम्यक्त्व को बोधि-बीज कहा जाता है। इस बोधि-बीज की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। यह जीव अनन्तकाल तक अनेक योनियों में मिथ्यात्व रूप गहन अंधकार में पड़ा रहा है। जब अनन्त पुण्य राशि का उदय होता है, तब वह निगोद अवस्था से निकलकर क्रमशः निरन्तर बेइन्द्रिय से यावत् नवग्रैवेयक तक भी पहुँचता है, लेकिन सम्यक्त्व के अभाव में सब क्रियाएँ उसी तरह निरर्थक है, जैसे अंक के बिना शून्य। बोधि-बीज या सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर ही रत्नत्रय की आराधना हो सकती है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार बोधि-बीज की दुर्लभता का चिन्तन करना बोधिदुर्लभ भावना है।

12. धर्म भावना

यथार्थ धर्म के स्वरूप पर चिन्तन करना और उसकी प्राप्ति कैसे की जाए, इसका बार-बार विचार करना धर्म भावना है। जिनधर्म निःश्रेयस का कारण है, ऐसा विचार करने से धर्म के प्रति अनुराग बढ़ता है।

ज्ञाताधर्मकथांग में धर्मरूचि अणगार ने इस धर्म भावना की आराधना की। नागश्री ब्राह्मणी ने धर्मरूचि अनगार को कड़वे तुम्बे का शाक बहराया था। वह आहार लेकर जब अपने गुरु के पास आए और उन्हें वह आहार बताया तो गुरुजी ने उसे विषाक्त (विषैला) जानकर निरवद्य स्थान पर परठाने की आज्ञा दी। धर्मरूचि अनगार ने स्थंडिल भू-भाग में उस शाक की एक बूँद पृथ्वी पर डाली। उसी समय अनेक चींटियाँ वहाँ आ गई और शाक खाकर मर गई। धर्मरूचि अनगार से यह नहीं देखा गया। उन्होंने अपने पेट को सर्वोत्तम निरवद्य जगह मानकर वह आहार कर लिया। उससे सारे शरीर में वेदना उत्पन्न हो गई। मुनिराज जीवरक्षा के लिए उस वेदना को समभाव से सहते रहे। इस प्रकार वे धर्मभावना भाते हुए सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुए। वे अगले भव में कर्मों का अंत

करके मोक्ष में जाएँगे।[294]

इन बारह भावनाओं में से एक-एक भावना का अवलम्बन लेने से भी अनेक आत्माओं का कल्याण हुआ है। अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन से मन एकाग्र होता है और इन्द्रियाँ वश में होती हैं। मन के एकाग्र होने से स्व संवेदन के द्वारा आत्मा की अनुभूति होती है। उसी आत्मानुभूति के द्वारा जीव-मुक्त दशा और अंत में परम मुक्ति प्राप्त होती है।

दर्शन के तीन आधारभूत अंगों की मीमांसा के बाद कर्म-मीमांसा का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है-

ज्ञाताधर्मकथांग में कर्ममीमांसा

प्राणी की अपनी शुभ और अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट पुद्गल स्कंध (कर्मवर्गणा), जो आत्मा के साथ एकीभूत हो जाता है, कर्म कहलाता है। कर्म के आठ प्रकार बतलाए गए हैं-

ज्ञानावरणीय कर्म- आत्मा की ज्ञान चेतना को आवृत्त करने वाला।

दर्शनावरणीय कर्म- आत्मा की दर्शन चेतना को आवृत्त करने वाला।

वेदनीय कर्म- सुख-दुःख की अनुभूति में हेतुभूत बनने वाला।

मोहनीय कर्म- चेतना को विकृत या मूर्च्छित करने वाला।

आयुष्य कर्म- किसी एक गति में निश्चित अवधि तक बांधकर रखने वाला।

नाम कर्म- शरीर-संरचना की प्रकृष्टता या निकृष्टता का कारण।

गोत्र कर्म- जीव को अच्छी या बुरी दृष्टि से देखे जाने के निमित्त बनने वाला।

अन्तराय कर्म- आत्म-शक्ति की उपलब्धि में बाधा पहुँचाने वाला।

इन कर्मों में से चार कर्म अघाति तथा शेष चार घातिकर्म कहलाते हैं। ज्ञाताधर्मकथांग में कहा गया है कि मल्ली अरहन्त वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र- इन चार अघातिकर्मों के क्षीण होने पर सिद्ध हुए।[295] शेष चार ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अंतरायकर्म घाति कर्म है। तैतलिपुत्र को इन घाति कर्मों का क्षय होने पर ही केवलज्ञान तथा केवलदर्शन की प्राप्ति हुई।[296]

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म

जन्म के साथ मरण का अटूट रिश्ता है। विज्ञान आज भी मृत्यु पर विजय नहीं पा सका है। जन्म लेने के बाद मृत्यु अवश्यंभावी है, उसको कोई भी टाल

नहीं सकता (केवल सिद्धावस्था के जीवों को छोड़कर)। प्रश्न उठता है कि क्या मृत्यु के बाद जीवन है और मृत्यु के पूर्व जीवन था? इसका समाधान ज्ञाताधर्मकथांग के विभिन्न प्रसंगों में मिलता है। ज्ञाताधर्मकथांग में कहा गया है कि कर्म से युक्त आत्मा संसार में भव-भ्रमण करती रहती है और कर्ममुक्त आत्मा सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाती है, भव अटवी की परम्परा से मुक्त हो जाती है।[297] ज्ञाताधर्मकथांग के कई उदाहरण पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की पुष्टि करने वाले हैं-

सुमेरप्रभ हाथी- मेरूप्रभ हाथी-राजकुमार मेघ-अनुत्तर विमान का देव-मनुष्य जन्म-सिद्धावस्था।[298]

धन्यसार्थवाह- सौधर्म देवलोक में देव-मनुष्य भव-सिद्धावस्था।[299]

महाबल- मल्लीभगवती-सिद्धावस्था।[300]

नन्दमणिकार- दर्दुर-दर्दुरदेव।[301]

नागश्री- सुकुमालिका-द्रौपदी-द्रुपददेव-मनुष्य का जन्म।[302]

काली- कालीदेवी-महाविदेह में जन्म-सिद्धत्व की प्राप्ति।[303]

यह सारा भवभ्रमण कर्म-बंध के कारण होता है, जब कर्म दलिकों का नाश होता है तो आत्मा हल्की होकर ऊर्ध्व स्थान अर्थात् मुक्तावस्था को प्राप्त हो जाती है और उसे पुनर्जन्म से सदा-सदा के लिए मुक्ति मिल जाती है। ज्ञाताधर्मकथांग में इस बात को तुम्बे के उदाहरण से समझाया गया है। जीव रूपी तुम्बा 8 कर्म रूपी मिट्टी के आठ लेपों से भारी बन संसार रूपी जलाशय में डूबता है। कर्म लेप के दूर होने पर ऊर्ध्व गति में जाता है।

जैनेत्तर धर्म-दर्शन

ज्ञाताधर्मकथांग में जैनेत्तर धर्म-दर्शन के रूप में सांख्य मत के कतिपय सिद्धान्तों का निदर्शन शुक परिव्राजक[304] तथा चोक्खा परिव्राजिका[305] नामक चरित्रों के इर्द-गिर्द ही मिलता है।

शुक परिव्राजक ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्थवेद तथा षष्टितन्त्र (सांख्य शास्त्र) में निष्णात था। यह पांच यमों (अहिंसा आदि पांच महाव्रत) तथा पाँच नियमों (शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर ध्यान) का पालन करता था।

सांख्य मतानुसार धर्म का मूल शौच है, जो दो प्रकार का होता है- द्रव्य शौच और भाव शौच। द्रव्य शौच जल और मिट्टी से होता है जबकि भाव शौच

दर्भ और मंत्र से होता है- जिस प्रकार अशुचि वस्तु को मिट्टी से मांजकर तथा जल से धोकर शुचि किया जा सकता है ठीक उसी प्रकार जीव भी जल-स्नान से अपनी आत्मा को पवित्र करके निर्विघ्न रूप से स्वर्ग प्राप्त करता है।

परिव्राजक दानधर्म, शौचधर्म और तीर्थस्थान का उपदेश और प्ररूपण करते थे। इनके प्रवास स्थल को मठ कहा जाता था।

सांख्य मत के परिव्राजक व परिव्राजिकाएँ गेरू से रंगे हुए वस्त्र धारण करते थे। त्रिदण्ड, कुण्डिया (कमंडलु), मयूरपिच्छ का छत्र, छन्नालिक (काष्ठ का एक उपकरण), अंकुश (वृक्ष के पत्ते तोड़ने का एक उपकरण), पवित्री (ताम्र धातु की बनी अंगूठी) और केसरी (प्रमार्जन करने का वस्त्र), ये सात उपकरण उनके हाथ में रहते थे।

चार वेदों का उल्लेख तथा होम करवाने[306] का संदर्भ वैदिक धर्म की उपस्थिति मात्र दर्ज करवाता है। इस संदर्भ में अन्य किसी प्रकार का विवेचन नहीं मिलता है।

उपर्युक्त अन्वेषणात्मक विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि सम्यक्दर्शन परिकल्पना है, सम्यक्ज्ञान प्रयोग विधि है और सम्यक्चारित्र प्रयोग है। तीनों के संयोग से सत्य का पूर्ण साक्षात्कार होता है। ज्ञान का सार आचरण है और आचरण का सार निर्वाण की उपलब्धि है।

संदर्भ-

1. सप्तभंगगीतरंगिणी, पृ. 2
2. ज्ञाताधर्मकथांग 1/5/47
3. वही 1/5/48
4. तत्त्वार्थ सूत्र- 5/29
5. वही 5/37
6. ज्ञाताधर्मकथांग 1/5/50
7. वही 1/12/24
8. वही 1/16/15
9. वही 1/13/26, 1/5/45
10. वही 1/12/8
11. वही 1/12/16-20
12. जिणधम्मो, पृ. 420
13. ठाणांग 9/676
14. ज्ञाताधर्मकथांग 1/5/7,12, 1/19/5
15. वही 1/14/27,33, 1/16/66
16. वही 1/6/5
17. वही 1/5/20
18. जिणधम्मो, पृ. 83
19. ज्ञाताधर्मकथांग 1/5/24
20. वही 1/8/9
21. वही 1/14/37
22. वही 1/13/32
23. वही 1/5/24
24. वही 1/14/28
25. जिणधम्मो, पृ. 83
26. ज्ञाताधर्मकथांग 1/13/23
27. जिणधम्मो, पृ. 83
28. ज्ञाताधर्मकथांग 1/5/35
29. वही 1/15/12
30. गोम्मटसार (जीवकांड), गाथा-488
31. तत्त्वार्थवार्तिक 2/6वां सूत्र, वार्तिक सं. 8
32. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/175, 189, जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग-2, पृष्ठ 405
33. वही 1/16/10
34. मोक्षशास्त्र, पृ. 16
35. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/212
36. जिणधम्मो, पृ. 295
37. ज्ञाताधर्मकथांग 2/1/31
38. जैन तत्त्व विद्या (खण्ड-1), पृ. 21
39. तत्त्वार्थ सूत्र 2/39
40. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/141
41. वही 1/1/68-69
42. जैन तत्त्व विद्या (खण्ड-1), पृ. 21-22
43. समवायांग, सूत्र 152
44. ज्ञाताधर्मकथांग 1/16/29-32
45. वही 1/13/23
46. वही 1/16/30-33
47. वही 1/1/183
48. वही 1/1/183
49. वही 1/1/214
50. वही 1/8/162-163
51. वही 1/16/228
52. वही 1/2/52
53. वही 1/1/215
54. वही 1/8/22-23
55. वही 1/8/31
56. वही 1/9/58
57. वही 1/1/69
58. वही 1/16/175-178
59. वही 1/14/50-52
60. वही 1/3/4, 2/1/10
61. वही 1/1/203, 1/5/7
62. वही 1/8/26
63. वही 1/8/14
64. वही 1/5/12
65. समवायांग, सम.- 34
66. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/192
67. वही 1/5/7
68. वही 2/1/14
69. समयसार, 6-7
70. एवं खु पएसी अम्हं समणाणं समणाणं निग्गंथाणं पंचविहे नाणे पण्णत्ते, तंजहा-अभिणि बोहियनाणे, सुयनाणे, ओहिणाणे, मणपज्जवणाणे केवलणाणे।
-राजप्रश्नीय सूत्र-165

71. मति:स्मृति संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।
-तत्त्वार्थ सूत्र 1/13
72. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/15, 1/5/2,
73. वही 1/1/15
74. नन्दीसूत्र
75. 'अवगहीताविशेषकांक्षणमीहा'
-प्रमाणनयतत्त्वालोक- 2/8
76. ईहितविशेषनिर्णयोऽवाय:।
-प्रमाणमीमांसा- 1/1/28
77. समृतिहेतुर्धारणा:।
-प्रमाणमीमांसा 1/1/29
78. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/35
79. वही 1/1/15
80. वही 1/1/57
81. वही 1/5/28
82. वही 1/8/88
83. वही 1/8/33
84. जैन दर्शन-मनन और मीमांसा, पृ. 260
85. श्रीभिक्षु आगम विषय कोश, पृ. 275
86. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/175
87. वही 1/1/189
88. वही 1/14/53
89. वही 1/13/25-30
90. श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेक द्वादशभेदम्।
-तत्त्वार्थसूत्र 1/20
91. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/20-21
92. आवश्यक नियुक्ति, 17-19
93. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/10
94. वही 1/1/4
95. वही 1/5/25
96. वही 1/8/190
97. वही 1/19/5
98. वही 1/1/193
99. वही 1/12/29
100. वही 1/14/37
101. वही 1/16/220
102. वही 1/19/10
103. वही 2/1/24
104. रूपिष्ववधै:। -तत्त्वार्थसूत्र 1/28
105. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/68
106. वही 1/8/71
107. वही 1/8/164
108. वही 1/9/16,57
109. वही 1/13/4
110. वही 1/8/192
111. ऋजुविपुलमती मन:पर्याय:।
-तत्त्वार्थसूत्र, 1/24
112. वही 1/24
113. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/182
114. वही 1/8/192
115. सर्वद्रव्यपर्याययेषु केवलस्य।
-तत्त्वार्थसूत्र, 1/30
116. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/186
117. वही 1/1/154
118. वही 1/5/52
119. वही 1/5/58
120. वही 1/5/71
121. वही 1/14/54
122. वही 1/8/192
123. आचारांग टीका, पृ. 46
124. शिष्टाचरितो ज्ञानाद्योसेवनविधि:
-नंदी हारिभद्रीयवृत्ति, पृ. 75
125. तत्त्वार्थसूत्र 1/1
126. ज्ञाताधर्मकथांग 1/3/26
127. वही 1/13/9
128. वही 1/3/21
129. वही 1/1/183
130. वही 1/12/2
131. वही 1/12/24
132. वही 1/13/8, 9, 27
133. वही 1/5/29, 1/8/189, 1/13/8
134. वही 1/1/61
135. तत्त्वार्थसूत्र 7/24
136. 'ऊर्ध्वाधस्तिर्यगव्यतिक्रम क्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तर्धानानि' - तत्त्वार्थसूत्र 7/25

137. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 83
138. सर्वार्थसिद्धि 7/21, पृ. 280
139. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/66, 1/13/10
140. वही 1/1/66, 67
141. वही 1/13/10
142. वही 1/16/174
143. वही 1/1/70-72
144. वही 1/8/160
145. वही 1/13/16
146. वही 1/14/27
147. वही 1/16/67
148. वही 1/14/29
149. वही 1/16/67
150. वही 1/16/27-33
151. वही 1/14/33
152. वही 1/8/60-71
153. वही 1/12/23
154. वही 1/1/14
155. वही 1/8/71
156. वही 1/5/39
157. वही 1/8/189
158. वही 1/12/23
159. वही 1/13/8
160. वही 1/8/189
161. वही 1/14/57
162. वही 1/19/6
163. वही 1/8/189
164. वही 1/14/57
165. वही 1/16/68
166. वही 1/13/28
167. वही 1/1/113
168. वही 1/5/12
169. वही 1/2/9
170. वही 1/18/9
171. वही 1/1/118, 1/5/13, 1/8/166
172. वही 1/8/148, 1/16/219, 1/19/5
173. वही 1/1/128
174. वही 1/5/20
175. वही 1/1/123
176. वही 1/5/13
177. वही 1/1/120
178. वही 1/1/135
179. वही 1/5/15-23
180. वही 1/1/159, 1/5/24, 1/8/181
181. वही 1/1/140
182. वही 1/1/159
183. वही 1/5/51
184. वही 1/1/138
185. वही 1/14/33
186. वही 1/1/4,203, 1/2/50, 1/5/46
187. वही 1/2/53
188. वही 1/1/190-191
189. स्थानांग 6/41
190. उत्तराध्ययन 26/33-35
191. मूलाचार 6/60-61
192. ज्ञाताधर्मकथांग 1/18/43
193. वही 1/19/15
194. वही 1/1/129
195. वही 1/14/29, 1/19/27
196. वही 1/16/12
197. वही 1/16/13
198. "पञ्च महाव्रतस्थैर्यार्थ भावना: पञ्च-पञ्च" -तत्त्वार्थसूत्र 7/3
199. ज्ञाताधर्मकथांग 1/5/66
200. आचारांग 2/3
201. वही 2/3
202. दशवैकालिक 6/20
203. आचारांग 2/3
204. दशवैकालिक 3/2
205. वही 4/16
206. वही 8/28
207. उत्तराध्ययन 24/26
208. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/60
209. वही 1/1/60
210. वही 1/1/129
211. वही 1/16/13

212. वही 1/16/13
213. वही 1/16/13
214. (i) भगवती आराधना- 1194-1195
(ii) उत्तराध्ययन 24/4-13
215. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/191
216. वही 1/14/28
217. वही 1/1/192
218. वही 1/4/10
219. वही 1/9/56-57
220. वही 1/9/59
221. वही 1/17/29
222. वही 1/17/30
223. 'प्रतीयं क्रमणं प्रतिक्रमण् अयमर्थः शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमणात्प्रतीयं क्रमणम्' -योगशास्त्र, तृतीय प्रकाश, (स्वोज्ञवृत्ति) -पत्र 247
224. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/190, 210
225. वही 1/2/52
226. वही 1/5/52, 66, 71
227. वही 1/8/194
228. वही 1/14/37
229. वही 1/16/18,23
230. वही 1/18/42
231. वही 1/16/227,228
232. वही 1/19/29
233. वही 1/16/79, 2/1/30
234. पडिकमणं देसियं राइयं च
इत्तरियमावकहियंच।
पक्खियचाउम्मासिय संवच्छर उतिमट्ठेय।
-आवश्यक निर्युक्तिरेवचूर्णि (भाग-2)
गाथा-1261 पत्र सं. 62
235. ज्ञाताधर्मकथांग 1/5/66
236. 'अविरति स्वरूप प्रभृति प्रतिकूल तथा आ मर्यादया आकारकरणस्वरूपया आख्यानं-कथनं प्रत्याख्यानम्'
-प्रवचनसारोद्धारवृत्ति पत्र-43
237. ज्ञाताधर्मकथांग 1/13/32
238. (i) भगवती सूत्र 7/2
(ii) स्थानांगवृत्ति, पत्र 472, 473
(iii) आवश्यक निर्युक्ति, अ. 6
(iv) मूलाचार, गाथा- 140-141
239. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/154
240. वही 1/1/208
241. वही 1/1/208
242. वही 1/1/195-196
243. वही 1/8/15
244. वही 1/5/35
245. ओघनिर्युक्ति, गाथा 263
246. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/67
247. वही 1/1/204
248. वही 1/5/52
249. उत्तराध्ययन सूत्र- 26/23-24
250. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/192 (विवेचन)
251. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/13
252. वही 1/13/9
253. वही 1/16/72-74
254. वही 1/1/210
255. उत्तराध्ययन सूत्र 30/13
256. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/193
257. वही 1/1/198
258. वही 1/8/16-17
259. वही 1/8/19
260. वही 1/8/20
261. वही 1/5/59
262. वही 1/16/156
263. वही 1/14/29, 1/19/27
264. वही 1/1/198
265. वही 1/8/16-21
266. वही 1/1/199
267. वही 1/1/190
268. वही 1/1/196
269. वही 1/5/66-67
270. वही 1/5/67-68
271. (i) वही 1/1/161
(ii) उत्तराध्ययनसूत्र-29/20-24, 30/24
272. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/119

273. वही 1/1/208
274. वही 1/2/52
275. वही 1/5/52
276. वही 1/5/58
277. वही 1/8/22
278. वही 1/14/37
279. वही 1/16/18
280. वही 1/8/65
281. वही 1/13/32
282. वही 1/1/204, 1/5/52
283. तत्त्वार्थसूत्र 9/7
284. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1/122
285. वही 1/2/51
286. वही 1/5/17-20
287. वही 1/1/159
288. वही 1/8/9
289. वही 1/8/145-149
290. वही 1/14/49-52
291. वही 1/2/53
292. वही 1/1/159
293. वही 1/8/141
294. वही 1/16/11-18
295. वही 1/8/195
296. वही 1/14/45
297. वही 1/6/5-6
298. वही 1/1/164, 172, 187, 214, 217
299. वही 1/2/7, 52
300. वही 1/8/7, 25, 195
301. वही 1/13/7, 23, 33-34
302. वही 1/16/6, 29, 30, 34, 79, 81, 229
303. वही 2/1/13, 30, 33
304. वही 1/5/31-50
305. वही 1/8/110-116
306. वही 1/16/45

उपसंहार

पाश्चात्य और पौर्वात्य अनुसंधानकर्ता भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृति का मूल वेदों में निहारते थे पर मोहनजोदड़ो-हड़प्पा के ध्वंसावशेषों में प्राप्त सामग्री के पश्चात् चिन्तकों की चिन्तन-दिशा ही बदल गई और अब यह प्रमाणित हो चुका है कि श्रमण संस्कृति वैदिक संस्कृति से पृथक् है। वैदिक संस्कृति में ईश्वर को सृष्टि का निर्माता माना है, जबकि श्रमण परम्परा ने विश्व की संरचना में जड़ और चेतन इन दोनों को प्रधानता दी है। जड़ और चेतन ये दोनों तत्त्व ही सृष्टि के मूल कारण हैं। सृष्टि की कोई आदि नहीं है, वह तो अनादि है। चक्र की तरह वह सदा चलायमान रहती है।

विश्व के प्रत्येक धर्म और परम्परा में सृष्टिचक्र के विभिन्न पहलुओं का निरूपण पृथक्-पृथक् ग्रन्थों में प्रतिपादित किया गया है।

वैदिक-परम्परा में 'वेद', बौद्धों में 'त्रिपिटिक', ईसाइयों में 'बाइबिल', पारिसियों में 'अवेस्ता' और मुस्लिमों में 'कुरान' ऐसे ही पवित्र धर्म-ग्रन्थ हैं। इसी क्रम में जैन धर्मग्रंथों को 'आगम' कहा जाता है।

किसी भी रचना की शाश्वत प्रासंगिकता का निर्धारण उसमें सत्यांश के आधार पर ही किया जा सकता है। जो रचना सनातन सत्य के जितनी ज्यादा समीप होगी, उसकी प्रासंगिकता उतनी ही ज्यादा दीर्घजीवी होगी। सनातन सत्य से अनुप्राणित आगम 'ज्ञाताधर्मकथांग' इसी कारण आज भी जीवन की विविध सच्चाईयों को प्रकाशित कर रहा है। कथा प्रधान आगम होते हुए भी इसमें दर्शन, अर्थ, राजनीति, समाज, संस्कृति आदि विभिन्न विषयों को अनावृत किया गया है। कथाओं के माध्यम से यह आगम पाठक के हृदय को छूने में समर्थ है। इस दृष्टि से ज्ञाताधर्मकथांग में प्रयुक्त दृष्टान्त साध्य की सिद्धि के साधन बनकर सामने आते हैं।

अंगागमों में ज्ञाताधर्मकथांग का छठा स्थान है। इसमें उदाहरण प्रधान धर्मकथाएँ हैं। इन कथाओं में उन धीर-वीर साधकों का वर्णन है जो भयंकर उपसर्ग आने पर भी मेरु की भांति अडिग रहे। इसमें परिमित वाचनाएँ, अनुयोगद्धार, वेढ, छन्द, श्लोक, निर्युक्तियाँ, संग्रहणियाँ व प्रतिपत्तियाँ संख्यात-संख्यात हैं। इसके दो श्रुतसकंध हैं। प्रथम श्रुतस्कंध में उन्नीस अध्ययन हैं और द्वितीय श्रुतस्कंध में दस वर्ग हैं।

इस आगम में आत्म उन्नति का मार्ग, इस मार्ग के अवरोध और इन अवरोधों को दूर करने के उपायों की सांगोपांग चर्चा की गई है। महिला वर्ग द्वारा उत्कृष्ट आध्यात्मिक उत्कर्ष, आहार का उद्देश्य, संयमी जीवन, शुभ परिणाम, अनासक्ति व श्रद्धा का महत्व आदि विषयों पर कथाओं के माध्यम से प्रकाश डाला गया है।

इस आगम की भाषा क्लिष्ट, साहित्यिक व समास प्रधान है लेकिन विषय-वस्तु की सरल प्रस्तुति के कारण इस पर व्याख्याएँ बहुत कम लिखी गई हैं। अभयदेवसूरि ने इस ग्रंथ पर शब्दार्थ प्रधान वृत्ति संस्कृत भाषा में लिखी हैं। 3804 श्लोक प्रमाण वाली इस वृत्ति की प्रशस्ति से पता चलता है कि इसकी अनेक वाचनाएँ वृत्तिकार के समय प्रचलित थी।

लक्ष्मी कल्लोल गणि ने वि.सं. 1596 में ज्ञाताधर्मकथांग वृत्ति का निर्माण किया था। आधुनिक युग में श्री घासीलाल जी महाराज ने संस्कृत में सविस्तार टीका लिखी है। धर्मसिंह मुनि के लिखे टिब्बे भी मिलते हैं। आचार्य श्री अमोलक ऋषि व पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल के हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हैं। पं. बेचरदास दोशी का गुजराती छायानुवाद भी प्रकाशित हुआ है (ज्ञाताधर्मकथांग, मधुकरमुनि, भूमिका, पृ. 59)। इस ग्रंथ का राजस्थानी भाषा में अनुवाद 'ज्ञाता की जोड़' (आचार्य भिक्षु व जयाचार्य) नाम से किया गया है। आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा विरचित इसका सटिप्पण अनुवाद उपर्युक्त व्याख्या साहित्य से अनेक दृष्टियों से विशिष्ट है। इसमें ऐतिहासिक व पारम्परिक तथ्यों का वैज्ञानिक व मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है।

युवाचार्य मधुकर मुनि द्वारा सम्पादित 'ज्ञाताधर्मकथांग' की प्रस्तावना में वेद और आगम, ज्ञातासूत्र, परिचय, मेघकुमार व सौंदरनन्द की तुलना, राजगृह, स्वप्न, दोहद, कला-एक विश्लेषण, सिद्धि और भाषा, कथा परिचय, शकुन, व्याख्या साहित्य आदि के संदर्भ में विस्तार से विचार किया है। ज्ञाताधर्मकथांग का हिन्दी अनुवाद करते समय इस ग्रंथ में विशेष टिप्पणियाँ भी की गई हैं, जो पाठक को विषयवस्तु का तलस्पर्शी ज्ञान कराने में सहायक हैं।

कृतकार्यों के सर्वेक्षण से यह पता चलता है कि ज्ञाताधर्मकथांग को आधार बनाकर, विशेष रूप से इस संदर्भ में कोई शोध कार्य नहीं हुआ है, अतः ज्ञाताधर्मकथांग का सांस्कृतिक अध्ययन वांछनीय है।

आज हमारा चिन्तन व कर्म पाश्चात्य संस्कृति के रंग में रंगता जा रहा है,

फलतः प्राचीन धर्मग्रंथों में छिपे हुए शाश्वत मूल्यों और वस्तु सत्य को प्राचीन भाषा, शैली व अनुभूति सापेक्ष प्रयोगों से समझना कठिन व अरूचि उत्पादक कार्य हो गया है। अतः मुझे लगा कि आगमों के रहस्यों को उद्घाटित कर पाश्चात् संस्कृति से आई विकृतियों को दूर किया जाए। पाश्चात् संस्कृति ने जिस भौतिकवाद की प्रचण्ड आंधी को बढ़ावा दिया है उससे समाक्रांत भारतीय जन-जीवन के समक्ष अपने आगमिक सांस्कृतिक मूल्यों को प्रस्तुत करना आवश्यक है। अतः मैंने अपनी रूचि और क्षयोपक्षम के अनुरूप ज्ञाताधर्मकथांग को अपने शोध का विषय बनाया है। ज्ञाताधर्मकथांग की कथाओं में अन्तर्निहित सांस्कृतिक मूल्यों को जनभोग्य बनाना प्रस्तुत कृति की रचना का प्रमुख उद्देश्य है।

प्रस्तुत कृति को जैनागम, संस्कृति, भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीति, शिक्षा, कला, धर्म-दर्शन आदि विषयों पर आधारित पृथक्-पृथक् नौ अध्यायों में बाँटा है। अंत में उपसंहार के रूप में निष्पति को प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम अध्याय **'जैनागम और ज्ञाताधर्मकथांग'** में आगम शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ, परिभाषा और पर्यायवाची शब्दों का विवेचन कर जैनागम-परम्परा का संक्षिप्त निदर्शन प्रस्तुत किया गयाहै। आगम-परम्परा के अंतर्गत जैनागमों की पाटलीपुत्र, माथुरी, वल्लभी और देवर्धिगणि वाचनाओं का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् जैनागों की भाषा और विषय सामग्री बताते हुए श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के परिप्रेक्ष्य में आगम-वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है।

'आगम' शब्द 'आ' उपसर्गपूर्वक 'गम्' धातु में 'घञ' प्रत्यय लगने पर बनता है। परम्परा से प्राप्त सिद्धान्त और शब्द के अर्थ को आगम कहा गया है। इसीलिए आगमकार ने गुरु-परम्परा से जो चला आ रहा है, उसे आगम कहा है। आप्त वचन के लिए आगम शब्द प्रयुक्त हुआ है, अतः कोशकार ने शब्द अथवा शास्त्र को आगम की संज्ञा दी है।

इस अध्याय में जैन आगमों एवं व्याख्या ग्रंथों सहित प्राचीन ग्रंथों से आगम की लगभग तेरह परिभाषाओं का उल्लेख किया गया है, जो आगम को गत्यर्थक एवं ज्ञानात्मक सिद्ध करती है। भगवान महावीर ने ईसा पूर्व छठी शताब्दी में जनकल्याणार्थ जो उपदेश दिए उन्हें गणधरों ने गुंफित किया, वही गुंफित-संकलित रूप आज जैन आगमों के रूप में स्वीकार्य है।

इस अध्याय में ज्ञाताधर्मकथांग का द्वादशांगी में स्थान निर्धारण करने एवं इसके नामकरण पर विमर्श करने के साथ-साथ इसकी विषय सामग्री को भी प्रस्तुत किया गया है।

अंग-साहित्य में ज्ञाताधर्मकथांग का छठा स्थान है। इसके दो श्रुत स्कंध हैं। प्रथम श्रुतस्कंध में ज्ञात यानी उदाहरण और द्वितीय श्रुतस्कंध में धर्मकथाएँ हैं, अत: इस आगम को 'णायाधम्मकहाओ' कहा जाता है। आलोच्य ग्रंथ में उदाहरणों व कथाओं के माध्यम से आत्म उन्नति का मार्ग, इस मार्ग के अवरोध और इन अवरोधों को दूर करने के उपायोग की सांगोपांग चर्चा की गई है। ये कथाएँ वाद-विवाद का विषय न होकर के उत्थान के लिए हैं। इनमें अनुभव का अमृत है। यह अमृतपान इस कथासागर में गोते लगाकर ही किया जा सकता है।

आज पाश्चात्य अपसंस्कृति हमारी सनातन संस्कृति को दूषित कर रही है। प्राचीन संस्कृति की प्रस्तुति से प्रेरणा लेकर ही अपसंस्कृति से विमुख हुआ जा सकता है। ज्ञाताधर्मकथांग में तत्कालीन संस्कृति की महक मौजूद है। प्रस्तुत कृति के **'संस्कृति के तत्त्व एवं ज्ञाताधर्मकथांग'** नामक द्वितीय अध्याय में इसी महक को आम पाठक तक पहुँचाने का प्रयास किया गया है। ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित सामाजिक-जीवन, राज्यव्यवस्था, धार्मिक मतमतान्तर, आर्थिक जीवन, भौगोलिक स्थिति, शिक्षा, कला तथा विज्ञान आदि विषयों का संक्षिप्त विवेचन इस अध्याय में किया गया है। ज्ञाताधर्मकथांग में जहाँ सुखी पारिवारिक जीवन के सूत्र मिलते हैं, वहीं उत्तरदायी शासन व्यवस्था का उत्कर्ष भी दृष्टिगोचर होता है। समाज सेवा के विविध प्रसंग तत्कालीन संस्कृति को 'परहित सरिस धर्म नहीं भाई' की भावना के समीपस्थ प्रस्तुत करते हैं। कथाओं के माध्यम से जैन धर्म और दर्शन के विविध पहलुओं के साथ-साथ अन्य धर्मों एवं मतों के सम्बन्ध में भी संक्षिप्त जानकारी दी गई है। श्रेणिक, मेघकुमार, धन्यसार्थवाह, थावच्चागाथापत्नी, राजा जितशत्रु, द्रुपद राजा व काली रानी आदि के अपार वैभव से तत्कालीन आर्थिक स्थिति का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

इन कथाओं से स्पष्ट है कि गुरु-शिष्य सम्बन्ध तत्कालीन संस्कृति का उज्ज्वल पक्ष था। शिक्षा केवल सैद्धान्तिक ही नहीं व्यावहारिक भी थी। अमात्य सुबुद्धि द्वारा जलशुद्धि करवाने, मेघ द्वारा पूर्वभव में वन्य प्राणियों की रक्षा करने और धर्मरूचि अणगार द्वारा जहर के समान कटु तुम्बे का शाक उदरस्थ करने के प्रसंग तत्कालीन संस्कृति को 'अहिंसा परमोधर्म' से अनुप्राणित सिद्ध करने वाले

हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि तत्कालीन संस्कृति अपने शिखर पर थी। वह प्रत्येक प्राणी को जीवन के चरम लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए अभिप्रेरित करती थी।

शिक्षा, अर्थव्यवस्था, राजनैतिक व सामाजिक स्थिति आदि संस्कृति को प्रभावित करने वाले विभिन्न घटक भौगोलिक परिवेश से अप्रभावित नहीं रह सकते।

तत्कालीन भौगोलिक स्थिति से सम्बद्ध विभिन्न पहलुओं-द्वीप, नगर, पर्वत, नदियाँ, ग्राम, उद्यान, वन, वनस्पति आदि का उल्लेख **'ज्ञाताधर्मकथांग का भौगोलिक विश्लेषण'** नामक तृतीय अध्याय में किया गया है।

इस अध्याय में संसार, नरक, अधोलेक, देवलोक, जम्बूद्वीप, रत्नद्वीप, घातकीखण्ड, नन्दीश्वर द्वीप, कालिक द्वीप, महाविदेह व पूर्वविदेह आदि की भौगोलिक स्थिति को विभिन्न संदर्भों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है।

द्रोणमुख, पट्टन, पुटभेदन, कर्वट, खेट, मटम्ब, आकर, संवाह, आश्रम, निगम व सन्निवेश आदि विभिन्न प्रकार के स्थलों का संक्षिप्त विवेचन करते हुए राजगृह, चम्पा आदि महत्वपूर्ण नगरों की भौगोलिक स्थिति को इस अध्याय में प्रदर्शित किया गया है। नगरों का निर्माण वास्तुशास्त्र के आधार पर किया जाता था। नगर पूरी तरह योजनाबद्ध रूप से बनाए जाते थे। उस समय के भवनों आदि में विविध प्रकार के रत्न, मणियाँ, शंख, प्रवाल, मूंगा, मोती, स्वर्ण, रजत आदि का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता था। ज्ञाताधर्मकथांग में विभिन्न राजमहलों का उल्लेख आया है, उन्हीं के संदर्भ में भवन निर्माण कला का वर्णन करते हुए भवन के विभिन्न प्रमुख अंगों- द्वार, स्तम्भ, गर्भगृह, अगासी, अट्टालिका, प्रमदवन, मण्डप, उपस्थानशाला, दीर्घिका, अंत:पुर, शयनागार, स्नानागार, भोजनशाला, प्रसूतिगृह, भाण्डागार, श्रीगृह व चारकशाला आदि की स्थिति व्यक्त की गई है।

तत्कालीन समय में प्रचलित वास्तुशास्त्र की वर्तमान में प्रासंगिकता व प्रचलन बढ़ता जा रहा है। प्रकृति के वैभव व रम्य स्थलों से प्रेरणा लेकर पर्यावरण प्रदूषण की समस्या से निजात पाई जा सकती है।

संस्कृति और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। संस्कृति के बिना समाज अंधा है और समाज के बिना संस्कृति पंगु है। संस्कृति को जानने के लिए

तत्कालीन समाज की पारिवारिक स्थिति, रीति-रिवाज, संस्कार, खान-पान, रहन-सहन, वस्त्राभूषण और उत्सव-महोत्सवों से परिचित होना इष्ट है।

'ज्ञाताधर्मकथांग में सामाजिक जीवन' नामक चतुर्थ अध्याय में सामाजिक स्थिति से जुड़े विभिन्न पहलुओं को उजागर किया गया है। इस अध्याय में बतलाया गया है कि तत्कालीन परिवार में पति-पत्नी के अलावा माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री आदि रहते थे। सामान्यतः पारिवारिक सम्बन्ध मधुर थे। परिवार का मुखिया वयोवृद्ध सदस्य या पिता होता था और सब परिजन उसकी आज्ञा का पालन करते थे। उसकी पत्नी गृहस्वामिनी होती थी, जो परिवार के सभी क्रियाकलापों को नियंत्रित व संचालित करती थी।

सभ्य-शिष्ट व्यवहार एवं मधुर-संवाद उस युग के सामाजिक जीवन की विशेषता थी। सामाजिक शिष्टाचार में अतिथि-सत्कार को अत्यधिक महत्व दिया जाता था। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त विविध संस्कारों का विधान भारतीय संस्कृति में रहा है। जन्म, नामकरण, राज्याभिषेक, विवाह व दीक्षा आदि संस्कारों का वर्णन इस अध्याय में किया गया है।

ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित नारी जहाँ एक ओर अपने शीलाचार और सतीत्व के कारण पुरुष तो क्या देवताओं तक की आराध्या है लेकिन दूसरी तरफ वह व्यभिचारिणी स्त्री के रूप में प्रकट हुई है। वह साध्वी के रूप में मानव को आत्मकल्याण का पथ दिखलाती है तो गणिका के रूप में जनमानस के बीच कला की उपासिका बनकर उभरती है।

विभिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थ, वस्त्र, आभूषण, प्रसाधन, मनोरंजन के साधन, उत्सव-महोत्सव एवं लोक विश्वासों का चित्रण भी इस अध्याय में किया गया है।

समाज अप्रत्यक्ष रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्णों में विभक्त था। बहुपत्नीवाद, वेश्यावृत्ति, दहेजप्रथा, दासप्रथा, हत्या, अपहरण, लूटपाथ आदि बुराइयाँ समाज के भाल पर कलंक थी, वहीं दूसरी ओर समाज में प्रचलित आश्रम-व्यवस्था व्यक्ति को चरम लक्ष्य-मोक्ष की ओर बढ़ने के लिए अभिप्रेरित करती थी।

आज आधुनिकता की आड़ में हमारा पारिवारिक ढांचा चरमराने लगा है। सामाजिक सम्बन्धों के हार्द को ज्ञाताधर्मकथांग से ग्रहणकर स्वस्थ समाज की पुनर्स्थापना की जा सकती है। आधुनिक नारी के लिए थावच्चागाथापत्नी आदर्श

रूप में प्रदर्शित की गई है। उसकी प्रतिभा से प्रेरित हो नारी सामाजिक नेतृत्व की नई बुलंदिया छू सकती है।

'अर्थ' जीवन रक्त के समान है, इसके बिना सांस्कृतिक अभ्युत्थान की कल्पना नहीं की जा सकती है। प्रस्तुत कृति के **'ज्ञाताधर्मकथांग में आर्थिक जीवन'** नामक पंचम अध्याय में तत्कालीन अर्थव्यवस्था की दिशा और दशा का विश्लेषण किया गया है।

कृषि अर्थव्यवस्था की धुरी थी। कृषि पूर्णत: वैज्ञानिक ढंग से की जाती थी, लेकिन किसी प्रकार के रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग नहीं किया जाता था, जो स्वास्थ्य के प्रति उनकी जागरूकता का प्रमाण है। सिंचाई के साधन के रूप में पुष्करिणी, तालाब, सरोवर, बावड़ी आदि थे। चावल, सरसों, उड़द आदि मुख्य फसलें थी। कृषि, दूध, यातायात, चमड़ा और मांस के लिए पशु पाले जाते थे। अप्रत्यक्ष रूप में वस्त्र, धातु, बर्तन काष्ठ, चर्म, मद्य व प्रसाधन आदि उद्योगों का उल्लेख मिलता है। लोग शिल्पादि विभिन्न कलाओं के द्वारा भी अर्थोपार्जन करते थे। तत्कालीन समृद्धि के शिखर पुरुष-श्रेणिक, मेघ, जितशत्रुराजा, धन्यसार्थवाह, नन्दमणिकार आदि आधुनिक आर्थिक जगत् के आदर्श बन सकते हैं।

आधुनिक वित्त-व्यवसाय की भांति उस समय भी पूंजी के लेन-देन का व्यवसाय प्रचलन में था। देशी-व्यापार स्थलमार्ग से और विदेशी-व्यापार जलमार्ग से होता था। परिवहन के विभिन्न साधन- रथ, बैलगाड़ी, हाथी, घोड़ा, नौका, पोत, जलयान आदि थे। माप-तौल की प्रणालियों के रूप में गणिम, धरिम, मेय और परिच्छेद्य प्रचलन में थी। सिक्कों का चलन सीमित था। अधिकांश लेन-देन वस्तु विनिमय के माध्यम से होते थे।

राजनीतिक जीवन के विभिन्न पहलुओं को **'ज्ञाताधर्मकथांग में राजनैतिक स्थिति'** नामक षष्ठम अध्याय में उकेरा गया है। राज्य के सप्तांग के रूप में राज्य, राष्ट्रकोष, कोठार, बल (सेना), वाहन, पुर (नगर) और अन्त:पुर का नामोल्लेख मिलता है। राजा राज्य का सर्वेसर्वा होता था। राजा राज्योचित-गुण सम्पन्न थे। उनमें क्षत्रियोचित्त सभी गुण विद्यमान थे। राजा वंश परम्परा से ही बनते थे। राज्याभिषेक समारोह अत्यन्त भव्यता से मनाया जाता था। सामान्यत: ज्येष्ठ पुत्र को राजा बनाया जाता और कनिष्ठ पुत्र को युवराज बना दिया जाता था। यद्यपि राजव्यवस्था विकेन्द्रिय नहीं थी, लेकिन राज्य का संचालन करने के लिए राजा

अपने अनुचरों के रूप में अमात्य, सेनापति, श्रेष्ठी, लेखवाह, नगररक्षक, तलवर, दूत, कौटुम्बिक पुरुष, दास-दासियाँ व द्वारपाल आदि रखता था।

राजा और राज्य का अस्तित्व सैन्य संगठन के हाथ में सुरक्षित रहता है। चतुरंगिणी सेना, सेनापति, सारथी और वीर योद्धा में मुख्य भूमिका निभाते थे। धनुष, तलवार, भाला, मूसल आदि हथियार प्रचलन में थे।

राज्य के आय-स्रोत के रूप में चुंगी, कर, जुर्माना, ऋण आदि प्रचलन में थे। राज्य द्वारा अर्जित अधिकांश भाग राजकोष में जमा रहता था और कुछ धन सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर व्यय कर दिया जाता था।

उस समय के राजनेता आम जनता के सुख-दु:ख में सहभागी बनते थे। ऐतिहासिक पुरुष श्रीकृष्ण वासुदेव के अन्तर्मानस में अपनी जनता के प्रति लगाव था। एक साधारण महिला भी उनके पास आसानी से पहुँचकर अपनी व्यथा सुना सकती थी और वे प्रत्येक व्यक्ति की बात को शान्ति से सुनते और समस्या का समाधान करते थे। आज के राजनेता यदि इससे प्रेरणा ग्रहण करें तो राजनीति 'घृणित' कहलाने के कलंक से छुटकारा पा सकती है।

प्राचीन काल से मानव जीवन में शिक्षा का स्थान सर्वोपरि रहा है। **'ज्ञाताधर्मकथांग में शिक्षा'** नाम सप्तम अध्याय में शिक्षा से जुड़े विविध पहलुओं का संश्लेषण-विश्लेषण किया गया है।

बालक आठ वर्ष का होने पर ज्ञानार्जन के लिए गुरु के पास भेजा जाता था जहाँ वह बहत्तर कलाओं की शिक्षा प्राप्त करता था। शिक्षा के विषय मुख्यत: अध्यात्म केन्द्रित थे। इनके अलावा वास्तुशास्त्र, तर्कशास्त्र, दर्शनशास्त्र, संगीत, चित्रकला, वाणिज्यशास्त्र आदि विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। शिक्षण की वैज्ञानिक शैली के पाँच अंग थे- वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय तथा धर्मोपदेश। शिक्षण को रोचक बनाने के लिए कथाओं का सहारा लिया जाता था। समाज में गुरु का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण था। गुरु ज्ञानवान, ओजस्वी, निर्लोभी व चारित्र सम्पन्न होते थे। विनयवान, तपस्वी, शरीर के प्रति अनासक्त व ब्रह्मचारी शिष्य गुरु की सेवा में सदैव तत्पर रहते थे।

गुरु-शिष्य के सम्बन्धों पर ही टिकी है सफल शिक्षण व्यवस्था की नींव। भारतीय संस्कृति में गुरु को गोविन्द से बड़ा बताया गया है। गुरु ही शिष्य को भवसागर से पार लगाते हैं। महावीर-मेघ और शैलक-पंथक जैसे प्रसंग क्रमश:

वात्सल्य व समर्पण के प्रतिमान है। जहाँ एक ओर गुरु शिष्य को डूबने से बचाता है, वहीं दूसरी ओर शिष्य गुरु को अपनी गरिमा का भान करवाता है। वर्तमान शिक्षा जगत में यदि इस प्रकार के सम्बन्धों की बयार चलने लगे तो सांस्कृतिक मूल्यों की फसल पुनः हरी-भरी हो सकती है।

'ज्ञाताधर्मकथांग में कला' नामक अष्टम अध्याय में बहत्तर कलाओं का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। उत्सव-महोत्सव आदि के अवसर पर नर-नारी अपनी कलाओं का प्रदर्शन कर लोगों का मनोरंजन करते थे। लोग सौन्दर्य प्रेमी थे, अतः प्रसाधन से जुड़ी विभिन्न कलाएँ भी प्रचलन में थी। पुष्करिणी, प्रासाद, चित्रसभा, भोजनशाला, मार्ग, नगर आदि का उल्लेख वास्तुकला के अस्तित्व को प्रमाणित करता है। उस समय के लोग युद्ध कला में भी पारंगत थे। देवदत्ता गणिका चौंसठ कलाओं में निपुण थी।

वर्तमान शिक्षण पाठ्यक्रम में कलाओं का समावेश अवश्य किया गया है लेकिन सिर्फ पुस्तकों में ही। उन्हें प्रयोग की भूमि उपलब्ध नहीं करवाई जाती परिणामस्वरूप ऐसी 'कला' विद्यार्थी के लिए बोझ बनकर रह जाती है। यदि इन कलाओं को प्रायोगिक धरातल उपलब्ध करवाया जाए तो व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों दोनों का विकास होगा, तभी शिक्षा जगत में चमत्कृति पैदा होगी।

तत्कालीन कलाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि संस्कृति में कलाओं की प्रधानता थी। लोगों का जीवन कलाओं से अनुप्राणित होने के कारण सरस था।

प्रस्तुत कृति का नवम अध्याय **'ज्ञाताधर्मकथांग में प्रतिपादित धर्म-दर्शन'**, दार्शनिक मूल्यांकन से सम्बन्धित है।

ज्ञाताधर्मकथांग में जैन दर्शन के सिद्धान्तों का विवेचन स्वतंत्र एवं पृथक् में दृष्टिगोचर नहीं होता है लेकिन विभिन्न प्रसंगों में अप्रत्यक्ष रूप से तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, आचारमीमांसा और कर्ममीमांसा का उल्लेख मिलता है।

ग्रंथ में जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष का उल्लेख प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में हुआ है। ग्रंथ में अधिकांश पात्र श्रमणोपासक के रूप में चित्रित किए गए हैं, अतः उनके जीवन में अनेकान्तिक दृष्टिकोण दृष्टिगोचर होता है। इन तत्त्वों के अलावा लेश्या, कषाय, पर्याप्ति, शरीर, गति आदि का विवेचन भी इस अध्याय में किया गया है। मनुष्यों द्वारा देवों से सम्पर्क

तथा तीर्थंकर का स्वरूप भी इसी अध्याय में विवेचित है।

ज्ञानमीमांसा के रूप में पाँचों ज्ञानों का संक्षिप्त विवेचन करते हुए जातिस्मृति ज्ञान की व्याख्या भी ज्ञाताधर्मकथांग के विशेष संदर्भ में की गई है।

नवम अध्याय के तृतीय उपशीर्षक 'आचार मीमांसा' में श्रावकाचार के रूप में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत रूपी बारह व्रतों का उल्लेख किया गया है। इस उपशीर्षक में श्रमणोपासक श्रावक की चर्चा करते हुए उसे आध्यात्मिक ऊँचाइयों की ओर बढ़ते हुए दर्शाया गया है। साथ ही श्रमणाचार की कठोर चर्या के रूप में दीक्षा, वस्त्र, आहार, निवास, पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, षडावश्यक, बाईस परीषह, बारह भिक्षु प्रतिमाएँ, प्रतिलेखन, ब्रह्मचर्य की नववाड़, शल्य, तप व उसके भेद, अनुप्रेक्षा आदि का संक्षिप्त विवेचन इसमें किया गया है।

कर्ममीमांसा का सांगोपांग चित्रण तुम्बे के उदाहरण द्वारा किया गया है। पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को भी कर्म के संदर्भ में व्याख्यायित किया गया है। इस अध्याय में जैनेत्तर धर्म-दर्शन की भी कतिपय विवेचना की गई है।

प्रस्तुत कृति इस विषयक मेरे द्वारा विद्या वाचस्पति की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का प्रकाशन है। प्रस्तुत ग्रंथ प्राचीन भारतीय संस्कृति के सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक, राजनैतिक, शैक्षिक, कला, भौगोलिक व आर्थिक अवदानों को स्पष्ट कर सकेगा, जिससे हमारी पुरातन और सनातन संस्कृति को नवजीवन मिलेगा। यदि प्रस्तुत कृति से प्रेरणा पाकर इस जगत का एक कदम भी हमारी सांस्कृतिक विरासत के सरंक्षण-संवर्द्धन की दिशा में आगे बढ़ता है तो मैं अपने प्रयास को सफल मानूंगी।

संदर्भ ग्रंथ सूची

क्र.सं.	ग्रंथ	लेखक/संपादक	प्रकाशक
1.	अर्थववेद (खण्ड-1,2)	पं. श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली (उ.प्र.), सन् 1969
2.	अभिधान शाकुन्तलम् (कालिदास)	नारायण बालकृष्ण गोडबोल	तुकाराम जावजी, निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई
3.	अभिधान चिन्तामणि (हेमचन्द्राचार्य)	पं. हरगोविन्द शास्त्री	चोखम्बा विद्या भवन, बनारस, सन् 1964
4.	अमरकोश (अमरसिंह)	पं. विश्वनाथ झा	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् 1991
5.	अमृत मंथन (विद्या मार्तण्ड)	डॉ. मंगलदेव शास्त्री	चौखम्बा विद्या भवन, बनारस, सन् 1956
6.	अनुत्तरोपपातिकदशा	युवाचार्य श्री मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सन् 1990
7.	अनुयोगद्वार चूर्णि (हारिभद्रीयवृत्ति)	आचार्य हरिभद्र	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वे. संस्था, रतलाम, सन् 1928
8.	अनुयोगद्वार सूत्र	अमोलक ऋषि सहाय	ज्वालाप्रसाद जौहरी, हैदराबाद, वीर सं. 2446
9.	अष्टाध्यायी (भाष्य) तृतीय भाग	कृ. प्रज्ञादेवी	रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत, हरियाणा, सन् 1989
10.	आचारांग चूर्णि	श्री जिनदास गणि	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वे. संस्था, सन् 1941
11.	आचारांग टीका	शीलंकाचार्य	सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, सूरत, 1935
12.	आचारांग निर्युक्ति	आ. भद्रबाहु	आगमोदय समिति, बम्बई, 1916
13.	आचारांग सूत्र (भाग-1, 2)	युवाचार्य श्री मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, वि.सं. 2046
14.	आचारांग सूत्र	शोभाचन्द भारिल्ल	श्री अमोलक जैन ज्ञानालय, धूलिया, सन् 1960
15.	आदर्श हिन्दी शब्दकोश (भार्गव)	पं. रामचन्द्र पाठक	भार्गव बुक डिपो, वाराणसी, 1994
16.	आदिपुराण (जिनसेनाचार्य) भाग 1, 2, 3	पं. पन्नालाल साहित्याचार्य	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, संस्करण1963,1988,1993

17.	आदि पुराण में प्रतिपादित भारत	नेमीचन्द शास्त्री	श्री गणेश प्रसाद वर्णी ग्रंथमाला, वाराणसी, 1968
18.	आपस्तम्बधर्मसूत्र	डॉ. उमेशचन्द्र पाण्डेय	चौखम्भा, संस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1969
19.	आयारो तह आयारचूला	आचार्य तुलसी, मुनि नथमल	जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा (आगम साहित्य प्रकाशन समिति), कलकत्ता, 1967
20.	आवश्यकचूर्णि (भाग 1,2)	जिनदास गणि महत्तर	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, 1929
21.	आवश्यक टीका	मलयगिरि	आगमोदय समिति, बम्बई, 1928
22.	आवश्यक निर्युक्ति (आ.भद्रबाहु)	श्रीमद् विजयकर्पूर सूरिश्वर	लाखाबावल-शन्तिपुरी, सौराष्ट्र, 1989
23.	आवश्यक निर्युक्तिरेवचूर्णि (आ.श्री भद्रबाहु)	हरिभद्रसूरि	मोतीचन्द मगनभाई चोकसी मुम्बई, 1965
24.	आवश्यकवृत्ति (आ. भद्रबाहु)	(1) मलयगिरि, (2) हरिभद्र	आगमोदय समिति, मुम्बई, 1928
25.	आवश्यकसूत्र	युवाचार्य श्री मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
26.	उत्तर पुराण (आ. गुणभद्र)	पं. पन्नालाल जैन	भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1968
27.	उत्तराध्ययन-एक समीक्षात्मक अध्ययन	आचार्य तुलसी, मुनि नथमल	जैन श्वे. तेरापंथी महासभा, आगम साहित्य प्रकाशन समिति, कलकत्ता, 1968
28.	उत्तराध्ययन सूत्र	युवाचार्य श्री मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1991
29.	उत्तराध्ययन सूत्र टीका	आ. शांत्याचार्य	देवचन्द्र लालभाई जैन, पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई, 1917
30.	उपनिषद् भाष्यम् (खण्ड-1) मुण्डकोपनिषद्	एस. सुब्रह्मण्यम शास्त्री	महेश अनुसंधान संस्थान, माउण्ट आबू, 1979
31.	उपासकदशांग और उसका श्रावकाचार (एक परिशीलन)	डॉ. सुभाष कोठारी	आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर
32.	उवासगदसाओ	युवाचार्य श्री मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सन् 1989
33.	ऋग्वेद (चतुर्थ खण्ड)	पं. श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली (उ.प्र.), 1969

34.	ऋषभदेव : एक परिशीलन	आचार्य देवेन्द्र मुनि	श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर, संस्करण-2001
35.	एक बूंद : एक सागर (खण्ड 4)	समणी कुसुमप्रज्ञा	जैन विश्वभारती प्रकाशन, लाडनूं, 1991
36.	ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर	आचार्य श्री हस्तीमल जी	जैन इतिहास समिति, आचार्य श्री विनचन्द्र ज्ञान भण्डार, जयपुर, 1971
37.	ओघनिर्युक्ति भाष्य (आ. भद्रबाहु)	द्रोणाचार्य वृत्ति	आगमोदय समिति, मुम्बई, 1919
38.	औपपातिक सूत्र	युवाचार्य श्री मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
39.	अंगसुत्ताणि	आचार्य तुलसी, युवाचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती, लाडनूं, वि.सं. 2031
40.	अंतकृतदशांग	युवाचार्य श्री मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1981
41.	अंतगडदसाओ	व्या. आचार्य श्री नानेश	श्री अ.भा.सा. जैन संघ, समता भवन, बीकानेर, 1999
42.	कठोपनिषद् (भाग-1)	शांकर भाष्य	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, संस्करण-1991
43.	कल्पसूत्र	श्री पुष्करमुनिजी महाराज श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री	श्री अमर जैन आगम शोध संस्थान, सिवाना, 1968
44.	कल्पसूत्र सुखबोधिका टीका (आ. भद्रबाहु)	उपाध्याय श्रीमद् विनयविजयगणि	नगीन भाई थेलाभाई जवेरी, संस्करण-1911
45.	कला एवं साहित्य : प्रवृत्ति और परम्परा	प्रो. विश्वनाथ प्रसाद	बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी सम्मेलन भवन, पटना
46.	कषाय पाहुड़ (गुणधराचार्य)	पं. फूलचन्द्र, पं. महेन्द्रकुमार पं. कैलाशचन्द	भा.दि. जैन संघ ग्रंन्थमाला, चौरासी, मथुरा
47.	कादम्बरी (बाणभट्ट)	पं. श्री कृष्णमोहन शास्त्री	चौखम्भा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी, 1971
48.	कादम्बरी: एक सांस्कृतिक अध्ययन	डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल	चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, संस्करण-1988
49.	काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध	जयशंकर प्रसाद	भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, संवत. 2026
50.	कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन	डॉ. प्रेमसमुन जैन	प्राकृत जैन शास्त्र एवं अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली, 1975
51.	कौटिल्य अर्थशास्त्र	डॉ. वाचस्पति गैरोला	चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, सन. 1977

52.	गाँधी के शैक्षिक विचार		राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद्, नई दिल्ली, संस्करण-1999
53.	गोम्मटसार (जीवकांड)	नेमीचन्द सिद्धान्त चक्रवर्ती	श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, आगास, वि.सं. 2041
54.	छान्दोग्योपनिषद् (उपनिषद्भाष्यम्) खण्ड-2	श्रीमद् महेशानन्दगिरि	महेश अनुसंधान संस्थान, वाराणसी, 1982
55.	जंबूदीव पण्णत्ति संगहो	प्रो. आ.ने. उपाध्ये प्रो. हीरालाल जैन अनु.- पं. बालचन्द्र	श्री गुलाबचन्द हिराचन्द दोशी, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 1958
56.	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति	युवाचार्य श्री मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
57.	जातक (खण्ड 2,3,4)	भदन्त आनन्द कौसल्यायन	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, इलाहाबाद, संस्करण-1985, 1971, 1982, 1990
58.	जिणधम्मो	आचार्य श्री नानेश	श्री अ.भा.सा. जैन श्रावक संघ, समता भवन, बीकानेर
59.	जीवन्धर चम्पु (महाकवि हरिश्चन्द्र)	पं. पन्नालाल जैन	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, संस्करण-1958
60.	जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा	श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री	श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर, संस्करण 1977
61.	जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज	जगदीशचन्द्र जैन	चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1951, 1965
62.	जैन अंगशास्त्र के अनुसार मानव व्यक्तित्व का विकास	हरीन्द्रभूषण जैन	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा संस्करण-1974
63.	जैन तत्त्व विद्या	आचार्य तुलसी	आदर्श साहित्य संघ, चूरू, 1991
64.	जैन तत्त्व विद्या	मुनि प्रमाण सागर	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण-2002
65.	जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन	डॉ. शिवप्रसाद	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1991
66.	जैन दर्शन और मनन-मीमांसा	आचार्य महाप्रज्ञ	आदर्श साहित्य संघ, चूरू, 1995
67.	जैन दर्शन का आदिकाल	दलसुख मालवणिया	लालभाई दलपतभाई, भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद, 1980
68.	जैन धर्म	श्री राजेन्द्रमुनि शास्त्री	श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर, वि.सं. 2038

69.	जैन धर्म का प्राचीन इतिहास (भाग 1)	बलभद्र जैन	मैसर्स केशरीचन्द्र श्रीचन्द्र चावलवाले, नया बाजार, दिल्ली, वीर नि. सं. 2500
70.	जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन	देवीप्रसाद मिश्र	हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, सन् 1988
71.	जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश	जिनेन्द्रवर्णी	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1998
72.	जैमीनि सूत्र	शबर की टीका	
73.	ज्ञाताधर्मकथांग	युवाचार्य श्री मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, वीर नि.सं. 2516
74.	ज्ञाताधर्मकथांग (नवांगी टीका)	अभयदेवसूरि	श्री सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, मुम्बई, सन् 1952
75.	ज्ञाताधर्मकथांगसूत्रम (व्याख्या)	घासीलाल जी महाराज	अ.भा.श्वे.स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, वि.सं. 2020
76.	तत्त्वार्थ भाष्य (उमास्वाति)	पं. खूबचन्द्र जी	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, आगरा, 1992
77.	तत्त्वार्थ सूत्र राजवार्तिक (भट्टाकलंक विरचित)	मुनि महेन्द्रकुमार	भारतीय ज्ञानपीठ, संस्करण-1990
78.	तत्त्वार्थ सूत्र, (आचार्य उमास्वाति विरचित)	पं. सुखलाल संघवी	जैन संस्कृति संशोधन मंडल हिन्दू वि.वि., बनारस, संस्करण-1952
79.	तत्त्वार्थ सूत्र, श्रुतसागरीवृत्ति	महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण-2002
80.	तैत्तरीयोपनिषद् (शांकरभाष्य सहित)		गीताप्रेस, गोरखपुर, वि.सं. 2040
81.	त्रिलोक भास्कर (आर्यिका ज्ञानमति)	सं. मोतीचन्द्र रवीन्द्रकुमार जैन	दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर (मेरठ), संस्करण-1974
82.	त्रिलोकसार (नेमीचन्द सिद्धान्त चक्रवर्ती विरचित) (हिन्दी टीका-आर्यिका श्री विशुद्धमति माताजी)	सिद्धान्तभूषण ब्र.रतनचंद जैन	श्री शान्तिवीर दिगम्बर जैन संस्थान, श्रीमहावीरजी, वीर नि.सं. 2501
83.	त्रिषष्टीशलाका पुरुष चरित्र (भाग-1,2,3) (आचार्य हेमचन्द्र)	अनु.एच.एस. जॉनसन	जैन धर्म प्रचारिणी सभा, भावनगर, बम्बई, वि.सं. 1965
84.	थेरगाथा	एन.के. भागवत	बम्बई विश्वविद्यालय, बम्बई, सन् 1939
85.	दशवैकालिक (आ. श्री भद्रबाहु)	हारिभद्रीय वृत्ति	जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई, 1974

86.	दशवैकालिक- एक समीक्षात्मक	आचार्य तुलसी, मुनि नथमल	जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, संस्करण-वि.सं. 2023
87.	दशवैकालिक निर्युक्ति (श्री भद्रबाहु स्वामी विरचित)	श्री हर्ष विजय	देवचन्द लालभाई जैन, पुस्तकोद्धार भण्डागार संस्था, बम्बई, सन् 1918
88.	दशवैकालिक सूत्र	युवाचार्य श्री मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, संस्करण-1993
89.	धम्मपद-अट्ठकथा	धर्म रक्षित	खेलाड़ी लाल एण्ड सन्स, बनारस, 1953
90.	धर्म-दर्शन	लक्ष्मी सिन्हा	ईस्टर्न बुक लिंकर्स, जवाहर नगर, दिल्ली, संस्करण-1998
91.	धर्म दर्शन की रूपरेखा	डी.आर. जाटव	मलिक एण्ड कम्पनी, चौड़ा रास्ता, जयपुर
92.	धर्मशास्त्रों से न्याय व्यवस्था का स्वरूप	शशि कश्यप	न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन, दिल्ली, संस्करण-2001
93.	धवला (आचार्य वीरसेन)	हीरालाल जैन	सितावराय लखमीचन्द जैन साहित्य फण्ड, अमरावती
94.	ध्वन्यालोक लोचना कौमुदी	आनन्दवर्धनाचार्य	मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1963
95.	नन्दीचूर्णि (जिनदास महत्तर)	मुनि श्री पुण्यविजय	प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी, 1966
96.	नंदी (वृत्ति)	मलयगिरि	आगमोदय समिति, सूरत, 1917
97.	नंदी हारिभ्रदीय वृत्ति	हरिभद्र	रूपचन्द्र नवमल, इन्दौर
98.	नंदीसूत्र	युवाचार्य श्री मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1991
99.	नाट्यशास्त्र (भरत विरचित)	बटुकनाथ शर्मा	बनारस, 1929
100.	नायाधम्मकहाओ	आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती, लाडनूं, 2003
101.	नियमसार	आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य	श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, बापूनगर, जयपुर, सन् 1984
102.	निर्युक्ति संग्रह (भद्रबाहु स्वामी)	श्री विजयामृत सूरिश्वर	श्री हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रंथमाला, लाखाबावल, शांतिपुरी (सौराष्ट्र) संस्करण-1989
103.	निरूक्त कोश	आचार्य तुलसी युवाचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती, लाडनूं संस्करण-1984

104.	निशीथ चूर्णि	जिनदासगणि	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1960
105.	निशीथसूत्रम्	उपाध्याय अमर मुनि मुनि श्री कन्हैयालाल 'कमल'	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1962
106.	न्याय दीपिका	पं. दरबारीलाल जैन	वीर सेवा मंदिर, दरियागंज, दिल्ली, 1968
107.	न्याय सूत्र (गौतम ऋषि)	श्री नारायण मिश्र	चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1970
108.	पंचास्तिकाय	कुन्दकुन्दाचार्य	साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग, जयपुर, 1990
109.	पंचास्तिकाय (तात्पर्यवृत्ति), (आचार्य कुन्दकुन्द)	अनु.- पन्नालाल जैन	श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद् रामचन्द्र आश्रम, आगास, 1986
110.	पतंजलिकालीन भारत	प्रभुदयाल अग्निहोत्री	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, 2019
111.	पद्मचरित और उसमें प्रतिपादित संस्कृति	रमेशचन्द्र जैन	श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा, केन्द्रीय ग्रंथागार, कोटा, संस्करण-1983
112.	पद्मपुराण (भाग 1,2,3)	पं. पन्नालाल जैन	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, संस्करण-1959
113.	परीक्षामुख	बैजनाथ जैन	खेमचन्द सर्राफ, शहजानंद शास्त्रमाला मेरठ, सन् 1969
114.	पाइअ-सद्द-महण्णवो	पं. हरगोविन्द सेठ	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
115.	पाण्डव पुराणम् (श्री शुभचन्द्राचार्य)	ए.एन. उपाध्ये, हीरालाल जैन	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, संस्करण-1954
116.	पाणिनि अष्टाध्यायी सूत्रपाठ	पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु	रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत-हरियाणा), सन् 1989
117.	पाणिनि अष्टाध्यायी सूत्रपाठ	पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु	रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, सन् 1989
118.	पाणिनिकालीन भारतवर्ष (अष्टाध्यायी का सांस्कृतिक अध्ययन)	वासुदेवशरण अग्रवाल	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1996
119.	पालि-अंग्रेजी कोश	T.W. Rhys Davids William Stede	Motilal Banarsidass, Publishers Pvt. Ltd. Delhi, 1993
120.	पालि-हिन्दी कोश	भदन्त आनंद कौशल्यापन	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-1975
121.	पौराणिक धर्म एवं समाज	सिद्धेश्वरीनारायण राय	सुखदेवराज कालिया पंचनद पब्लिकेशंस, इलाहाबाद, संस्करण-1968

122.	प्रज्ञापना सूत्र	युवाचार्य श्री मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1995
123.	प्रमाणनय तत्त्वालोक (वादिदेवसूरि)	अनु. शोभाचन्द्र भारिल्ल	आत्म जागृति कार्यालय, श्री जैन गुरुकुल शिक्षण संघ, ब्यावर, संस्करण-1942
124.	प्रमाण मीमांसा (हेमचन्द्राचार्य)	पं. सुखलाल संघवी	संचालक- सिंधी जैन ग्रंथमाला, अहमदाबाद, 1939
125.	प्रवचनसारोद्धारवृत्ति	नेमिचन्द्रसूरि	निर्णयसागर यंत्रालय, मुम्बई, 1922
126.	प्रश्न व्याकरण	अनु. पं. श्री शोभाचन्द्र भारिल्ल	श्री अमोल जैन ज्ञानालय, धुलिया, 1988
127.	प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	पं. नेमिचन्द शास्त्री	तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी, 1988
128.	प्राचीन पालि साहित्य में भारतीय समाज	डॉ. कृष्णकांन्त त्रिवेदी	किशोर विद्या निकेतन, भदैनी, वाराणसी, 1987
129.	प्राचीन भारत का इतिहास	डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी	नंदकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बनारस संस्करण 1951
130.	प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास	डॉ. जयशंकर मिश्र	बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, प्रेमचन्द मार्ग, पटना, संस्करण-1986
131.	प्राचीन भारतीय वेशभूषा	मोतीचन्द्र	भारती भंडार, प्रयाग संस्करण-2007
132.	प्राचीन भारतीय संस्कृति कोश	हरदेव बाहरी	विद्या प्रकाशन मन्दिर, नई दिल्ली
133.	प्राकृत साहित्य का इतिहास	डॉ. जगदीशचन्द्र जैन	चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1985
134.	प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका	डॉ. रामजी उपाध्याय	इलाहाबाद, 1966
135.	बुद्धचरितम् (अश्वघोष विरचित)	महंत श्री रामचन्द्रदास शास्त्री	चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1993
136.	बृहत्कल्प भाष्य (संघदासगणि)	मुनि पुण्यविजय	आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर, 1933
137.	बौद्धयुगीन भारत (राष्ट्रीय संगोष्ठी शोध लेख संग्रह)	डॉ. सीताराम दुबे	डॉ. राधेश्याम शुक्ल प्रतिभा प्रकाशन, शक्तिनगर, दिल्ली
138.	बौधायनधर्मसूत्रम्	डॉ. नरेन्द्रकुमारा आचार्य	विद्यानिधि प्रकाशन दिल्ली, संस्करण-1999
139.	ब्रह्माण्ड पुराण	महर्षि वेदव्यास	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1913

140.	भगवती आराधना (आ. शिवार्य)	पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 1990
141.	भगवती आराधना (आ. शिवार्य) विजयोदया टीका	आ. श्री अपराजित सूरि पं. कैलाशचन्द	बा.ब्र. श्री हीरालाल खुशालचंद दोसी, 1990
142.	भगवती सूत्र	युवाचार्य श्री मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
143.	भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण : एक अनुशीलन	आ. देवेन्द्र मुनि	श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर, 2001
144.	भगवान महावीर : एक अनुशीलन	श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री	श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर, 1974
145.	भगवान महावीर नी धर्मकथाओं	पं. बेचरदास	गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, 1950
146.	भागवत पुराण		गीताप्रेस, गोरखपुर, 1953
147.	भारत कोश	सुरेशचन्द्र बन्द्योपाध्याय	
148.	भारतीय शिक्षा का समाजशास्त्र	सत्यपाल रूहेला	राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, संस्करण-1983
149.	भारतीय समाज एवं संस्कृति	एम.एल. गुप्ता, डी.डी. शर्मा	
150.	भारतीय समाज व संस्कृति	रविन्द्रनाथ मुखर्जी	विवेक प्रकाशन जवाहर नगर, दिल्ली, 1987
151.	भारतीय समाज व सामाजिक संस्थाएँ	एम.एल. शर्मा, डी.डी. शर्मा	
152.	भारतीय संस्कृति	प्रीतिप्रभा गोयल	राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर
153.	भारतीय संस्कृति	बलदेवप्रसाद मिश्र	रामनाराण लाल बेनीमाघ, संस्करण-1968
154.	भारतीय संस्कृति और कला	वाचस्पति गैरोला	उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1985
155.	भारतीय संस्कृति का इतिहास	आ. चतुरसेन	मेरठ, 1958
156.	भारतीय संस्कृति का विकास	कालुराम शर्मा, प्रकाश व्यास	पंचशील प्रकाशन, जयपुर, संस्करण-1997
157.	भारतीय संस्कृति कोश	लीलाधर शर्मा	राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, संस्करण-1996
158.	भारतीय संस्कृति का विकास	सत्यकेतु विद्यालंकार	श्री सरस्वती सदन, सफदरगंज एनक्लेव, नई दिल्ली, संस्करण-1996
159.	भारतीय संस्कृति के मूल आधार	एम.एस. मंडोत एस.पी.एस. सैन	परितोषवर्धन जैन कॉलेज बुक सेन्टर, जयपुर
160.	भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व	डॉ. सुखबीर सिंह	रतिराम शास्त्री साहित्य भण्डार, मेरठ
161.	भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान	हीरालाल जैन	मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, 1962

162.	महापुराण (जिनसेन)	पन्नालाल जैन	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
163.	महाभारतकालीन समाज	सुखमय भट्टाचार्य अनु. पुष्पा जैन	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1966
164.	महावग्ग	जगदीश कश्यप	बिहार राजकीय पालि प्रकाशन मण्डल, सन् 1956
165.	महाभारत	पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर	बसंत श्रीपाद सातवलेकर स्वाध्याय मंडल, पारडी, गुजरात, संस्करण- 1968, 1969, 1975, 1977, 1979 एवं 1980
166.	मज्झिमनिकाय	राहुल सांस्कृत्यायन	महाबोधि सभा, सारनाथ, संस्करण-1933
167.	मत्स्यपुराण (महर्षि वेदव्यास)	श्री जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य	गुरु मण्डल ग्रंथमाला, कलकत्ता, 1954
168.	मनुस्मृति	पं. रामतेज पाण्डेय	पण्डित पुस्तकालय, काशी, वि.संवत् 2004
169.	मानक हिन्दी कोश (प्रथम खण्ड)	रामचन्द्र वर्मा	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, वि.सं. 2019
170.	मानव और संस्कृति	श्यामचरण दुबे	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1998
171.	मानव संस्कृति	भगवानदास केला	दारागंज, इलाहाबाद, 1953
172.	मानसोल्लास (भाग-1 से 3)	सोमेश्वर दत्त	बड़ौदा, 1939
173.	मार्कण्डेय पुराण	पं. श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान, बरेली (उ.प्र.), सन. 1967
174.	मालविकाग्निमित्रम् (प्रथम अंक)	कालिदास	बम्बई संस्कृत सीरिज, 1889
175.	मूलाचार (आ. वट्टेकर)	अनु. मनोहरलाल	अनन्तकीर्ति ग्रंथमाला, मुम्बई
176.	मैं : मेरा मन : मेरी शांति	आचार्य महाप्रज्ञ	आदर्श साहित्य संघ, चूरू
177.	मोक्षशास्त्र (आ. उमास्वाति)	पन्नालाल बाकलीवाल	मदनलाल मोहनलाल बाकलीवाल जैन ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, वि.सं. 1996
178.	यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन	गोकुलचन्द्र जैन	सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, 1967
179.	याज्ञवल्क्य स्मृति (भाग 1, 2) (अपरार्क)	हरिनारायण आप्टे	आनन्द आश्रम मुद्रणालय, 1903
180.	योगशास्त्र (स्वोपज्ञवृत्ति)	हेमचन्द्राचार्य डॉ.अमृतलाल कांतिदास दोसी	जैन साहित्य विकास मंडल मुम्बई, वि.सं. 2025

181.	योगशास्त्र प्रकाश (हेमचंद्राचार्य)	मुनि श्री यशोभद्र विजय	श्री विजय वल्लभ मिशन, लुधियाना (पंजाब), 1985
182.	रघुवंशम् (कालिदास) (मल्लिनाथकृत संजीवनी टीकया)	नारायणराम आचार्य	निर्णयसागर मुद्रणालय, मुम्बई, सं. 1948
183.	रत्नाकरावतारिका (भाग-2) (श्री रत्नप्रभाचार्य)	पं. दलसुख मालवणिया	लालभाई दलपतभाई, भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद, 1968
184.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	पं. उग्रसेन जैन	मंत्री, जैन मित्र मण्डल, धर्मपुरा, दिल्ली, 1940
185.	राजस्थानी भाषा साहित्य संस्कृति	कल्याणसिंह शेखावत	राजस्थानी ग्रंथागार, जोधुर, संस्करण-1989
186.	रामायण (वाल्मीकि)	अनु. पं. रामनारायण दत्त शास्त्री 'राम'	गीताप्रेस, गोरखपुर, संस्करण-2024
187.	रामायणकालीन संस्कृति	शान्तिकुमारा नानूराम व्यास	सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, संस्करण-1971
188.	रायपसेणीयसुत्तं	पं. बेचरदास जीवराज दोशी	गुर्जर ग्रंथ रत्न कार्यालय, अहमदाबाद, वि.सं.1994
189.	वर्ण, जाति और धर्म	पं. फूलचन्द शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1989
190.	वाचस्पत्यम्	श्री तारानाथ तर्क वाचस्पति	चौखम्भा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी, 1969
191.	वायुपुराण (भाग-1, 2)	पं. श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान, बरेली (उ.प्र.) संस्करण-1969
192.	विचार और वितर्क	हजारी प्रसाद द्विवेदी	
193.	विपाकसूत्र	युवाचार्य श्री मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
194.	विनयपिटक	अनु. राहुल सांकृत्यायन	महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, सन् 1935
195.	विविध तीर्थकल्प (श्री जिनप्रभसूरि रचित)	अनु. अगरचंद भंवरलाल नाहटा	श्री जैन श्वे. नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर, सन् 1978
196.	विश्व के प्रमुख धर्म	एस.एल. नागौरी, कांता नागौरी	श्रीमती किरण परनामी, राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर
197.	विशेषावश्यक भाष्य (जिनदास गणि क्षमाश्रमण)	दलसुखभाई मालवणिया	भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद
198.	विष्णुपुराण (भाग 1,2)	पं. श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेदनगर), बरेली, 1969
199.	वृहत्कथा कोश	आचार्य रविषेण	

200.	वृहत् हिन्दी पर्यायवाची शब्दकोश	गोविन्द चातक	तक्षशिला प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, सन् 1985
201.	वृहदारण्यकोपनिषद्	श्री एस. सुब्रह्मण्यम शास्त्री	महेश अनुसंधान परिषद्, ज्ञानपुर, 1998
202.	वेदों में राजनीतिशास्त्र	डॉ. कपिलदेव द्विवेदी	विश्वभारती अनुसंधान परिषद्, ज्ञानपुर, 1998
203.	व्यवहार भाष्य (भद्रबाहु स्वामी)	गणाधिपति तुलसी आचार्य महाप्रज्ञ समणी कुसुमप्रज्ञा	जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं, सन् 1999
204.	व्यवहार सूत्र	मुनि श्री अमोलक ऋषि	सुखदेवसहाय जी, ज्वाला प्रसाद जी जौहरी, सिकंदराबाद, वी.सं. 2446
205.	व्याकरण महाभाष्य (पतञ्जलि)	अनु.- चारूदेव शास्त्री	नरेन्द्र प्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, संस्करण-2000
206.	व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र (भाग-1 से 3)	युवाचार्य श्री मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, संस्करण-1991
207.	शतपथ ब्राह्मण	बंशीधर शास्त्री	अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय, काशी, संस्करण-1997
208.	शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त	गोविन्द त्रिगुणायत	
209.	शिक्षा और समाज	डॉ. मनोजकुमार सिंह	आदित्य पब्लिशर्स, बीना (म.प्र.), संस्करण-2000
210.	शिक्षा और संस्कृति	जैनेन्द्र कुमार ललित शुक्ल	समानान्तर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1983
211.	शिक्षा की आवश्यकताएँ	डॉ. नरेश कुमार	विक्रम प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1999
212.	शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि	लक्ष्मीलाल के. ओड़	राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, संस्करण-1990
213.	शिक्षा के मूल सिद्धान्त	डॉ. रामशकल पाण्डेय	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, संस्करण-1986
214.	शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त	जी.एस.डी. त्यागी	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, संस्करण-1991
215.	शिक्षा विचार (विनोबा भावे)	मीरा भट्ट	सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, सन् 1991
216.	शिक्षाशास्त्र	डॉ. वैद्यनाथ प्रसाद वर्मा	बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, सन् 1975

217.	शुकरहस्योपनिषद्		गीताप्रेस गोरखपुर
218.	शुक्रनीतिसार (शुक्राचार्य)	स्वामी जगदीश्वरानंद सरस्वती	ऋषिदेवी रूपलाल कपूर धर्मार्थ ट्रस्ट, बहालगढ़, हरियाणा, संस्करण 1983
219.	श्री कल्पसूत्रम् (भद्रबाहु स्वामी)	समयसुन्दर गणि विरचित कल्पलता व्याख्याया	श्री जिनदत्तसूरि ज्ञान भंडार, मुम्बई, संस्करण-1939
220.	श्री दशवैकालिक सूत्र (टीकाकार-उपा. श्री आत्मारामजी महाराज)	अमरचन्द्र जी महाराज	सेठ ज्वालाप्रसाद माणकचंद जैन जौहरी, महेन्द्रगढ़ (पटियाला) संवत् 1989
221.	श्री भिक्षु आगम विषय कोश	आचार्य तुलसी,आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं, 1996
222.	श्रीमद् भागवद् गीता	श्री मधुसुदन सरस्वती डॉ. मदनमोहन अग्रवाल	चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1996
223.	श्रीमद् भागवत का सांस्कृतिक अध्ययन	जवाहरलाल शर्मा	राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1984
224.	श्रीमद् ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र	शोभाचन्द्र भारिल्ल	श्री तिलोक रत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर), सन् 1964
225.	श्री विष्णु पुराण (प्रथम खण्ड)	पं. श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली (उ.प्र), संस्करण-1969
226.	श्रीसिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुसानम् (प्रथम खण्ड)	हेमचन्द्राचार्य	श्री अमृत जैन साहित्यवर्धक सभा, मुम्बई, 1969
227.	श्री सूत्रकृतांगचूर्णि	श्री जिनदास गणि	मोहनलाल मगनलाल बादामी, संस्करण-1941
228.	संयुक्त निकाय	अनु. भिक्षु जगदीश कश्यप	महाबोधि सभा, सारनाथ, संस्करण-1954
229.	संस्कृत धातुकोश	युधिष्ठर मीमांसक	रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (हरियाणा), वि.सं. 2046
230.	संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ	द्वारकाप्रसाद शर्मा पं. तारिणीश झा	रामनारायणलाल, बेनीप्रसाद, इलाहाबाद, संस्करण 1975
231.	संस्कृत हिन्दी कोश	शिवराम वामन आप्टे	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, संस्करण-1981
232.	संस्कृति के चार अध्याय	रामधारीसिंह दिनकर	उदयाचल, पटना, संस्करण-1970

233.	सप्तभंगीतरंगिणी (विमलदास)	ठाकुर प्रसाद शर्मा	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, आगास, वि.सं. 2033
234.	सभाष्य तत्त्वार्थधिगमसूत्र (उमास्वाति)	पं. खूबचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री	आ. व्यवस्थापक परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल, झवेरी बाजार, मुंबई, 1932
235.	समयसार (कुन्दकुन्दाचार्य)	गणिनी 105 आर्यकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी	दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर (मेरठ), 1990
236.	समराइच्चकहा (आ. हरिभद्रसूरि)	डॉ. रमेशचन्द्र जैन	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण-1993
237.	समवायांग	युवाचार्य श्री मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1991
238.	समाचारी शतक	समयसुन्दरीगणि विरचित	जिनदत्त सूरि ज्ञान भण्डार, जव्हेरी मूलचन्द हीराचन्द, बम्बई, सन् 1939
239.	समाज दर्शन की भूमिका	जगदीशसहाय श्रीवास्तव	
240.	समाजशास्त्र	सत्यकेतु विद्यालंकार	श्री सरस्वती सदन, सफदरजंग एनक्लेव, नई दिल्ली, 1997
241.	समाधि तंत्र-इष्टोपदेश टीका	श्री अकलंक देव	शान्तिसागर जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, श्रीमहावीरजी, संस्करण-वीर सं. 2494
242.	समीक्षा शास्त्र	सीताराम चतुर्वेदी	कृष्णादास अकादमी, वाराणसी, संस्करण-1983
243.	सर्वार्थसिद्धि (आ. पूज्यपाद)	पं. फूलचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण-1991
244.	सांख्यकारिका (माठर वृत्ति)	धानेशचन्द्र	चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1990
245.	सांस्कृतिक चेतना और जैन पत्रकारिता	डॉ. संजीव भानावत	सिद्ध श्री प्रकाशन तिलकनगर, जयपुर, 1990
246.	सागार धर्मामृत	आशाधर	माणकचन्द दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, मुम्बई
247.	सामायिक सूत्र	अमरमुनि उपाध्याय	सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी, आगरा, संस्करण-1969
248.	साहित्य और संस्कृति	देवेन्द्र मुनि शास्त्री	भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण-1970

249.	साहित्य का श्रेय और प्रेय	जैनेन्द्र कुमार	पूर्वोदय प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली, सन् 1961
250.	साहित्य तरंग	सद्गुरुशरण अवस्थी	
251.	सुत्तनिपात	भिक्षु धर्मरत्न	महाबोधि सभा, सारनाथ, सन् 1957
252.	सूत्रकृतांगचूर्णि	जिनदास महत्तर	श्री ऋषभदेवजी केशरमल जी, श्वेताम्बर संस्था, रतलाम
253.	सोसायटी	मेकाइवर एण्ड पेज	लन्दन, 1962
254.	स्थानांग सूत्र	युवाचार्य श्री मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, संस्करण-1992
255.	स्मृति संदर्भ (प्रथम भाग)	मन्महर्षि	गुरुमण्डल ग्रंथमाला, कलकत्ता, संस्करण-वि.सं. 2009
256.	स्याद्वाद मंजरी टीका	मल्लिषेणसूरि	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, मुम्बई, 1935
257.	स्वतंत्रता और संस्कृति	सर्वपल्ली राधाकृष्णन्	
258.	हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली (भाग-9, निबंध)	हजारी प्रसाद द्विवेदी	राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. नई दिल्ली, संस्करण-1981
259.	हमारी परम्परा	वियोगी हरि	सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, संस्करण 1967
260.	हरिभद्र साहित्य में समाज एवं संस्कृति	कमल जैन	पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी, 1994
261.	हरिवंश पुराण (आ. जिनसेन)	पं. पन्नालाल जैन	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, संस्करण-1962
262.	हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन	राममूर्ति चौधरी	सुलभ प्रकाशन, लखनऊ, संस्करण-1989
263.	हर्षचरित-एक सांस्कृतिक अध्ययन	वासुदेवशरण अग्रवाल	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, संस्करण-1964
264.	हर्षचरित् (बाणभट्ट)	श्री मोहनदेवपंत	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् 1984
265.	हिन्दी विश्वकोश	धीरेन्द्र वर्मा	नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
266.	हिन्दी विश्वकोश	रामप्रसाद त्रिपाठी	नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
267.	हिन्दी विश्वकोश	सुधाकर पांडेय	नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

268.	हिन्दी साहित्य कोश (भाग-1) पारिभाषिक शब्दावली	धीरेन्द्र वर्मा	ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, संस्करण-1985
269.	हिन्दू धर्म कोश	राजबली पाण्डेय	उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, हिन्दी समिति प्रभाग, लखनऊ, संस्करण-1988
270.	हिन्दू धर्म : जीवन में सनातन की खोज	विद्यानिवास मिश्र	राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, संस्करण-1991
271.	हिन्दू संस्कार	राजबली पाण्डेय	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, संस्करण-1985
272.	हेमशब्दानुसान (श्री सिद्ध हेमचन्द)	आचार्य श्री चन्द्रसागर सुरिवर्य	श्री ऋषभदेवजी छगनीराम जी, पेढी, उज्जैन, वि.सं. 2007
273.	एज्यूकेशन इन एनसिएंट इण्डिया	अल्तेकर	बनारस, 1948
274.	International Encyclopedia of the social sciences, volume III, IV	David L. Sills	The Macmillan Co. & Teh Free Press, New York
275.	लाईफ इन ऐंशियंट इण्डिया एज डिपिक्टेड इन केनन्स	डॉ. जदीशचन्द्र	बम्बई, 1947
276.	Man is th Primitive World	E.A. Hocbel	
277.	Primitive Culture	E.P. Tayler	
278.	The Ancient Geography of India	Cunninghan	Calcutta, 1924
279.	व्हाट इस आर्ट	टाल्सटॉय	लन्दन, 1946

संस्थान-परिचय

आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान आचार्य श्री नानालाल जी म.सा. के 1981 के उदयपुर वर्षावास की स्मृति में जनवरी 1983 में स्थापित किया गया। संस्थान का मुख्य उद्देश्य जैन विद्या एवं प्राकृत के विद्वान तैयार करना, अप्रकाशित जैन साहित्य का प्रकाशन करना, जैन विद्या में रुचि रखने वाले विद्यार्थियों को अध्ययन की सुविधा प्रदान करना, जैन संस्कृति की सुरक्षा के लिए जैन आचार दर्शन और इतिहास पर वैज्ञानिक संस्करण तैयार कर प्रकाशित करवाना एवं जैन विद्या-प्रसार की दृष्टि से संगोष्ठियाँ, भाषण, समारोह आयोजित करना है। यह संस्थान श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ की एक मुख्य प्रवृत्ति है।

संस्थान राजस्थान सोसायटीज एक्ट 1958 के अंतर्गत रजिस्टर्ड है एवं संस्थान को अनुदान रुप में दी गयी धनराशि पर आयकर अधिनियम की धारा 80जी के अंतर्गत छूट प्राप्त है।

जैन धर्म और संस्कृति के इस पुनीत कार्य में आप इस प्रकार सहयोगी बन सकते हैं-

1. व्यक्ति या संस्थान एक लाख रुपया या इससे अधिक देकर परम संरक्षक सदस्य बन सकते हैं। ऐसे सदस्यों का नाम अनुदान तिथि क्रम से संस्थान के लैटरपेड पर दर्शाया जाता है।
2. 51,000/- रुपया देकर संरक्षक सदस्य बन सकते हैं।
3. 25,000/- रुपया देकर हितैषी सदस्य बन सकते हैं।
4. 11,000/- रुपया देकर सहायक सदस्य बन सकते हैं।
5. 1,000/- रुपया देकर साधारण सदस्य बन सकते हैं।
6. संघ, ट्रस्ट, बोर्ड, सोसायटी आदि जो संस्था एक साथ 20,000/- रुपये का अनुदान प्रदान करती है वह संस्थान परिषद् की संस्था सदस्य होगी।
7. अपने बुजुर्गों की स्मृति में भवन-निर्माण हेतु व अन्य आवश्यक यंत्रादि हेतु अनुदान देकर आप इसकी सहयता कर सकते हैं।
8. अपने घर पर पड़ी प्राचीन पाण्डुलिपियाँ, आगम साहित्य व अन्य उपयोगी साहित्य को प्रदान कर सकते हैं।

आपका यह सहयोग ज्ञान-साधना के रथ को प्रगति के पथ पर अग्रसर करेगा।

मुद्रक : न्यू युनाइटेड प्रिन्टर्स, उदयपुर फोन : 098280 75628